www.vitragvani.com

ॐ

परमात्मने नमः

मानव जीवन का महान कर्तव्य

सम्यग्दर्शन

(भाग-1)

परम उपकारी पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के प्रवचनों में से सम्यग्दर्शन सम्बन्धी विभिन्न लेखों का संग्रह

गुजराती संकलन :
ब्रह्मचारी हरिलाल जैन
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

हिन्दी अनुवाद :
श्री मगनलाल जैन

सम्पादन :
पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन
बिजौलियां, जिला भीलवाड़ा (राज०)

प्रकाशक :

श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट
302, कृष्णकुंज, प्लॉट नं. 30, नवयुग सी.एच.एस.लि., वी.एल. मेहता मार्ग,
विलेपार्ले (वेस्ट), मुम्बई-400056; फोन : (022) 26130820

सह-प्रकाशक :

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)-364250; फोन : 02846-244334

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

प्रथम संस्करण : 1000 प्रतियाँ

न्यौछावर राशि :

प्राप्ति स्थान :

1. **श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट,**
   सोनगढ़ (सौराष्ट्र) – 364250, फोन : 02846-244334
2. **श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट**
   302, कृष्णकुंज, प्लॉट नं. 30, वी. एल. महेता मार्ग, विलेपार्ले (वेस्ट),
   मुम्बई-400056, फोन (022) 26130820 Email - vitragva@vsnl.com
3. **श्री आदिनाथ-कुन्दकुन्द-कहान दिगम्बर जैन ट्रस्ट (मंगलायतन)**
   अलीगढ़-आगरा मार्ग, सासनी-204216 (उ.प्र.)
   फोन : 09997996346, 2410010/11
4. **पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट,**
   ए-4, बापूनगर, जयपुर, राजस्थान-302015, फोन : (0141) 2707458
5. **पूज्य श्री कानजीस्वामी स्मारक ट्रस्ट,**
   कहान नगर, लाम रोड, देवलाली-422401, फोन : (0253) 2491044
6. **श्री परमागम प्रकाशन समिति**
   श्री परमागम श्रावक ट्रस्ट, सिद्धक्षेत्र, सोनागिरजी, दतिया (म.प्र.)
7. **श्री सीमन्धर-कुन्दकुन्द-कहान आध्यात्मिक ट्रस्ट**
   योगी निकेतन प्लाट, 'स्वरुचि' सवाणी होलनी शेरीमां,
   निर्मला कोन्वेन्ट रोड, राजकोट-360007
   फोन : (0281) 2477728, मो. 09374100508

टाईप-सेटिंग : **विवेक कम्प्यूटर्स,** अलीगढ़

मुद्रक :

प्रकाशकीय

यह एक निर्विवाद सत्य है कि विश्व का प्रत्येक प्राणी सुख चाहता है एवं निरन्तर उसी के लिए यत्नशील भी है; तथापि यह भी सत्य है कि अनादि से आज तक के पराश्रित प्रयत्नों में जीव को सुख की उपलब्धि नहीं हुई है।

धार्मिक क्षेत्र में आकर इस जीव ने धर्म के नाम पर प्रचलित अनेक प्रकार के क्रियाकाण्ड-व्रत, तप, नियम, संयम इत्यादि अङ्गीकार करके भी सुख को प्राप्त नहीं किया है। यही कारण है कि वीतरागी जिनेन्द्र परमात्मा की सातिशय वाणी एवं तत्मार्गानुसारी वीतरागी सन्तों की असीम अनुकम्पा से सुखी होने के उपाय के रूप में पर्याप्त दशानिर्देश हुआ है।

वीतरागी परमात्मा ने कहा कि मिथ्यात्व ही एकमात्र दुःख का मूल कारण है और सम्यग्दर्शन ही दुःख निवृत्ति का मूल है। मिथ्यात्व अर्थात् प्राप्त शरीर एवं पराश्रित विकारी वृत्तियों में अपनत्व का अभिप्राय /इसके विपरीत, सम्यग्दर्शन अर्थात् निज शुद्ध-ध्रुव चैतन्यसत्ता की स्वानुभवयुक्त प्रतीति।

इस वर्तमान विषमकाल में यह सुख-प्राप्ति का मूलमार्ग प्रायः विलुप्त -सा हो गया था, किन्तु भव्य जीवों के महान भाग्योदय से, वीतरागी प्रभु के लघुनन्दन एवं वीतरागी सन्तों के **परम उपासक अध्यात्ममूर्ति पूज्य सद्गुरुदेवश्री कानजीस्वामी** का इस भारत की वसुधा पर अवतरण हुआ। आपश्री की सातिशय दिव्यवाणी ने भव्य जीवों को झकझोर दिया एवं क्रियाकाण्ड की काली कारा में कैद इस विशुद्ध आध्यात्मिक दर्शन का एक बार पुनरोद्धार किया।

आपश्री की सातिशय अध्यात्मवाणी के पावन प्रवाह को झेलकर उसे रिकार्डिंग किया गया जो आज सी.डी., डी.वी.डी. के रूप में उपलब्ध है। साथ ही आपश्री के प्रवचनों के पुस्तकाकार प्रकाशन भी लाखों की संख्या में उपलब्ध है, जो शाश्वत् सुख का दिग्दर्शन कराने में उत्कृष्ट निमित्तभूत है। इस उपकार हेतु पूज्यश्री के चरणों में कोटिश नमन करते हैं।

इस अवसर पर मुमुक्षु समाज के विशिष्ट उपकारी **प्रशममूर्ति पूज्य बहिनश्री चम्पाबेन** के प्रति अपने अहो भाव व्यक्त करते हुए अत्यन्त प्रसन्नता है।

प्रस्तुत ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद श्री मगनलाल जैन एवं सम्पादन पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन, बिजौलियाँ (राज.) द्वारा किया गया है।

जिन भगवन्तों एवं वीतरागी सन्तों के हार्द को स्पष्ट करनेवाले आपके प्रवचन ग्रन्थों की शृंखला में ब्रह्मचारी हरिलाल जैन, सोनगढ़ द्वारा संकलित प्रस्तुत '**मानव-जीवन का महान कर्तव्य-सम्यग्दर्शन भाग-1**' प्रस्तुत करते हुए हम प्रसन्नता का अनुभव कर रहे हैं।

सभी आत्मार्थी इस ग्रन्थ के द्वारा निज हित साधें — यही भावना है।

निवेदक

ट्रस्टीगण,

श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट, मुम्बई

एवं

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़

निवेदन

संसार में मनुष्यत्व दुर्लभ है, मनुष्यभव अनन्तकाल में प्राप्त होता है, किन्तु सम्यग्दर्शन तो इससे भी अनन्तगुना दुर्लभ है। मनुष्यत्व अनन्तबार प्राप्त हुआ है, किन्तु सम्यग्दर्शन पहले कभी प्राप्त नहीं किया। मनुष्यत्व प्राप्त करके भी जीव पुन: संसार में परिभ्रमण करता है किन्तु सम्यग्दर्शन तो ऐसी वस्तु है कि यदि एकबार भी उसे प्राप्त कर ले तो जीव का अवश्य मोक्ष हो जाए। इसलिए मनुष्यभव की अपेक्षा भी अनन्तगुना दुर्लभ — ऐसे सम्यग्दर्शन की प्राप्ति का प्रयत्न करना ही इस दुर्लभ मानव-जीवन का महान कर्त्तव्य है। सम्यग्दर्शन के बिना सच्चा जैनत्व नहीं होता। यह सम्यग्दर्शन महान दुर्लभ और अपूर्व वस्तु होने पर भी वह अशक्य नहीं है, सत्समागम द्वारा आत्म स्वभाव का प्रयत्न करे तो वह सहज वस्तु है, वह आत्मा की अपने घर की वस्तु है।

इस काल में इस भरतक्षेत्र में ऐसे सम्यग्दर्शनधारी महात्माओं की अत्यन्त ही विरलता है; तथापि अभी बिल्कुल अभाव नहीं है। इस समय भी खारे जल के समुद्र में मीठे कुएँ की भाँति सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा इस भूमि में विचर रहे हैं। ऐसे एक पवित्र महात्मा पूज्य श्री कानजीस्वामी अपने स्वानुभवपूर्वक भव्य जीवों को सम्यग्दर्शन का स्वरूप समझा रहे हैं, उनके साक्षात् समागम में रहकर सम्यग्दर्शन की परम महिमा और उसकी प्राप्ति के उपाय का श्रवण करना यह मानव-जीवन की कृतार्थता है। पूज्य स्वामीजी अपने कल्याणकारी उपदेश द्वारा सम्यग्दर्शन का जो स्वरूप समझा रहे हैं, उसका एक अत्यन्त ही अल्प अंश यहाँ दिया गया है।

जिज्ञासु जीव एक बात विशेष लक्ष में रखें कि सम्यग्दर्शन प्रगट होने के पहले देशनालब्धि अवश्य होती है। छह द्रव्य और नव पदार्थों के उपदेश का नाम देशना है और ऐसी देशना से परिणत आचार्य आदि की उपलब्धि तथा उनके द्वारा उपदिष्ट अर्थ के श्रवण-ग्रहण-धारण और विचारणा के शक्ति के समागम को देशनालब्धि कहते हैं। (देखो, षटखण्डागम पुस्तक 6 पृष्ठ 204)। सत्यरुचि पूर्वक सम्यग्ज्ञानी के निकट से उपदेश का साक्षात् श्रवण किए बिना देशनालब्धि नहीं हो सकती। इसलिए जिसे सम्यग्दर्शन प्रगट करके इस संसार के जन्म-मरण से छूटना हो, पुनः नई माता के पेट में बन्दी न होना हो उसे सत्समागम का सेवन करके देशनालब्धि प्रगट करना चाहिए। एक क्षणभर का सम्यग्दर्शन करके देशनालब्धि प्रगट करना चाहिए। एक क्षणभर का सम्यग्दर्शन जीव के अनन्त भवों का नाश करके उसे भव-समुद्र से पार ले जाता है, और आत्मिक-सुख का स्वाद चखाता है।

जिज्ञासु जीवो! इस सम्यक्त्व की दिव्य महिमा को समझो और सत्समागम से उस कल्याणकारी सम्यक्त्व को प्राप्त करके इस भवसमुद्र से पार होओ! —यही इस मानव जीवन का महान कर्त्तव्य है।

वीर सं. 2487

रामजी माणेकचन्द दोशी

प्रमुख

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर,

सोनगढ़

अध्यात्मयुगसृष्टा पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी

(संक्षिप्त जीवनवृत्त)

भारतदेश के सौराष्ट्र प्रान्त में, बलभीपुर के समीप समागत 'उमराला' गाँव में स्थानकवासी सम्प्रदाय के दशाश्रीमाली वणिक परिवार के श्रेष्ठीवर्य श्री मोतीचन्दभाई के घर, माता उजमबा की कूख से विक्रम संवत् 1946 के वैशाख शुक्ल दूज, रविवार (दिनाङ्क 21 अप्रैल 1890 – ईस्वी) प्रात:काल इन बाल महात्मा का जन्म हुआ।

जिस समय यह बाल महात्मा इस वसुधा पर पधारे, उस समय जैन समाज का जीवन अन्ध-विश्वास, रूढ़ि, अन्धश्रद्धा, पाखण्ड, और शुष्क क्रियाकाण्ड में फँस रहा था। जहाँ कहीं भी आध्यात्मिक चिन्तन चलता था, उस चिन्तन में अध्यात्म होता ही नहीं था। ऐसे इस अन्धकारमय कलिकाल में तेजस्वी कहानसूर्य का उदय हुआ।

पिताश्री ने सात वर्ष की लघुवय में लौकिक शिक्षा हेतु विद्यालय में प्रवेश दिलाया। प्रत्येक वस्तु के हार्द तक पहुँचने की तेजस्वी बुद्धि, प्रतिभा, मधुरभाषी, शान्तस्वभावी, सौम्य गम्भीर मुखमुद्रा, तथा स्वयं कुछ करने के स्वभाववाले होने से बाल 'कानजी' शिक्षकों तथा विद्यार्थियों में लोकप्रिय हो गये। विद्यालय और जैन पाठशाला के अभ्यास में प्राय: प्रथम नम्बर आता था, किन्तु विद्यालय की लौकिक शिक्षा से उन्हें सन्तोष नहीं होता था। अन्दर ही अन्दर ऐसा लगता था कि मैं जिसकी खोज में हूँ, वह यह नहीं है।

तेरह वर्ष की उम्र में छह कक्षा उत्तीर्ण होने के पश्चात्, पिताजी के साथ उनके व्यवसाय के कारण पालेज जाना हुआ, और चार वर्ष बाद पिताजी के स्वर्गवास के कारण, सत्रह वर्ष की उम्र में भागीदार के साथ व्यवसायिक प्रवृत्ति में जुड़ना हुआ।

व्यवसाय की प्रवृत्ति के समय भी आप अप्रमाणिकता से अत्यन्त दूर थे, सत्यनिष्ठा, नैतिज्ञता, निखालिसता और निर्दोषता से सुगन्धित आपका

व्यावहारिक जीवन था। साथ ही आन्तरिक व्यापार और झुकाव तो सतत् सत्य की शोध में ही संलग्न था। दुकान पर भी धार्मिक पुस्तकें पढ़ते थे। वैरागी चित्तवाले कहानकुँवर कभी रात्रि को रामलीला या नाटक देखने जाते तो उसमें से वैराग्यरस का घोलन करते थे। जिसके फलस्वरूप पहली बार सत्रह वर्ष की उम्र में पूर्व की आराधना के संस्कार और मङ्गलमय उज्ज्वल भविष्य की अभिव्यक्ति करता हुआ, बारह लाईन का काव्य इस प्रकार रच जाता है —

शिवरमणी रमनार तूं, तूं ही देवनो देव।

उन्नीस वर्ष की उम्र से तो रात्रि का आहार, जल, तथा अचार का त्याग कर दिया था।

सत्य की शोध के लिए दीक्षा लेने के भाव से 22 वर्ष की युवा अवस्था में दुकान का परित्याग करके, गुरु के समक्ष आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत अंगीकार कर लिया और 24 वर्ष की उम्र में (अगहन शुक्ल 9, संवत् 1970) के दिन छोटे से उमराला गाँव में 2000 साधर्मियों के विशाल जनसमुदाय की उपस्थिति में स्थानकवासी सम्प्रदाय की दीक्षा अंगीकार कर ली। दीक्षा के समय हाथी पर चढ़ते हुए धोती फट जाने से तीक्ष्ण बुद्धि के धारक – इन महापुरुष को शंका हो गयी कि कुछ गलत हो रहा है परन्तु सत्य क्या है ? यह तो मुझे ही शोधना पड़ेगा।

दीक्षा के बाद सत्य के शोधक इन महात्मा ने स्थानकवासी और श्वेताम्बर सम्प्रदाय के समस्त आगमों का गहन अभ्यास मात्र चार वर्ष में पूर्ण कर लिया। सम्प्रदाय में बड़ी चर्चा चलती थी, कि कर्म है तो विकार होता है न ? यद्यपि गुरुदेवश्री को अभी दिगम्बर शास्त्र प्राप्त नहीं हुए थे, तथापि पूर्व संस्कार के बल से वे दृढ़तापूर्वक सिंह गर्जना करते हैं — **जीव स्वयं से स्वतन्त्ररूप से विकार करता है; कर्म से नहीं अथवा पर से नहीं। जीव अपने उल्टे पुरुषार्थ से विकार करता है और सुल्टे पुरुषार्थ से उसका नाश करता है।**

विक्रम संवत् 1978 में महावीर प्रभु के शासन-उद्धार का और

हजारों मुमुक्षुओं के महान पुण्योदय का सूचक एक मङ्गलकारी पवित्र प्रसंग बना —

32 वर्ष की उम्र में, विधि के किसी धन्य पल में श्रीमद्भगवत् कुन्दकन्दाचार्यदेव रचित 'समयसार' नामक महान परमागम, एक सेठ द्वारा महाराजश्री के हस्तकमल में आया, इन पवित्र पुरुष के अन्तर में से सहज ही उद्‌गार निकले — **'सेठ! यह तो अशरीरी होने का शास्त्र है।'** इसका अध्ययन और चिन्तवन करने से अन्तर में आनन्द और उल्लास प्रगट होता है। इन महापुरुष के अन्तरंग जीवन में भी परम पवित्र परिवर्तन हुआ। भूली पड़ी परिणति ने निज घर देखा। तत्पश्चात् श्री प्रवचनसार, अष्टपाहुड़, मोक्षमार्गप्रकाशक, द्रव्यसंग्रह, सम्यग्ज्ञानदीपिका इत्यादि दिगम्बर शास्त्रों के अभ्यास से आपको निःशंक निर्णय हो गया कि दिगम्बर जैनधर्म ही मूलमार्ग है और वही सच्चा धर्म है। इस कारण आपकी अन्तरंग श्रद्धा कुछ और बाहर में वेष कुछ — यह स्थिति आपको असह्य हो गयी। अतः अन्तरंग में अत्यन्त मनोमन्थन के पश्चात् सम्प्रदाय के परित्याग का निर्णय लिया।

परिवर्तन के लिये योग्य स्थान की खोज करते-करते सोनगढ़ आकर वहाँ 'स्टार ऑफ इण्डिया' नामक एकान्त मकान में महावीर प्रभु के जन्मदिवस, चैत्र शुक्ल 13, संवत् 1991 (दिनांक 16 अप्रैल 1935) के दिन दोपहर सवा बजे सम्प्रदाय का चिह्न मुँह पट्टी का त्याग कर दिया और स्वयं घोषित किया कि **अब मैं स्थानकवासी साधु नहीं; मैं सनातन दिगम्बर जैनधर्म का श्रावक हूँ।** सिंह-समान वृत्ति के धारक इन महापुरुष ने 45 वर्ष की उम्र में महावीर्य उछाल कर यह अद्‌भुत पराक्रमी कार्य किया।

स्टार ऑफ इण्डिया में निवास करते हुए मात्र तीन वर्ष के दौरान ही जिज्ञासु भक्तजनों का प्रवाह दिन-प्रतिदिन बढ़ता ही गया, जिसके कारण यह मकान एकदम छोटा पड़ने लगा; अतः भक्तों ने इन परम प्रतापी सत् पुरुष के निवास और प्रवचन का स्थल **'श्री जैन स्वाध्याय**

मन्दिर' का निर्माण कराया। गुरुदेवश्री ने वैशाख कृष्ण 8, संवत् 1994 (दिनांक 22 मई 1938) के दिन इस निवासस्थान में मंगल पदार्पण किया। यह स्वाध्याय मन्दिर, जीवनपर्यन्त इन महापुरुष की आत्मसाधना और वीरशासन की प्रभावना का केन्द्र बन गया।

दिगम्बर धर्म के चारों अनुयोगों के छोटे बड़े 183 ग्रन्थों का गहनता से अध्ययन किया, उनमें से मुख्य 38 ग्रन्थों पर सभा में प्रवचन किये। जिनमें श्री समयसार ग्रन्थ पर 19 बार की गयी अध्यात्म वर्षा विशेष उल्लेखनीय है। प्रवचनसार, अष्टपाहुड़, परमात्मप्रकाश, नियमसार, पंचास्तिकायसंग्रह, समयसार कलश-टीका इत्यादि ग्रन्थों पर भी बहुत बार प्रवचन किये हैं।

दिव्यध्वनि का रहस्य समझानेवाले और कुन्दकुन्दादि आचार्यों के गहन शास्त्रों के रहस्योद्घाटक इन महापुरुष की भवताप विनाशक अमृतवाणी को ईस्वी सन् 1960 से नियमितरूप से टेप में उत्कीर्ण कर लिया गया, जिसके प्रताप से आज अपने पास नौ हजार से अधिक प्रवचन सुरक्षित उपलब्ध हैं। यह मङ्गल गुरुवाणी, देश-विदेश के समस्त मुमुक्षु मण्डलों में तथा लाखों जिज्ञासु मुमुक्षुओं के घर-घर में गुंजायमान हो रही है। इससे इतना तो निश्चित है कि भरतक्षेत्र के भव्यजीवों को पञ्चम काल के अन्त तक यह दिव्यवाणी ही भव के अभाव में प्रबल निमित्त होगी।

इन महापुरुष का धर्म सन्देश, समग्र भारतवर्ष के मुमुक्षुओं को नियमित उपलब्ध होता रहे, तदर्थ सर्व प्रथम विक्रम संवत् 2000 के माघ माह से (दिसम्बर 1943 से) **आत्मधर्म** नामक मासिक आध्यात्मिक पत्रिका का प्रकाशन सोनगढ़ से मुरब्बी श्री रामजीभाई माणिकचन्द दोशी के सम्पादकत्व में प्रारम्भ हुआ, जो वर्तमान में भी गुजराती एवं हिन्दी भाषा में नियमित प्रकाशित हो रहा है। पूज्य गुरुदेवश्री के दैनिक प्रवचनों को प्रसिद्धि करता दैनिक पत्र **श्री सद्गुरु प्रवचनप्रसाद** ईस्वी सन् 1950 सितम्बर माह से नवम्बर 1956 तक प्रकाशित हुआ।

स्वानुभवविभूषित चैतन्यविहारी इन महापुरुष की मङ्गल-वाणी को पढ़कर और सुनकर हजारों स्थानकवासी श्वेताम्बर तथा अन्य कौम के भव्य जीव भी तत्त्व की समझपूर्वक सच्चे दिगम्बर जैनधर्म के अनुयायी हुए। अरे! मूल दिगम्बर जैन भी सच्चे अर्थ में दिगम्बर जैन बने।

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़ द्वारा दिगम्बर आचार्यों और मान्यवर, पण्डितवर्यों के ग्रन्थों तथा पूज्य गुरुदेवश्री के उन ग्रन्थों पर हुए प्रवचन-ग्रन्थों का प्रकाशन कार्य विक्रम संवत् 1999 (ईस्वी सन् 1943 से) शुरु हुआ। इस सत्साहित्य द्वारा वीतरागी तत्त्वज्ञान की देश-विदेश में अपूर्व प्रभावना हुई, जो आज भी अविरलरूप से चल रही है। परमागमों का गहन रहस्य समझाकर कृपालु कहान गुरुदेव ने अपने पर करुणा बरसायी है। तत्त्वजिज्ञासु जीवों के लिये यह एक महान आधार है और दिगम्बर जैन साहित्य की यह एक अमूल्य सम्पत्ति है।

ईस्वीं सन् 1962 के दशलक्षण पर्व से भारत भर में अनेक स्थानों पर पूज्य गुरुदेवश्री द्वारा प्रवाहित तत्त्वज्ञान के प्रचार के लिए प्रवचनकार भेजना प्रारम्भ हुआ। इस प्रवृत्ति से भारत भर के समस्त दिगम्बर जैन समाज में अभूतपूर्व आध्यात्मिक जागृति उत्पन्न हुई। आज भी देश-विदेश में दशलक्षण पर्व में सैकड़ों प्रवचनकार विद्वान इस वीतरागी तत्त्वज्ञान का डंका बजा रहे हैं।

बालकों में तत्त्वज्ञान के संस्कारों का अभिसिंचन हो, तदर्थ सोनगढ़ में विक्रम संवत् 1997 (ईस्वीं सन् 1941) के मई महीने के ग्रीष्मकालीन अवकाश में बीस दिवसीय धार्मिक शिक्षण वर्ग प्रारम्भ हुआ, बड़े लोगों के लिये प्रौढ़ शिक्षण वर्ग विक्रम संवत् 2003 के श्रावण महीने से शुरु किया गया।

सोनगढ़ में विक्रम संवत् 1997 – फाल्गुन शुक्ल दूज के दिन नूतन दिगम्बर जिनमन्दिर में कहानगुरु के मङ्गल हस्त से श्री सीमन्धर आदि भगवन्तों की पंच कल्याणक विधिपूर्वक प्रतिष्ठा हुई। उस समय सौराष्ट्र में मुश्किल से चार-पाँच दिगम्बर मन्दिर थे और दिगम्बर जैन तो भाग्य

से ही दृष्टिगोचर होते थे। जिनमन्दिर निर्माण के बाद दोपहरकालीन प्रवचन के पश्चात् जिनमन्दिर में नित्यप्रति भक्ति का क्रम प्रारम्भ हुआ, जिसमें जिनवर भक्त गुरुराज हमेशा उपस्थित रहते थे, और कभी-कभी अतिभाववाही भक्ति भी कराते थे। इस प्रकार गुरुदेवश्री का जीवन निश्चय-व्यवहार की अपूर्व सन्धियुक्त था।

ईस्वी सन् 1941 से ईस्वीं सन् 1980 तक सौराष्ट्र-गुजरात के उपरान्त समग्र भारतदेश के अनेक शहरों में तथा नैरोबी में कुल 66 दिगम्बर जिनमन्दिरों की मङ्गल प्रतिष्ठा इन वीतराग-मार्ग प्रभावक सत्पुरुष के पावन कर-कमलों से हुई।

जन्म-मरण से रहित होने का सन्देश निरन्तर सुनानेवाले इन चैतन्यविहारी पुरुष की मङ्गलकारी जन्म-जयन्ती 59 वें वर्ष से सोनगढ़ में मनाना शुरु हुआ। तत्पश्चात् अनेकों मुमुक्षु मण्डलों द्वारा और अन्तिम 91 वें जन्मोत्सव तक भव्य रीति से मनाये गये। 75 वीं हीरक जयन्ती के अवसर पर समग्र भारत की जैन समाज द्वारा चाँदी जड़ित एक आठ सौ पृष्ठीय अभिनन्दन ग्रन्थ, भारत सरकार के तत्कालीन गृहमन्त्री श्री लालबहादुर शास्त्री द्वारा मुम्बई में देशभर के हजारों भक्तों की उपस्थिति में पूज्यश्री को अर्पित किया गया।

श्री सम्मेदशिखरजी की यात्रा के निमित्त समग्र उत्तर और पूर्व भारत में मङ्गल विहार ईस्वी सन् 1957 और ईस्वी सन् 1967 में ऐसे दो बार हुआ। इसी प्रकार समग्र दक्षिण और मध्यभारत में ईस्वी सन् 1959 और ईस्वी सन् 1964 में ऐसे दो बार विहार हुआ। इस मङ्गल तीर्थयात्रा के विहार दौरान लाखों जिज्ञासुओं ने इन सिद्धपद के साधक सन्त के दर्शन किये, तथा भवान्तकारी अमृतमय वाणी सुनकर अनेक भव्य जीवों के जीवन की दिशा आत्मसन्मुख हो गयी। इन सन्त पुरुष को अनेक स्थानों से अस्सी से अधिक अभिनन्दन पत्र अर्पण किये गये हैं।

श्री महावीर प्रभु के निर्वाण के पश्चात् यह अविच्छिन्न पैंतालीस वर्ष का समय (वीर संवत् 2461 से 2507 अर्थात् ईस्वी सन् 1935 से 1980)

वीतरागमार्ग की प्रभावना का स्वर्णकाल था। जो कोई मुमुक्षु, अध्यात्म तीर्थधाम स्वर्णपुरी / सोनगढ़ जाते, उन्हें वहाँ तो चतुर्थ काल का ही अनुभव होता था।

विक्रम संवत् 2037, कार्तिक कृष्ण 7, दिनांक 28 नवम्बर 1980 शुक्रवार के दिन ये प्रबल पुरुषार्थी आत्मज्ञ सन्त पुरुष — देह का, बीमारी का और मुमुक्षु समाज का भी लक्ष्य छोड़कर अपने ज्ञायक भगवान के अन्तरध्यान में एकाग्र हुए, अतीन्द्रिय आनन्दकन्द निज परमात्मतत्त्व में लीन हुए। सायंकाल आकाश का सूर्य अस्त हुआ, तब सर्वज्ञपद के साधक सन्त ने मुक्तिपुरी के पन्थ में यहाँ भरतक्षेत्र से स्वर्गपुरी में प्रयाण किया। वीरशासन को प्राणवन्त करके अध्यात्म युग सृजक बनकर प्रस्थान किया।

पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी इस युग का एक महान और असाधारण व्यक्तित्व थे, उनके बहुमुखी व्यक्तित्व की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उन्होंने सत्य से अत्यन्त दूर जन्म लेकर स्वयंबुद्ध की तरह स्वयं सत्य का अनुसन्धान किया और अपने प्रचण्ड पुरुषार्थ से जीवन में उसे आत्मसात किया।

इन विदेही दशावन्त महापुरुष का अन्तर जितना उज्ज्वल है, उतना ही बाह्य भी पवित्र है; ऐसा पवित्रता और पुण्य का संयोग इस कलिकाल में भाग्य से ही दृष्टिगोचर होता है। आपश्री की अत्यन्त नियमित दिनचर्या, सात्विक और परिमित आहार, आगम सम्मत्त संभाषण, करुण और सुकोमल हृदय, आपके विरल व्यक्तित्व के अभिन्न अवयव हैं। शुद्धात्मतत्त्व का निरन्तर चिन्तवन और स्वाध्याय ही आपका जीवन था। जैन श्रावक के पवित्र आचार के प्रति आप सदैव सतर्क और सावधान थे। जगत् की प्रशंसा और निन्दा से अप्रभावित रहकर, मात्र अपनी साधना में ही तत्पर रहे। आप भावलिंगी मुनियों के परम उपासक थे।

आचार्य भगवन्तों ने जो मुक्ति का मार्ग प्रकाशित किया है, उसे इन रत्नत्रय विभूषित सन्त पुरुष ने अपने शुद्धात्मतत्त्व की अनुभूति के आधार

से सातिशय ज्ञान और वाणी द्वारा युक्ति और न्याय से सर्व प्रकार से स्पष्ट समझाया है। द्रव्य की स्वतन्त्रता, द्रव्य-गुण-पर्याय, उपादान-निमित्त, निश्चय-व्यवहार, क्रमबद्धपर्याय, कारणशुद्धपर्याय, आत्मा का शुद्धस्वरूप, सम्यग्दर्शन, और उसका विषय, सम्यग्ज्ञान और ज्ञान की स्व-पर प्रकाशकता, तथा सम्यक्चारित्र का स्वरूप इत्यादि समस्त ही आपश्री के परम प्रताप से इस काल में सत्यरूप से प्रसिद्धि में आये हैं। आज देश-विदेश में लाखों जीव, मोक्षमार्ग को समझने का प्रयत्न कर रहे हैं - यह आपश्री का ही प्रभाव है।

समग्र जीवन के दौरान इन गुणवन्ता ज्ञानी पुरुष ने बहुत ही अल्प लिखा है क्योंकि आपको तो तीर्थङ्कर की वाणी जैसा योग था, आपकी अमृतमय मङ्गलवाणी का प्रभाव ही ऐसा था कि सुननेवाला उसका रसपान करते हुए थकता ही नहीं। दिव्य भावश्रुतज्ञानधारी इस पुराण पुरुष ने स्वयं ही परमागम के यह सारभूत सिद्धान्त लिखाये हैं :—

❖ एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का स्पर्श नहीं करता। ❖ प्रत्येक द्रव्य की प्रत्येक पर्याय क्रमबद्ध ही होती है। ❖ उत्पाद, उत्पाद से है; व्यय या ध्रुव से नहीं। ❖ उत्पाद, अपने षट्कारक के परिणमन से होता है। ❖ पर्याय के और ध्रुव के प्रदेश भिन्न हैं। ❖ भावशक्ति के कारण पर्याय होती ही है, करनी नहीं पड़ती। ❖ भूतार्थ के आश्रय से सम्यग्दर्शन होता है। ❖ चारों अनुयोगों का तात्पर्य वीतरागता है। ❖ स्वद्रव्य में भी द्रव्य-गुण-पर्याय का भेद करना, वह अन्यवशपना है। ❖ ध्रुव का अवलम्बन है परन्तु वेदन नहीं; और पर्याय का वेदन है, अवलम्बन नहीं।

इन अध्यात्मयुगसृष्टा महापुरुष द्वारा प्रकाशित स्वानुभूति का पावन पथ जगत में सदा जयवन्त वर्तो!

तीर्थङ्कर श्री महावीर भगवान की दिव्यध्वनि का रहस्य समझानेवाले शासन स्तम्भ श्री कहानगुरुदेव त्रिकाल जयवन्त वर्तो!!

सत्पुरुषों का प्रभावना उदय जयवन्त वर्तो!!!

❖ ❖ ❖

अनुक्रमणिका

लेख	पृष्ठ
सम्यक्त्व को नमस्कार	1
सम्यक्त्व का माहात्म्य	3
आत्मस्वरूप की यथार्थ समझ सुलभ है	5
द्रव्यदृष्टि की महिमा	8
सम्यक्त्व की प्रतिज्ञा	14
अविरत सम्यग्दृष्टि का परिणमन	15
आत्महिताभिलाषी का प्रथम कर्तव्य	16
श्रावकों का प्रथम कर्त्तव्य	22
मोक्ष का उपाय–भगवती प्रज्ञा	28
जीवन का कर्त्तव्य	53
कल्याणमूर्ति	55
धर्म का मूल सम्यग्दर्शन है	56
सम्यग्दर्शन गुण है या पर्याय?	58
हे जीवो! सम्यक्त्व की आराधना करो	64
सम्यग्दर्शन प्राप्ति का उपाय (जय अरिहन्त)	66
भेद–विज्ञानी का उल्लास	121
अरे भव्य! तू तत्त्व का कौतूहली होकर आत्मा का अनुभवकर	122
सबमें बड़े में बड़ा पाप, सबमें बड़ा पुण्य और सबमें पहले में पहला धर्म	126
प्रभु तेरी प्रभुता	129
परम सत्य का हकार और उसका फल	130
नि:शंकता	134
बिना धर्मात्मा धर्म नहीं रहता। (न धर्मो धार्मिकैर्विना)	135
सत् की प्राप्ति के लिए अर्पणता	138
सम्यग्दृष्टि का अन्तरपरिणमन	142

लेख	पृष्ठ
जिज्ञासु को धर्म कैसे करना चाहिए ?	143
एकबार भी जो मिथ्यात्व का त्याग करे तो जरूर मोक्ष पावे	171
अपूर्व पुरुषार्थ	174
श्रद्धा-ज्ञान और चारित्र की भिन्न-भिन्न अपेक्षायें	175
सम्यग्दर्शन-धर्म	178
हे जीवो ! मिथ्यात्व के महापाप को छोड़ो	187
दर्शनाचार और चारित्राचार	192
कौन सम्यग्दृष्टि है ?	198
सम्यग्दृष्टि का वर्णन	199
मिथ्यादृष्टि का वर्णन	200
सम्यग्दर्शन की रीति	201
स्वभावानुभव की विधि	221
पुनीत सम्यग्दर्शन	225
धर्मात्मा की स्वरूप-जागृति	230
हे भव्य ! इतना तो अवश्य करना	231
महापाप-मिथ्यात्व (1)	235
महापाप-मिथ्यात्व (2)	236
सम्यग्दर्शन बिना सब कुछ किया लेकिन उससे क्या ?	237
द्रव्यदृष्टि ही सम्यग्दृष्टि	247
धर्म की पहली भूमिका-भाग-1 (मिथ्यात्व का अर्थ)	251
धर्म की पहली भूमिका-भाग-2 (मिथ्यात्व)	263
धर्म की पहली भूमिका-भाग-3	278
सम्यग्दर्शन का स्वरूप और वह कैसे प्रगटे ?	300
धर्म साधन	309
निश्चयश्रद्धा-ज्ञान कैसे प्रगट हो ?	311
सम्यक्त्व की महिमा, श्रावक क्या करे ?	320

www.vitragvani.com

ॐ

परमात्मने नमः

मानव जीवन का महान कर्त्तव्य

सम्यग्दर्शन

(भाग-1)

卐 दंसण मूलो धम्मो 卐

सम्यक्त्व को नमस्कार

हे सर्वोत्कृष्ट सुख के हेतुभूत सम्यग्दर्शन!
तुझे अत्यन्त भक्तिपूर्वक नमस्कार हो !!!

इस अनादि संसार में, अनन्तानन्त जीव, तेरे आश्रय
के बिना अनन्तानन्त दु:खों को भोग रहे हैं।

तेरी परम कृपा से स्व-स्वरूप में रुचि हुई,
परम वीतरागस्वभाव के प्रति दृढ़ निश्चय उत्पन्न हुआ,
कृतकृत्य होने का मार्ग ग्रहण हुआ।

हे वीतराग जिनेन्द्र!
आपको अत्यन्त भक्तिपूर्वक नमस्कार करता हूँ।
आपने इस पामर के प्रति अनन्तानन्त उपकार किये हैं!

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com

हे कुन्दकुन्दादि आचार्यों!
आपके वचन भी स्वरूपानुसन्धान के लिए इस पामर को परम उपकार भूत हुए हैं; इसलिए आपको परम भक्तिपूर्वक नमस्कार करता हूँ।

सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के बिना, जन्मादि दुःखों की आत्यान्तिक निवृत्ति नहीं हो सकती।

(- श्रीमद् राजचन्द्र)

सम्यग्दर्शनरूपी पवित्र भूमि

न दुःखबीजं शुभदर्शनक्षितौ,
कदाचन क्षिप्रमपि प्ररोहित।
सदाप्युनुप्तं सुखबीजमुत्तमं,
कुदर्शने तद्विपरीतमिष्यते॥

भावार्थ :— सम्यग्दर्शनरूपी भूमि में कदाचित् दुःख का बीज गिर भी जाए तो भी सम्यग्दर्शनरूपी पवित्र भूमि में वह बीज कभी भी शीघ्र अंकुरित नहीं हो पाता, परन्तु दुःखांकुर उत्पन्न होने से प्रथम ही वह पवित्र भूमि का ताप उसे जला देता ही है; और उस पावन भूमि में सुख का बीज तो बिना बोये भी सदा उत्पन्न होता जाता है, परन्तु मिथ्यादर्शनरूपी भूमि में तो लगातार-उससे विपरीत फल होते हैं अर्थात् मिथ्यादर्शनरूपी भूमि में कदाचित् सुख का बीज बोने में आ जाए तो भी वह अंकुरित नहीं होता, परन्तु जल जाता है, और दुःख का बीज बिना बोये भी उत्पन्न होता है। *—सागार धर्मामृत पृष्ठ 25*

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

सम्यक्त्व का माहात्म्य

1. सम्यक्त्वहीन जीव, यदि पुण्यसहित भी हो तो भी ज्ञानीजन उसे पापी कहते हैं, क्योंकि पुण्य-पापरहित स्वरूप की प्रतीति न होने से, पुण्य के फल की मिठास में, पुण्य का व्यय करके स्वरूप की प्रतीतिरहित होने से पाप में जाएगा।

2. सम्यक्त्वसहित नरकवास भी भला है और सम्यक्त्वहीन होकर देवलोक का निवास भी शोभास्पद नहीं होता।

(—श्रीपरमात्मप्रकाश, पृष्ठ 200)

3. संसाररूपी अपार समुद्र से रत्नत्रयरूपी जहाज को पार करने के लिए सम्यग्दर्शन चतुर खेवटिया (नाविक) के समान है।

4. जिस जीव के सम्यग्दर्शन है, वह अनन्त सुख पाता है और जिस जीव के सम्यग्दर्शन नहीं है, वह यदि पुण्य करे तो भी, अनन्त दु:खों को भोगता है। इस प्रकार सम्यग्दर्शन की अनेकविध महिमा है, इसलिए जो अनन्त सुख चाहते हैं, उन समस्त जीवों को, उसे प्राप्त करने का सर्वप्रथम उपाय सम्यग्दर्शन ही है।

श्रीमद् राजचन्द्र ने भी आत्मसिद्धि के प्रथम पद में कहा है कि –

जो स्वरूप समझे बिना, पाया दु:ख अनन्त।
समझाया उन पद नमूं, श्री सद्गुरु भगवन्त॥ 1॥

जिस स्वरूप को समझे बिना, अर्थात् आत्मप्रतीति के बिना,

www.vitragvani.com

अर्थात् सम्यग्दर्शन को प्राप्त किए बिना, अनादि काल से केवल अनन्त दुःख ही भोगा है; उस अनन्त दुःख से मुक्त होने का एकमात्र उपाय सम्यग्दर्शन है; दूसरा नहीं।

यह सम्यग्दर्शन आत्मा का ही स्व-स्वभावी गुण है।
सुखी होने के लिए सम्यग्दर्शन को प्रगट करो॥

कल्याणमूर्ति सम्यग्दर्शन

हे जीवो! यदि आत्म-कल्याण करना चाहते हो तो पवित्र सम्यग्दर्शन प्रगट करो। वह सम्यग्दर्शन प्रगट करने के लिए सत्समागम से स्वतः शुद्ध और समस्त प्रकार से परिपूर्ण आत्मस्वभाव की रुचि और विश्वास करो, उसी का लक्ष्य और आश्रय करो। इसके अतिरिक्त जो कुछ है, उस सर्व की रुचि, लक्ष्य और आश्रय छोड़ो। त्रिकाली स्वभाव सदा शुद्ध है, परिपूर्ण है और वर्तमान में भी वह प्रकाशमान है; इससे उसके आश्रय से / लक्ष्य से पूर्णता की प्रतीतिरूप सम्यग्दर्शन प्रगट होगा। यह सम्यग्दर्शन स्वयं कल्याणस्वरूप है और वही सर्व कल्याण का मूल है। ज्ञानी, सम्यग्दर्शन को कल्याण की मूर्ति कहते हैं। इसलिए हे जीवो! तु सर्वप्रथम सम्यग्दर्शन प्रगट करने का अभ्यास करो।

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

आत्मस्वरूप की यथार्थ समझ सुलभ है !

अपना आत्मस्वरूप समझना सुगम है; किन्तु अनादि से स्वरूप के अनाभ्यास के कारण कठिन मालूम होता है। यदि यथार्थ रुचिपूर्वक समझना चाहे तो वह सरल है।

चाहे जितना चतुर कारीगर हो, तथापि वह दो घड़ी में मकान तैयार नहीं कर सकता, किन्तु यदि आत्मस्वरूप की पहचान करना चाहे तो वह दो घड़ी में भी हो सकती है। आठ वर्ष का बालक, एक मन का बोझा नहीं उठा सकता, किन्तु यथार्थ समझ के द्वारा आत्मा की प्रतीति करके केवलज्ञान को प्राप्त कर सकता है। आत्मा, परद्रव्य में कोई परिवर्तन नहीं कर सकता, किन्तु स्वद्रव्य में पुरुषार्थ के द्वारा समस्त अज्ञान का नाश करके, सम्यग्ज्ञान को प्रगट करके, केवलज्ञान प्राप्त कर सकता है। **स्व में परिवर्तन करने के लिए आत्मा सम्पूर्ण स्वतन्त्र है, किन्तु पर में कुछ भी करने के लिए आत्मा में किञ्चित्मात्र सामर्थ्य नहीं है। आत्मा में इतना अपार स्वाधीन पुरुषार्थ विद्यमान है कि यदि वह उल्टा चले तो दो घड़ी में सातवें नरक जा सकता है और यदि सीधा चले तो दो घड़ी में केवलज्ञान प्राप्त करके सिद्ध हो सकता है।**

परमागम श्री समयसारजी में कहा है कि —'**यदि यह आत्मा, अपने शुद्ध आत्मस्वरूप को पुद्गलद्रव्य से भिन्न दो घड़ी के**

लिए अनुभव करे, (उसमें लीन हो जाय), परीषहों के आने पर भी न डिगे तो घातिया कर्मों का नाश करके केवलज्ञान को प्राप्त करके मोक्ष को प्राप्त हो जाए। आत्मानुभव की ऐसी महिमा है तो मिथ्यात्व का नाश करके सम्यग्दर्शन की प्राप्ति का होना सुलभ ही है; इसलिए श्री परमगुरुओं ने यही उपदेश प्रधानता से दिया है।'

(श्री समयसार प्रवचनों में आत्मा की पहिचान करने के लिये बारम्बार प्रेरणा की गयी है कि-)

1. चैतन्य के विलासरूप आनन्द को जरा पृथक् करके देख, उस आनन्द के भीतर देखने पर तू शरीरादि के मोह को तत्काल छोड़ सकेगा। 'झगिति' अर्थात् झट से छोड़ सकेगा, यह बात सरल है, क्योंकि यह तेरे स्वभाव की बात है।

2. सातवें नरक की अनन्त वेदना में पड़ हुओं ने भी आत्मानुभव प्राप्त किया है, तब यहाँ पर सातवें नरक के बराबर तो पीड़ा नहीं है। मनुष्यभव प्राप्त करके रोना क्या रोया करता है! अब सत्समागम से आत्मा की पहिचान करके आत्मानुभव कर। (इस प्रकार समयसार प्रवचनों से बारम्बार-हजारों बार आत्मानुभव करने की प्रेरणा की है।) जैन शास्त्रों का ध्येयबिन्दु ही आत्मस्वरूप की पहिचान कराना है।

अनुभवप्रकाश ग्रन्थ में आत्मानुभव की प्रेरणा करते हुए कहा है कि कोई यह जाने कि आज के समय में स्वरूप की प्राप्ति कठिन है तो समझना चाहिए कि वह स्वरूप की चाह को मिटानेवाला बहिरात्मा है .... जब वह निठल्ला होता है, तब विकथा करने लगता है। परन्तु तब स्वरूप के परिणाम करे तो

www.vitragvani.com

उसे कौन रोक सकता है? यह कितने आश्चर्य की बात है कि परपरिणाम को सुगम और निजपरिणाम को विषम बताता है। स्वयं देखता है—जानता है, तथापि यह कहते हुए लज्जा नहीं आती कि देखा नहीं जाता, जाना नहीं जाता..... जिसका जयगान भव्य जीव गाते हैं, जिसकी अपार महिमा को जानने से महा भवभ्रमण दूर होता है, ऐसा यह समयसार (शुद्ध आत्मा) अविकार जान लेना चाहिए।

यह जीव अनादि काल से अज्ञान के कारण परद्रव्य को अपना करने के लिये प्रयत्न कर रहा है और शरीरादि को अपना बनाकर रखना चाहता है, किन्तु परद्रव्य का परिणमन, जीव के आधीन नहीं है; इसलिए अनादि से जीव के परिश्रम के फल में अज्ञान हुआ, किन्तु एक परमाणु भी जीव का नहीं हुआ। अनादि काल से देहदृष्टिपूर्वक शरीर को अपना मान रखा है; किन्तु अभी तक एक भी रजकण न तो जीव का हुआ है और न होनेवाला है; दोनों द्रव्य त्रिकाल भिन्न हैं। जीव यदि अपने स्वरूप को यथार्थ समझना चाहे तो वह पुरुषार्थ के द्वारा अल्प काल में समझ सकता है। जीव अपने स्वरूप को जब समझना चाहे, तब समझ सकता है। स्वरूप के समझने में अनन्त काल नहीं लगता; इसलिए यथार्थ समझ सुलभ है। यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने की रुचि के अभाव में ही जीव अनादि काल से अपने स्वरूप को नहीं समझ पाया; इसलिए आत्मास्वरूप समझने की रुचि करो और ज्ञान प्राप्त करो।

''धर्म का मूल सम्यग्दर्शन है।''

दंसण मूलो धम्मो

द्रव्यदृष्टि की महिमा

जो कोई जीव एकबार भी द्रव्यदृष्टि धारण कर लेता है, उसे अवश्य मोक्ष की प्राप्ति होती है।

द्रव्यदृष्टि में भव नहीं :—

आत्मा वस्तु है। वस्तु का मतलब है – सामर्थ्य से परिपूर्ण, त्रिकाल में एकरूप अवस्थित रहनेवाला द्रव्य। इस द्रव्य का वर्तमान तो सर्वदा उपस्थित है ही। अब यदि वह वर्तमान किसी निमित्ताधीन है तो समझ लो कि विकार है, अर्थात् संसार है और यदि वह वर्तमान, स्वाश्रय से स्थित है, तो द्रव्य में विकार न होने से पर्याय में भी विकार नहीं है, अर्थात् वही मोक्ष है। दृष्टि ने जिस द्रव्य का लक्ष्य किया है, उस द्रव्य में भव या भव का भाव नहीं है; इसलिए उस द्रव्य को लक्षित करनेवाली अवस्था में भी भव या भव का भाव नहीं है।

यदि आत्मा अपनी वर्तमान अवस्था को 'स्वलक्ष्य' से रहित धारण कर रहा है तो वह विकारी है, किन्तु फिर भी वह विकार, मात्र एक समय (क्षण) पर्यन्त ही रहनेवाला है; नित्यद्रव्य में वह विकार नहीं है। इसलिए नित्य-त्रिकालवर्ती द्रव्य को लक्ष्य करके जो वर्तमान अवस्था होती है, उसमें न्यूनता या विकार नहीं है और जहाँ न्यूनता या विकार नहीं, वहाँ भव का भाव नहीं है; और भव का भाव नहीं, इसलिए भव भी नहीं है। इसलिए द्रव्यस्वभाव में

भव न होने से द्रव्यस्वभाव की दृष्टि में भव का अभाव ही है, अर्थात् द्रव्यदृष्टि भव को नहीं स्वीकारती है।

आत्मा का स्वभाव नि:संदेह है, इसलिए उसमें **1.** सन्देह, **2.** राग-द्वेष या **3.** भव नहीं है; अत: सम्यग्दृष्टि को निजस्वरूप का **1.** सन्देह नहीं, **2.** राग-द्वेष का आदर नहीं, **3.** भव की शङ्का नहीं। दृष्टि, मात्र स्वभाव को ही देखती है। दृष्टि, परवस्तु या पर निमित्त की अपेक्षा से होनेवाले विभावभावों को भी नहीं स्वीकारती है। **इसलिए विभावभाव के निमित्त से होनेवाले भव भी, द्रव्यदृष्टि के लक्ष्य में नहीं होते। दृष्टि, मात्र स्ववस्तु को ही देखती है, इसलिए उसमें परद्रव्य सम्बन्धी निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध भी नहीं है। निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्धरहित अकेला स्वभावभाव ही द्रव्यदृष्टि का विषय है।** स्वभावभाव में अर्थात् द्रव्यदृष्टि में भव नहीं; इस तरह स्वदृष्टि का जोर, नये भव के बन्धन को उपस्थित नहीं होने देता। जहाँ द्रव्यदृष्टि नहीं होती, वहाँ भव का बन्धन उपस्थित हुए बिना नहीं रह सकता, क्योंकि उसकी दृष्टि द्रव्य पर नहीं, पर्याय पर है तथा रागयुक्त है। ऐसी दृष्टि तो बन्धन का ही कारण होती है।

द्रव्यदृष्टि भव को बिगड़ने नहीं देती :—

द्रव्यदृष्टि होने के बाद चारित्र में कुछ अस्थिरता रह भी जाए और एक-दो भव हो भी जाए तो भी वे भव बिगड़ते नहीं हैं।

द्रव्यदृष्टि के बाद जीव कदाचित् शत्रुओं के संहारार्थ युद्ध में तत्पर होकर वाण पर वाण छोड़ रहा हो; नील, कापोत, लेश्या के

www.vitragvani.com

अशुभभाव कभी-कभी आते भी हों तो भी उस समय नये भव की आयु का बन्ध नहीं होता क्योंकि अन्तरङ्ग में द्रव्यदृष्टि का जोर बेहद बढ़ा हुआ रहता है और वह जोर भव को बिगड़ने नहीं देता है; तथा भव को बढ़ने नहीं देता है। **जहाँ द्रव्यस्वभाव पर दृष्टि पड़ी कि स्वभाव अपना कार्य बिना किए नहीं रहेगा, इसलिए द्रव्यदृष्टि होने के बाद नीचगति का बन्ध या संसारवृद्धि नहीं हो सकती, ऐसा ही द्रव्यस्वभाव है।**

(—21-9-1944 की चर्चा के आधार से - सोनगढ़)

द्रव्यदृष्टि को क्या मान्य है ? :—

द्रव्यदृष्टि कहती है कि 'मैं मात्र आत्मा को ही स्वीकार करती हूँ'— आत्मा में पर का सम्बन्ध नहीं हो सकता; अतः पर सम्बन्धी भावों को यह दृष्टि स्वीकार नहीं करती है। अरे! चौदह गुणस्थान के भेदों को भी, पर संयोग से होने के कारण यह दृष्टि स्वीकार नहीं करती है; इस दृष्टि को तो मात्र आत्मस्वभाव ही मान्य है।

जो जिसका स्वभाव है, उसमें उसका कभी भी किञ्चित् भी अभाव नहीं हो सकता और जो किञ्चित् भी अभाव या हीनाधिक हो सके, वह वस्तु का स्वभाव नहीं है। अर्थात् जो त्रिकाल एकरूप रहे, वही वस्तु का स्वभाव है। यह दृष्टि इसी स्वभाव को स्वीकार करती है। द्रव्यदृष्टि कहती है कि मैं जीव को मानती हूँ, वह जीव कितना ?... सम्बन्ध रहित रहे, उतना। अर्थात् सर्व पर पदार्थों का सम्बन्ध निकाल डालने पर जो अकेला स्वतत्त्व रहे, उसे ही मैं स्वीकार करती हूँ। मेरे लक्ष्य रूप चैतन्य भगवान की पहचान परनिमित्त की अपेक्षा से कराऊँ

तो चैतन्यस्वभाव की हीनता प्रदर्शित होती है। मेरे चैतन्य स्वभाव को पर की अपेक्षा नहीं है। एक समय में परिपूर्ण द्रव्य ही मुझे मान्य है। *(—18-1-45 के दिन व्याख्यान से, समयसार गाथा-68)*

मोक्ष भी द्रव्यदृष्टि के आधीन है :—

जो कोई जीव एकबार भी द्रव्यदृष्टि को धारण कर लेता है, वह जीव अवश्य मोक्ष प्राप्त करता है। द्रव्यदृष्टि के बिना जीव अनन्तानन्त उपाय करे तो भी मोक्ष नहीं पा सकता। श्रीमद् राजचन्द्रजी 'सम्यक्त्व की प्रतिज्ञा' के विवरण में कहते हैं कि सम्यक्त्व को ग्रहण करने से ग्रहणकर्ता की इच्छा न हो तो भी ग्रहणकर्ता को सम्यक्त्व की अतुल शक्ति की प्रेरणा से मोक्ष जबरदस्ती प्राप्त करना ही पड़ता है तथा वे आगे कहते हैं कि सम्यग्दर्शन की प्राप्ति बिना, जन्म-मरण के दु:ख की आत्यंधिक निवृत्ति हो ही नहीं सकती; इसलिए जो मोक्ष का अभिलाषी हो, उसे अवश्य द्रव्यदृष्टि धारण करनी चाहिए। जिस जीव को द्रव्यदृष्टि प्राप्त हो गई, उसकी मुक्ति होगी ही; और जिसे यह दृष्टि प्राप्त नहीं हुई, उसकी मुक्ति हो ही नहीं सकती; इस प्रकार मोक्षप्राप्ति दृष्टि के आधीन है।

ज्ञान भी दृष्टि के आधीन है :—

जिस जीव को द्रव्यदृष्टि नहीं, उसका ज्ञान सच्चा नहीं है, भले ही वह जीव ग्यारह अङ्ग नौ पूर्व का ज्ञान प्राप्त कर ले, परन्तु यदि द्रव्यदृष्टि प्राप्त नहीं तो वह सर्वज्ञान मिथ्या है; और भले ही नव तत्त्वों के नाम भी न जानता हो, परन्तु यदि उसे द्रव्यदृष्टि प्राप्त है तो उसका ज्ञान सच्चा है।

www.vitragvani.com

सम्यग्दर्शन को नमस्कार करते हुए श्रीमद् राजचन्द्रजी फरमाते हैं कि 'अनन्त काल से जो ज्ञान, भव का कारण होता था, उस ज्ञान को एक क्षण में जात्यन्तर करके जिसने भवनिवृत्तिरूप परिणत कर दिया, उस कल्याणमूर्ति सम्यग्दर्शन को नमस्कार हो।' **द्रव्यदृष्टि रहितज्ञान, मिथ्याज्ञान है और संसार का कारण है। द्रव्यदृष्टि प्राप्त करते ही वह ज्ञान, सम्यक्पना प्राप्त करता है; इसलिए ज्ञान भी दृष्टि के आधीन है।**❖

विपरीतदृष्टि की विपरीतता का महात्म्य :—

जिन जीवों को उपर्युक्त द्रव्यदृष्टि नहीं होती, उन्हें विपरीत दृष्टि होती है। (विपरीतदृष्टि के अन्य अनेक नाम हैं - जैसे कि मिथ्यादृष्टि, व्यवहारदृष्टि, अयथार्थदृष्टि, झूठीदृष्टि पर्यायदृष्टि, विकारदृष्टि, अभूतार्थदृष्टि, ये सब एकार्थ-वाचक शब्द हैं।) यह विपरीतदृष्टि एक समय में अखण्ड परिपूर्ण स्वभाव को नहीं मानती है अर्थात् इस दृष्टि में अखण्ड परिपूर्ण वस्तु को न मानने की अनन्त विपरीत सामर्थ्य भरी हुई है। **पूर्ण स्वभाव का निरादर करनेवाली, दृष्टि, अनन्त-अनन्त संसार का कारण है और वह दृष्टि एक समय में महान पाप का कारण है। हिंसा, चोरी, झूठ, शिकार आदि सात व्यसनों के पापों से भी बढ़कर अनन्त गुना महापाप यह दृष्टि है।**

7. द्रव्यदृष्टि ही परम कर्त्तव्य है :—

अनादि काल से चले आये इन महान दु:खों का नाश करने

❖**नोट**— द्रव्यदृष्टि कहो या आत्मस्वरूप की पहिचान कहोएक ही बात है। इसी तरह सम्यग्दृष्टि, परमार्थदृष्टि, वस्तुदृष्टि, स्वभावदृष्टि, यथार्थदृष्टि, भूतार्थदृष्टि —ये सब एकार्थवाचक है।

www.vitragvani.com

के लिए उनके मूलभूत बीज को अर्थात् मिथ्यात्व को, आत्मस्वरूप की पहिचानरूप सम्यक्त्व के द्वारा नाश करना, यही जीव (आत्मा) का परम कर्त्तव्य है। अनादि संसार में परिभ्रमण करते हुए इस जीव ने दया, दान, व्रत, तप, भक्ति, पूजा आदि सर्व शुभकृत्य अपनी मान्यता के अनुसार अनन्त बार किए हैं और पुण्य करके अनन्त बार स्वर्ग का देव हुआ है, तो भी **संसारपरिभ्रमण टला नहीं, इसका कारण मात्र यही है कि जीव ने अपने आत्मस्वरूप को जाना नहीं, सच्ची दृष्टि प्राप्त की नहीं और सच्ची दृष्टि किए बिना भव का अन्त नहीं आ सकता।** इसलिए आत्मकल्याणर्थ द्रव्यदृष्टि प्राप्त कर, सम्यग्दर्शन प्रगट करना, यही सब जीवों का कर्त्तव्य है और इस कर्त्तव्य को स्वलक्ष्यी पुरुषार्थ द्वारा प्रत्येक जीव कर सकता है। इस सम्यग्दर्शन की प्राप्ति से जीव को अवश्यमेव मोक्ष होता है।

मोक्ष और बन्ध का कारण

साधक जीव के जब तक रत्नत्रयभाव की पूर्णता नहीं होती, तब तक उसे जो कर्मबन्ध होता है, उसमें रत्नत्रय का दोष नहीं है। रत्नत्रय तो मोक्ष का ही साधक है, वह बन्ध का कारण नहीं होता, परन्तु उस समय रत्नत्रयभाव का विरोधी जो रागांश होता है, वही बन्ध का कारण है।

जीव को जितने अंश में सम्यग्दर्शन है, उसने अंश तक बन्धन नहीं होता; किन्तु उसके साथ जितने अंश में राग है, उतने ही अंश तक उस रागांश से बन्धन होता है।

(—पुरुषार्थसिद्ध्युपाय गाथा 212, 214)

सम्यक्त्व की प्रतिज्ञा

'मुझे ग्रहण करलेने से; ग्रहण करनेवाले की इच्छा न होने पर भी मुझे उसको बलात् मोक्ष ले जाना पड़ता है, इसलिए मुझे ग्रहण करने से पहले यदि वह विचार करे कि मोक्ष जाने की इच्छा को बदल देंगे तो भी उससे काम नहीं चलेगा। मुझे ग्रहण करने के बाद, मुझे उसे मोक्ष पहुँचाना ही चाहिए। कदाचित् मुझे ग्रहण करनेवाला शिथिल हो जाए तो भी, यदि हो सका तो उसी भव में, अन्यथा अधिक से अधिक पन्द्रह भव में मुझे उसे मोक्ष पहुँचा देना चाहिए।'

कदाचित् वह मुझे छोड़कर मुझसे विरुद्ध आचरण करे अथवा प्रबल से प्रबल मोह को धारण करे तो भी अर्ध पुद्गल -परावर्तन काल के अन्दर मुझे उसे मोक्ष पहुँचा देना चाहिए, —ऐसी मेरी प्रतिज्ञा है।' *(—श्रीमद् राजचन्द्र)*

तीनलोक में सम्यग्दर्शन की श्रेष्ठता

एक पलड़े में सम्यग्दर्शन का लाभ हो और दूसरे पलड़े में तीन लोक के राज्य का लाभ प्राप्त हो, तो वहाँ पर तीन लोक के लाभ से भी सम्यग्दर्शन का लाभ श्रेष्ठ है; क्योंकि तीन लोक का राज्य पाकर भी अल्पपरिमित काल में वह छूट जाता है और सम्यग्दर्शन का लाभ होने पर तो जीव अक्षय मोक्षसुख को ही पाते हैं। *—भगवती आराधना 746-47*

अविरत सम्यग्दृष्टि का परिणमन

अविरत सम्यग्दृष्टि के भी अज्ञानमय राग-द्वेष-मोह नहीं होते। **मिथ्यात्वसहित रागादिक हों, वही अज्ञान के पक्ष में गिने जाते हैं। सम्यक्त्वसहित रागादिक, अज्ञान के पक्ष में नहीं हैं।**

सम्यग्दृष्टि के निरन्तर ज्ञानमय ही परिणमन होता है। उसे चारित्र की अशक्ति से जो रागादि होते हैं, उनका स्वामित्व उसे नहीं है। वह रागादिक को रोग समान जानकर वर्तता है और अपनी शक्ति अनुसार उन्हें काटता जाता है। इसलिए ज्ञानी को जो रागादिक होते हैं, वे विद्यमान होने पर भी, अविद्यमान जैसे हैं; वह आगामी संसार का बन्ध नहीं करता, मात्र अल्पस्थिति-अनुभागवाला बन्ध करता है। ऐसे अल्पबन्ध को गौण करके बन्ध नहीं गिना जाता है।

(—समयसार-आस्रव-अधिकार)

सम्यक्त्व की प्रधानता

जे सम्यक्त्वप्रधान बुध, तेज त्रिकोक प्रधान।
पामे केवलज्ञान झट, शाश्वत सौख्य निधान॥

भावार्थ :— जिसे सम्यक्त्व की प्रधानता है, वह ज्ञानी है, और वही तीन लोक में प्रधान है; जिसे सम्यक्त्व की प्रधानता है, वह जीव शाश्वत सुख के निधान —ऐसे केवलज्ञान को भी जल्दी प्राप्त कर लेता है। *—योगसार 90*

आत्महिताभिलाषी का प्रथम कर्तव्यः तत्त्वनिर्णय

तत्त्वनिर्णयरूप धर्म तो, बालक–वृद्ध; रोगी–निरोगी, धनवान –निर्धन, सुक्षेत्री तथा कुक्षेत्री आदि सभी अवस्था में प्राप्त होने योग्य हैं, इसलिए जो पुरुष अपना हित चाहता है, उसे सबसे पहले यह तत्त्वनिर्णयरूप कार्य ही करना योग्य है। तत्त्वज्ञानतरंगिणी में कहा है कि —

न क्लेशों न धनव्ययो न गमनं देशान्तरे प्रार्थना।
केषांचिन्न बलक्षयो न तु भयं पीड़ा न कस्माश्च न॥
सावद्यं न न रोग जन्मपतनं नैवान्य सेवा न हि।
चिद्रूपं स्मरणे फलं बहुतरं किन्नाद्रियंते बुधाः॥

अर्थात् — चिद्रूप (ज्ञानस्वरूप) आत्मा का स्मरण करने में न तो क्लेश होता है, न धन खर्च करना पड़ता है, न ही देशान्तर में जाना पड़ता है, न किसी के समक्ष प्रार्थना करनी पड़ती है, न बल का क्षय होता है, न ही किसी ओर से भय अथवा पीड़ा होती है और वह सावद्य (पाप का कार्य) भी नहीं है, उससे रोग अथवा जन्म –मरण में पड़ना नहीं पड़ता, किसी की सेवा नहीं करनी पड़ती, ऐसी बिना किसी कठिनाई के ज्ञानस्वरूप आत्मा के स्मरण का बहुत फल है, तब फिर समझदार पुरुष उसे क्यों नहीं ग्रहण करते?

और फिर जो तत्त्वनिर्णय के सन्मुख नहीं हुए हैं, उन्हें जाग्रत करने के लिये उलाहना दिया है कि —

साहीणे गुरु जोगे जे ण सुणंतीह धम्मवयणाई।
ते धिट्ठदुट्ठ चित्ता अह सुहडा भवभय विहुणा॥

अर्थात् — स्वाधीन गुरु का योग होने पर भी, जो धर्म-वचनों को नहीं सुनते, वे धीठ और दुष्ट चित्तवाले हैं अथवा वे भव भयरहित, अर्थात् जिस संसारभय से तीर्थङ्करादि डरे, उससे भी नहीं डरनेवाले सुभट हैं। — ऐसा कहकर उन पर कटाक्ष किया है।

जो शास्त्राभ्यास के द्वारा तत्त्वनिर्णय तो नहीं करते और विषय-कषाय के कार्यों में ही मग्न रहते हैं, वे अशुभोपयोगी मिथ्यादृष्टि हैं तथा जो सम्यग्दर्शन के बिना पूजा, दान, तप, शील, संयमादि व्यवहारधर्म में (शुभभाव में) मग्न हैं, वे शुभोपयोगी मिथ्यादृष्टि हैं। इसलिए भाग्योदय से जिनने मनुष्य पर्याय प्राप्त की है, उनको तो सर्वधर्म का मूलकारण सम्यग्दर्शन; और उसका कारण तत्त्वनिर्णय तथा उसका भी जो मूलकारण सत्समागम और शास्त्राभ्यास है, वह अवश्य करना योग्य है, किन्तु जो ऐसे अवसर को व्यर्थ गँवाते हैं, उन पर बुद्धिमान, करुणा करते कहते हैं कि —

प्रज्ञैव दुर्लभा सुष्ठु दुर्लभा सान्यजन्मने।
तां प्राप्त ये प्रमाद्यंति ते शोच्याः खलु धीमताम्॥

(—आत्मानुशासन, श्लोक-94)

अर्थात् — प्रथम तो संसार में बुद्धि का होना ही दुर्लभ है और फिर उसमें भी परलोक के लिए बुद्धि का होना तो अति दुर्लभ है, ऐसी बुद्धि पाकर, जो प्रमाद करते हैं, उन जीवों के विषय में ज्ञानियों को शोच होता है।

यह दुर्लभ मनुष्यजन्म पाकर जिसे सच्चा जैनी होना है, उसे तो सत्समागम और शास्त्र के आधार से तत्त्वनिर्णय करना उचित है, किन्तु जो तत्त्वनिर्णय तो नहीं करता और पूजा, स्तोत्र, दर्शन, त्याग, वैराग्य, संयम, सन्तोष आदि सभी कार्य करता है, उसके ये सब कार्य असत्य; उनसे मोक्ष नहीं। इसलिए सत्समागम से आगम का सेवन, युक्ति का अवलम्बन, परम्परा से गुरुओं के उपदेश और स्वानुभव के द्वारा तत्त्व का निर्णय करना चाहिए। जिनवचन तो अपार है, उसका पूरा पार तो श्री गणधरदेव भी प्राप्त नहीं कर सके, इसलिए जो मोक्षमार्ग की प्रयोजनभूत रकम (बात, माल) है, उसे निर्णयपूर्वक अवश्य जानना योग्य है, कहा भी है कि —

अंतो णत्थि सुईणं कालो थोओवयं च दुम्मेहा।
तंणवर सिक्खियव्वं जिं जरमरणक्खयं कुणहि॥

(—पाहुड़ दोहा-98)

अर्थात् — श्रुतियों का अन्त नहीं है, काल थोड़ा है और हम निर्बुद्धि (अल्पबुद्धिवाले) हैं, इसलिए हे जीव! तुझे तो वह सीखना योग्य है कि जिससे तू जन्म-मरण का नाश कर सके।

आत्महित के लिए सर्वप्रथम सर्वज्ञ का निर्णय :—

हे जीवों! तुम्हें यदि अपना भला करना हो तो सर्व आत्महित का मूलकारण जो आप्त हैं, उसके सच्चे स्वरूप का निर्णय करके, ज्ञान में लाओ, क्योंकि सर्व जीवों को सुख, प्रिय है; सुख, भावकर्मों के नाश से प्राप्त होता है; भावकर्मों का नाश, सम्यक्चारित्र से होता है; सम्यक्चारित्र, सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञानपूर्वक होता है; सम्यग्ज्ञान, आगम से होता है; आगम, किसी वीतराग पुरुष की वाणी से

उत्पन्न होता है और वह वाणी किसी वीतराग पुरुष के आश्रित है; इसलिए जो सत्पुरुष हैं, उन्हें अपने कल्याण के लिये सर्वसुख का मूलकारण जो आप्त-अरहन्त सर्वज्ञ हैं, उनका युक्तिपूर्वक भलीभाँति सर्वप्रथम निर्णय करके आश्रय लेना योग्य है। अब जिनका उपदेश सुनते हैं और जिनके कहे हुए मार्ग पर चलना चाहते हैं तथा जिनकी सेवा, पूजा, आस्तिकता, जाप, स्मरण, स्तोत्र, नमस्कार और ध्यान करते हैं —ऐसे जो अरहन्त सर्वज्ञ हैं, उनका स्वरूप पहले अपने ज्ञान में तो प्रतिभासित हुआ ही नहीं है, तब फिर तुम उनका निश्चय किये बिना किसका सेवन करते हो?

लोक में भी ऐसी पद्धति है कि अत्यन्त निष्प्रयोजन बात का भी निर्णय करके प्रवृत्ति की जाती है और इधर तुम आत्महित के मूल आधारभूत अरहन्तदेव का निर्णय किए बिना ही प्रवृत्ति कर रहे हो, यह बड़ा ही आश्चर्य है! और फिर तुम्हें निर्णय करने योग्य ज्ञान भी प्राप्त हुआ है; इसलिए तुम इस अवसर को वृथा मत गँवाओ। आलस्य आदि छोड़कर उसके निर्णय में अपने को लगाओ, जिससे तुम्हें वस्तु का स्वरूप; जीवादि का स्वरूप; स्व-पर का भेदविज्ञान; आत्मा का स्वरूप; हेय-उपादेय और शुभ-अशुभ-शुद्ध-अवस्थारूप अपने पद -अपद का स्वरूप इन सबका सर्व प्रकार से यथार्थ ज्ञान हो। **सर्व मनोरथ सिद्ध करने का उपाय जो अरहन्त सर्वज्ञ का यथार्थ ज्ञान है, वह जिस प्रकार से सिद्ध हो, वह प्रथम करना योग्य है।**

इस प्रकार सबसे पहले अरहन्त सर्वज्ञ का निर्णय करनेरूप कार्य करना चाहिए, यही श्री गुरु की मूल शिक्षा है।

सच्चा ज्ञान सम्यग्दृष्टि को होता है :—

अपने-अपने प्रकरण में अपने-अपने ज्ञेयसम्बन्धी अल्प अथवा विशेष ज्ञान सबको होता है; क्योंकि लौकिक कार्य तो सभी जीव जानपने पूर्वक ही करते हैं; इसलिए लौकिक जानपना तो सभी जीवों के थोड़ा-बहुत हो ही रहा है, किन्तु मोक्षमार्ग में प्रयोजनभूत जो आप्त, आगम आदि पदार्थ हैं, उनका यथार्थ ज्ञान सम्यग्दृष्टि को ही होता है तथा सर्व ज्ञेय का ज्ञान केवली भगवान को ही होता है — ऐसा जानना चाहिए।

जिनमत की आज्ञा :—

कोई कहता है कि सर्वज्ञ की सत्ता का निश्चय हम से नहीं हुआ तो क्या हुआ? वे तो सच्चे हैं न? इनकी पूजन आदि करना निष्फल थोड़े ही जाता है?

उत्तर — जो तुम्हारी किञ्चित् मन्द कषायरूप परिणति होगी तो पुण्यबन्ध तो होगा, किन्तु जिनमत में तो देव के दर्शन से आत्मदर्शनरूप फल होना कहा है, वह तो नियम से सर्वज्ञ की सत्ता जानने से ही होगा, अन्य प्रकार से नहीं; यही श्री प्रवचनसार, गाथा -80 में कहा है।

फिर तुम लौकिक कार्यों में तो इतने चतुर हो कि वस्तु की सत्ता आदि का निश्चय किये बिना सर्वथा प्रवृत्ति नहीं करते और यहाँ तुम सत्ता का निश्चय भी न करके सयाने अनध्यवसायी (बिना निर्णय के) होकर प्रवृत्ति करते हो, यह बड़ा आश्चर्य है! श्री श्लोकवार्तिक में कहा है कि - **जिसके सत्ता का निश्चय नहीं हुआ, परीक्षक को उसकी स्तुति आदि कैसे करना उचित**

है ? इसलिए तुम सर्व कार्यों से पहले, अपने ज्ञान में सर्वज्ञ की सत्ता को सिद्ध करो, यही धर्म का मूल है और यही जिनाम्नाय है।

आत्मकल्याण के अभिलाषियों से अनुरोध

जिन्हें आत्मकल्याण करना है, उन्हें पहले जिनवचनरूप आगम का सेवन, युक्ति का अवलम्बन, परम्परा गुरु का उपदेश तथा स्वानुभव यह कर्तव्य है। प्रथम प्रमाण-नय-निक्षेप आदि उपाय से वचन की सत्यता का अपने ज्ञान में निर्णय करके गम्यमान हुए सत्यरूप साधन के बल से उत्पन्न जो अनुमान है, उससे सर्वज्ञ की सत्ता को सिद्ध करके, उसका श्रद्धान-ज्ञान-दर्शन, पूजन, भक्ति और स्तोत्र, नमस्कारादि करना योग्य है। श्री जिनेन्द्रदेव का सेवक जानता है कि मेरा भला-बुरा मेरे परिणामों से ही होता; ऐसा समझकर वह अपने हित के उपाय में प्रवर्तता है तथा अशुद्ध कार्यों को छोड़ता है। जिसे जिनदेव का सच्चा सेवक होना हो तथा जिनदेव के द्वारा उपदिष्ट मोक्षमार्गरूप प्रवृत्ति करना हो, उसे सबसे पहले जिनदेव के सच्चे स्वरूप का अपने ज्ञान में निर्णय करके उसका श्रद्धान करना चाहिए, उसका यही कर्तव्य है।

आत्मज्ञान से शाश्वत सुख

जो जाने शुद्धात्म को, अशुचि देह से भिन्न।
वे ज्ञाता सब शास्त्र के, शाश्वत सुख में लीन॥

(—योगसार 85)

जो शुद्ध आत्मा को अशुचिरूप शरीर से भिन्न जानते हैं, वे सर्वशास्त्र के ज्ञाता हैं और शाश्वत सुख में लीन होते हैं।

श्रावकों का प्रथम कर्तव्य

श्रावक को प्रथम क्या करना चाहिए ? :—

गहिऊण य सम्मत्तं सुणिम्मलं सुरगिरीव णिकंपं।
तंझाणे झाइज्जइ सावय! दुक्खक्खयट्ठाए॥ 86॥

अर्थ — प्रथम तो श्रावक को, सुनिर्मल कहने से भली -भाँति निर्मल और मेरुवत् निष्कंप, अचल और चल, मलिन तथा अगाढ़-इन तीन दूषणों से रहित अत्यन्त-निश्चल- ऐसे सम्यक्त्व को ग्रहण करके, उसे (सम्यक्त्व के विषयभूत एकरूप आत्मा को) ध्यान में ध्याना चाहिए, किसलिए ध्याना चाहिए? दुःख के क्षय के लिए।

भावार्थ — श्रावक को प्रथम तो निरतिचार निश्चल सम्यक्त्व को ग्रहण करके उसका ध्यान करना चाहिए कि जिस सम्यक्त्व की भावना से गृहस्थ को गृहकार्य सम्बन्धी आकुलता, क्षोभ, दुःख जो हों, वह मिट जाए।

कार्य के बिगड़ने-सुधरने में 'वस्तु के स्वरूप का विचार आये', उस समय दुःख मिट जाता है। सम्यग्दृष्टि को ऐसा विचार होता है कि सर्वज्ञ ने जैसा वस्तु का स्वरूप जाना है, वैसा ही निरन्तर परिणमित होता है और वही होता है, उसमें इष्ट-अनिष्ट मानकर दुःखी-सुखी होना, निष्फल है। ऐसे विचार से दुःख दूर होता है, वह प्रत्यक्ष अनुभवगोचर है, इससे सम्यक्त्व का ध्यान करना कहा है।

www.vitragvani.com

सम्यक्त्व के ध्यान की महिमा :—

सम्मत्तं जो झायइ समाइट्ठी हवेइ सो जीवो।
सम्मत्तपरिणदो उण खवेई दुट्ठट्ठ कम्माणि॥87॥

अर्थ — जो जीव, सम्यक्त्व की आराधना करता है, वह जीव, सम्यग्दृष्टि है और वह, सम्यक्त्वरूप परिणमित होने से, जो दुष्ट आठ कर्म हैं, उनका क्षय करता है।

भावार्थ — सम्यक्त्व का ध्यान ऐसा है कि - यदि पहले सम्यक्त्व न हुआ हो, तथापि उसके स्वरूप को जानकर उसका ध्यान करे तो वह सम्यग्दृष्टि हो जाता है और सम्यक्त्व प्राप्त होने पर, जीव के परिणाम ऐसे होते हैं कि संसार के कारणरूप जो दुष्ट आठ कर्म हैं, उनका क्षय होता है; सम्यक्त्व होते ही कर्मों की गुणश्रेणी निर्जरा होती है। अनुक्रम से मुनि हो, उस समय चारित्र और शुक्लध्यान उसके सहकारी होने पर सर्वकर्मों का नाश होता है।

सम्यक्त्व का माहात्म्य :—

किं बहुणा भणिएणं जे सिद्धा णरवरा गए काले।
सिज्झिहहि जे भविया ते जाणइ सम्मत्तं माहप्पं॥

अर्थ — भगवान सूत्रकार कहते हैं कि — 'अधिक कहने से क्या साध्य है? जो नरप्रधान भूतकाल में सिद्ध हुए हैं तथा भविष्य में सिद्ध होंगे, वह सम्यक्तव का ही माहात्म्य जानो!'

भावार्थ — इस सम्यक्त्व का ऐसा माहात्म्य है कि आठ कर्मों का नाश करके जो भूतकाल में मुक्ति को प्राप्त हुए हैं और भविष्य में होंगे, वे इस सम्यक्त्व से ही हुए हैं और होंगे। इससे आचार्यदेव कहते हैं कि विशेष क्या कहा जाए? संक्षेप में समझ

लो कि मुक्ति का प्रधानकारण यह सम्यक्त्व ही है। ऐसा मत समझो कि गृहस्थों को क्या धर्म होता है! यह सम्यक्त्व धर्म ऐसा है कि जो सर्वधर्म के अङ्ग को (श्रावकधर्म और मुनिधर्म को) सफल करता है।

जो निरन्तर सम्यक्त्व का पालन करने वाले ही धन्य —

ते धण्णा सुकयत्था ते सूरा ते वि पंडिया मणुया।
सम्मत्तं सिद्धियरं सिविणे वि ण मइलियं जेहिं॥

ते धन्याः सुकृतार्थः ते शूराः तेऽपि पंडिता मनुजाः।
सम्यक्त्वं सिद्धकरं स्वप्नेपि न मलिनितं यैः॥

अर्थ — जिस पुरुष को मुक्ति का करनेवाला सम्यक्त्व है और उसे (सम्यक्त्व को) स्वप्नावस्था में भी मलिन नहीं किया है —अतिचार नहीं लगाया है, वह पुरुष धन्य है, वही मनुष्य है, वही कृतार्थ है, वही शूरवीर है और वहीं पण्डित है।

भावार्थ — लोक में कोई दानादिक करे, उसे धन्य कहते हैं तथा विवाह, यज्ञादिक करता है, उसके कृतार्थ कहते हैं, युद्ध से पीछे न हटे, उसे शूरवीर कहते हैं, अनेक शास्त्र पढ़े हों, उसे पण्डित कहते हैं - यह सब कथनमात्र है; वास्तव में तो मोक्ष का कारण जो सम्यक्त्व है, उसे मलिन न करे, निरतिचार पाले, वही धन्य है, वही कृतार्थ है, वही शूरवीर है, वही पण्डित है, वही मनुष्य है। इस (सम्यक्त्व) के बिना पशु समान है — ऐसा सम्यक्त्व का माहात्म्य कहा है।

सम्यक्त्व ही प्रथम धर्म है और यही प्रथम कर्तव्य है। सम्यग्दर्शन के बिना ज्ञान, चारित्र और तप में सम्यक्पना नहीं आता। सम्यग्दर्शन

www.vitragvani.com

ही ज्ञान, चारित्र, वीर्य और तप का आधार है। जिस प्रकार नेत्रों से मुख को सौन्दर्य प्राप्त होता है; उसी प्रकार सम्यग्दर्शन से ज्ञानादिक में सम्यक्पने की प्राप्ति होती है।

श्री रत्नकरण्ड श्रावकाचार में कहा है कि —

न सम्यक्त्वसमं किञ्चित्त्रैकाल्ये त्रिजगत्यपि।
श्रेयोऽश्रेयश्च मिथ्यात्वसमं नान्यतनूभृताम्॥

अर्थ — सम्यग्दर्शन के समान इस जीव को तीन काल तीन लोक में कोई कल्याणकारी नहीं है और मिथ्यात्व के समान तीन लोक, तीन काल में दूसरा कोई अकल्याणकारी नहीं है। भावार्थ यह है कि - अनन्त काल तो व्यतीत हो गया, एक समय वर्तमान चल रहा है और भविष्य में अनन्त काल आयेगा, इन तीनों कालों में और अधोलोक, मध्यलोक और ऊर्ध्वलोक - इन तीनों लोकों में जीव को सर्वोत्कृष्ट उपकारी, सम्यक्त्व के समान न तो कोई है, न हुआ है और न होगा।

तीन लोकों में विद्यमान ऐसे तीर्थङ्कर, इन्द्र, अहमिन्द्र, भुवनेन्द्र, चक्रवर्ती, नारायण, बलभद्र आदि चेतन और मणि, मन्त्र, औषधि आदि जड़, यह कोई द्रव्य, सम्यक्त्व के समान उपकारी नहीं हैं और इस जीव का सबसे महान अहित-बुरा जैसा मिथ्यात्व करता है, वैसा अहित करनेवाला कोई चेतन या जड़द्रव्य तीन काल, तीन लोक में न तो है, न हुआ है, और न होगा; इसलिए मिथ्यात्व को छोड़ने के लिये परम पुरुषार्थ करो! संसार के समस्त दुःखों का नाशक और आत्मकल्याण को प्रगट करनेवाला एक सम्यक्त्व ही है; इसलिए उसे प्रगट करने का ही पुरुषार्थ करो!

समयसार नाटक में कहा है कि —

'प्रगट हो कि मिथ्यात्व ही आस्रव-बन्ध है और मिथ्यात्व का अभाव अर्थात् सम्यक्त्व ही संवर, निर्जरा तथा मोक्ष है।'

(—समयसार-नाटक पृ. 310)

सुख का मूल सम्यक्त्व

जगत के जीव अनन्त प्रकार के दु:ख भोग रहे हैं, दु:खों से सदैव के लिये मुक्त होने अर्थात् अविनाशी सुख प्राप्त करने के लिये वे अहिर्निशि उपाय कर रहे हैं; परन्तु उनके वे उपाय मिथ्या होने से जीवों का दु:ख दूर नहीं होता, एक या दूसरे प्रकार से दु:ख बना ही रहता है। यदि मूलभूत भूल न हो तो दु:ख नहीं हो सकता और वह भूल दूर होने से सुख हुए बिना नहीं रह सकता— ऐसा अबाधित सिद्धान्त है, इसलिए **दु:ख दूर करने के लिये सर्वप्रथम भूल को दूर करना चाहिए, इस मूलभूत को दूर करने के लिए वस्तु के यथार्थ स्वरूप को समझना चाहिए।**

यदि जीव को वस्तु के सच्चे स्वरूप सम्बन्धी मिथ्या मान्यता न हो तो ज्ञान में भूल नहीं हो सकती। जहाँ मान्यता सच्ची हो, वहाँ ज्ञान भी सच्चा होता है। सच्ची मान्यता और सच्चे ज्ञानपूर्वक होनेवाले सच्चे बर्तन द्वारा ही जीव, दु:खों से मुक्त हो सकते हैं।

'स्वयं कौन है ?' इस सम्बन्धी जगत के जीवों के महान भूल अनादि से चली आ रही है। अनेक जीव, शरीर को अपना स्वरूप मानते हैं; अथवा शरीर तो अपने अधिकार की वस्तु है — ऐसा मानते हैं, इसलिए शरीर की सम्भाल रखने के लिये वे अनेक प्रकार से सतत् प्रयत्न करते रहते हैं।

शरीर को अपना मानते हैं, इसलिए जिन जड़ या चेतन पदार्थों की ओर से शारीरिक अनुकूलता मिलती है — ऐसा जीव माने, उनके प्रति राग होगा ही और जिस जड़ या चेतन की ओर से प्रतिकूलता मिलती है - ऐसा वह माने, उसके प्रति उसे द्वेष होगा ही। जीव की यह मान्यता महान भूलयुक्त है, इसलिए उसे आकुलता बनी रहती है।

जीव की इस महान भूल को शास्त्र में मिथ्यादर्शन कहा जाता है। जहाँ मिथ्यादर्शन हो, वहाँ ज्ञान और चारित्र भी मिथ्या होते हैं; इसलिए मिथ्यादर्शनरूप महान भूल को महापाप भी कहा जाता है। यह मिथ्यादर्शन महाभूल है, और सर्वदु:खों का महा बलवान मूलकारण यही है - ऐसा लक्ष्य जीवों को न होने से, वह लक्ष्य कराने और उस भूल को दूर करके वे अविनाशी सुख की ओर अग्रसर हों, इस हेतु से आचार्य भगवन्तों ने सर्वप्रथम सम्यग्दर्शन प्रगट करने का उपदेश बारम्बार दिया है। जीव को सच्चे सुख की आवश्यकता हो तो उसे प्रथम सम्यग्दर्शन प्रगट करना ही चाहिए।

संसारीरूपी समुद्र से रत्नत्रयरूपी जहाज को पार करने के लिये सम्यग्दर्शन चतुर केवट-नाविक हैं। जो जीव, सम्यग्दर्शन प्रगट करता है, वह अनन्त सुख को प्राप्त होता है और जिस जीव को सम्यग्दर्शन नहीं है, वह पुण्य करे तो भी अनन्त दु:खों को प्राप्त होता है; इसलिए यथार्थ सुख प्राप्त करने के लिये जीवों को तत्त्व का यथार्थ स्वरूप समझकर सम्यग्दर्शन प्रगट करना चाहिए।

वन्दन हो सम्यक्त्व और सम्यक्त्वधारी सन्तों को.......

मोक्ष का उपाय - भगवती प्रज्ञा

भगवती प्रज्ञा :—

आत्मा और बन्ध किसके द्वारा द्विधा किए जाते हैं? ऐसा पूछने पर उसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि —

जीव बन्ध दोनों नियत निज निज लक्षण से छेदे जाते हैं।
प्रज्ञाछैनी द्वारा छेदे जाने पर दोनों भिन्न-भिन्न हो जाते हैं॥ 294॥

अर्थात् — जीव और बन्धभाव को भिन्न करना आत्मा का कार्य है और उसे करनेवाला आत्मा है। मोक्ष आत्मा की पवित्रदशा है और उस दशारूप होनेवाला आत्मा है; परन्तु उसरूप होने का साधन क्या है, उसका उपाय क्या है? उसके उत्तर में कहते हैं कि उस भगवती प्रज्ञा के द्वारा ही आत्मा के स्वभाव को और बन्धभाव को पृथक् जानकर छेदे जाने पर मोक्ष होता है। आत्मा का स्वभाव बन्धन से रहित है, इस प्रकार जाननेवाला सम्यक्ज्ञान ही बन्ध और आत्मा को पृथक् करने का साधन है। यहाँ (भगवती) विशेषण के द्वारा आचार्यदेव ने उस सम्यक्ज्ञान की महिमा बतायी है।

चेतक-चेत्यभाव :—

आत्मा और बन्ध के निश्चित लक्षण भिन्न हैं, उनके द्वारा उन्हें भिन्न-भिन्न जानना चाहिए। आत्मा और बन्ध में चेतक-चेत्य सम्बन्ध है अर्थात् आत्मा जाननेवाला चेतक है और बन्धभाव उसके ज्ञान में ज्ञात होता है; इसलिए वह चेत्य है। बन्धभाव में चेतकता नहीं है और चेतकता में बन्धभाव नहीं है। बन्धभाव स्वयं

www.vitragvani.com

कुछ नहीं जानते, किन्तु आत्मा अपने चेतकस्वभाव के द्वारा जानता है। **आत्मा का चेतकस्वभाव होने से और बन्धभावों का चेत्य स्वभाव होने से आत्मा के ज्ञान में बन्धभाव ज्ञात तो होता है, किन्तु वहाँ बन्धभाव को जानने पर, अज्ञानी को भेदज्ञान के अभाव के कारण, ज्ञान और बन्धभाव एक से प्रतिभासित होते हैं। चेतक -चेत्य भाव के कारण उनमें अत्यन्त निकटता होने पर भी, दोनों के लक्षण भिन्न-भिन्न हैं। अत्यन्त निकट कहते ही भिन्नता आ जाती है।**

चेतक-चेत्यपने के कारण अत्यन्त निकटता होने से, आत्मा और बन्ध के भेदज्ञान के अभाव के कारण उनमें एकत्व का व्यवहार किया जाता है; परन्तु भेदज्ञान के द्वारा उन दोनों की भिन्नता स्पष्ट जानी जाती है, पर्याय में देखने पर बन्ध और ज्ञान एक ही साथ हों —ऐसा दिखाई देता है; किन्तु द्रव्यस्वभाव से देखने पर बन्ध और ज्ञान भिन्न-भिन्न दिखाई देते हैं। **ज्ञान तो आत्मा का स्वभाव है और बन्ध, बहिर्मुख विकारी वृत्ति है।**

बन्धभाव और ज्ञान की भिन्नता :—

बन्धभाव, आत्मा की अवस्था में होता है; वह कहीं पर में नहीं होता। अज्ञानी को ऐसा लगता है कि बन्धभाव की वृत्ति आत्मा के स्वभाव के साथ मानों एकमेक हो रही है। अन्तरङ्ग स्वरूप क्या है और बहिर्मुख वृत्ति क्या है? —इसके सूक्ष्म भेद के अभान के कारण ज्ञान के घोलन में वह वृत्ति मानों एकमेक हो रही है, ऐसा अज्ञानी को दिखता है; इसलिए बन्धभाव से भिन्न ज्ञान अनुभव में नहीं आता तथा बन्ध का छेद नहीं होता। यदि बन्ध और ज्ञान को भिन्न जाने तो ज्ञान की एकाग्रता के द्वारा बन्धन का छेद कर

सकता है। राग अनेक प्रकार का है और स्वभाव एक प्रकार का है। प्रज्ञा के द्वारा समस्त प्रकार के राग से आत्मा को भिन्न करना, वह मोक्ष का उपाय है।

यहाँ यह कहा गया है कि राग और आत्मा भिन्न हैं। इसका यह आशय नहीं है कि आत्मा यहाँ है और राग उससे दस फुट दूर है —इस प्रकार क्षेत्र की अपेक्षा से भिन्नता नहीं है परन्तु वास्तव में भाव से भिन्नता है। रागादिक बन्धभाव, आत्मा के ऊपर ही ऊपर रहते हैं, भीतर प्रवेश नहीं करते अर्थात् क्षणिक रागभाव के होने पर भी वह त्रिकालीस्वभाव, रागरूप नहीं हुआ है; इसलिए यह कहा है कि विकार, स्वभाव के ऊपर ही ऊपर रहता है। विकार और स्वभाव को भिन्न जानने से ही मोक्ष होता है और उसके लिए प्रज्ञा ही साधन है। प्रज्ञा का अर्थ है सम्यग्ज्ञान।

क्या है प्रज्ञाछैनी ? :—

समयसार-स्तुति में भी कहा है कि प्रज्ञारूपी छैनी, उदय की सन्धि की छेदक होती है। ज्ञान का अर्थ है —आत्मा का स्वभाव और उदय का अर्थ है—बन्धभाव। स्वभाव और बन्धभाव की समस्त सन्धियों को छेदने के लिए आत्मा की प्रज्ञारूपी छैनी ही साधन है। ज्ञान और राग दोनों एक पर्याय में वर्तमान होने पर भी, दोनों के लक्षण कभी एक नहीं हुए, दोनों अपने निज लक्षणों में भिन्न-भिन्न हैं - इस प्रकार लक्षणभेद के द्वारा उन्हें भिन्न जानकर, उनकी सूक्ष्म अन्तरसन्धि में प्रज्ञारूपी छैनी के प्रहार से वे अवश्य पृथक् हो जाते हैं।

जैसे पत्थर की सन्धि को लक्ष्य में लेकर, उस सन्धि में सुरंग लगाने से शीघ्र ही बड़े भारी धमाके के साथ टुकड़े हो जाते हैं;

उसी प्रकार यहाँ पर सम्यग्ज्ञानरूपी सुरंग है तथा आत्मा और बन्ध के बीच की सूक्ष्म सन्धि को लक्ष्य में लेकर सावधानी के साथ उसमें वह सुरंग लगानी है, ऐसा करने से आत्मा और बन्ध पृथक् हो जाते हैं। यहाँ सावधान होकर, प्रहार करने को कहा है अर्थात् चाहे जैसा राग हो, वह सब मेरे ज्ञान से भिन्न है; ज्ञानस्वभाव के द्वारा मैं राग का ज्ञाता ही हूँ, कर्ता नहीं; इस प्रकार सब ओर से भिन्नत्व जानकर अर्थात् मोह का अभाव करके ज्ञान का आत्मा में एकाग्र करना चाहिए। यहाँ पर प्रज्ञारूपी छैनी के प्रहार का अर्थ उसे हाथ में पकड़कर मारना, ऐसा नहीं है। प्रज्ञा और आत्मा कहीं भिन्न नहीं है। **तीव्र पुरुषार्थ के द्वारा ज्ञान को आत्मा के स्वभाव में एकाग्र करने पर राग का लक्ष्य छूट जाता है, यही प्रज्ञारूपी छैनी का प्रहार है।**

सूक्ष्म अन्तरसन्धि में प्रहार का अर्थ यह है कि शरीर इत्यादि परद्रव्य तो भिन्न ही हैं, कर्म इत्यादि भी भिन्न ही हैं, परन्तु पर्याय में जो राग-द्वेष होता है, वह स्थूलरूप से आत्मा के साथ एक जैसा दिखायी देता है; किन्तु स्थूलदृष्टि को छोड़कर सूक्ष्मरूप से देखने पर आत्मा के स्वभाव और राग में सूक्ष्म भेद है, वह ज्ञात होता है। **स्वभावदृष्टि से ही राग और आत्मा भिन्न ज्ञात होते हैं; इसलिए सूक्ष्म अर्न्तदृष्टि के द्वारा ज्ञान और राग का भिन्नत्व जानकर, ज्ञान में एकाग्र होने से राग दूर हो जाता है अर्थात् मुक्ति हो जाती है। इस प्रकार सम्यग्ज्ञानरूपी प्रज्ञाछैनी ही मोक्ष का उपाय है।**

ज्ञान ही मोक्ष का साधन :—

त्रिकाली ज्ञातास्वभाव और वर्तमान विकार के बीच सूक्ष्म

अन्तरसन्धि जानकर, आत्मा की और बन्ध की अन्तरसन्धि को तोड़ने के लिए ही कहा है। **आत्मा को बन्धनभाव से भिन्न करना न आये तो आत्मा को क्या लाभ है ?** जिसने आत्मा और बन्ध के बीच के भेद को नहीं जाना, वह अज्ञान के कारण बन्धभावों को मोक्ष का कारण मानता है और बन्धभावों का आदर करके संसार को बढ़ाता रहता है; इसलिए आचार्यदेव कहते हैं कि हे भव्य जीव! एक प्रज्ञारूपी छैनी ही मोक्ष का साधन है। इस भगवती प्रज्ञा के अतिरिक्त अन्य कोई भी भाव, मोक्ष के साधन नहीं है।

ध्यान करने पर पहले चैतन्य की ओर का विकल्प उठता है, वह निर्विकल्प का साधन है, यह बात भी यथार्थ नहीं है। विकल्प तो बन्धभाव है और निर्विकल्पता शुद्धभाव है। पहले अनिहतवृत्ति से (बिना भावना या बिना इच्छा के) विकल्प आते हैं, किन्तु प्रज्ञारूपी पैनी-छैनी उस विकल्प को मोक्षमार्ग के रूप में स्वीकार नहीं करती, किन्तु उसे बन्धमार्ग के रूप में जानकर छोड़ देती है। इस प्रकार विकल्प को छोड़कर ज्ञान रह जाता है। **ऐसे विकल्पों को भी जान लेनेवाला ज्ञान ही मोक्ष का साधन है,** परन्तु कोई विकल्प उस मोक्ष का साधन नहीं है। जो शुभविकल्पों को मोक्ष के साधन के रूप में स्वीकार करते हैं, उनके भगवती प्रज्ञा प्रगट नहीं हुई है, इसलिए वे बन्धभाव और मोक्षभाव को भिन्न-भिन्न नहीं पहचानते और अज्ञान के कारण, बन्धभावों को ही आत्मा के रूप में अङ्गीकार करके निरन्तर बद्ध होते रहते हैं। जबकि ज्ञानी को आत्मा और बन्धभाव का स्पष्ट भेदज्ञान होता है; इसलिए मोक्षमार्ग के बीच में आनेवाले बन्धभावों

को बन्ध के रूप में नि:शंकतया जानकर उसे छोड़ते जाते हैं और ज्ञान में एकाग्र हो जाते हैं, इसलिए ज्ञानी प्रतिक्षण बन्धभावों से मुक्त होते हैं।

भेदविज्ञान की महिमा :—

यहाँ तो भेदविज्ञान की ही प्रमुखता है, भेदज्ञान की अपार महिमा है। समयसार 131वें श्लोक में भेदज्ञान की महिमा को बताते हुए कहा है कि –

भेदविज्ञानतः सिद्धाः सिद्धा ये किल केचन।
अस्यैवाभावतो, बद्धा बद्धा ये किल केचन॥

अर्थात् — जितने भी सिद्ध हुए हैं, वे सब भेदविज्ञान से ही हुए हैं और जो बँधे हैं, वे सब उसी-भेदविज्ञान के अभाव से ही बँधे हैं।

भावार्थ — अनादि काल से लेकर जब तक जीव के भेदविज्ञान नहीं होता, तब तक वह बँधता ही रहता है – संसार में परिभ्रमण करता ही रहता है। जिस जीव को भेदविज्ञान होता है, वह कर्मों से अवश्य छूट जाता है – मोक्ष को अवश्य प्राप्त करता है; इसलिए कर्मबन्ध का अर्थात् संसार का मूल भेदविज्ञान का अभाव ही है और मोक्ष का प्रथम कारण भेदविज्ञान ही है। बिना भेदविज्ञान के कोई सिद्धि प्राप्त नहीं कर सकता।

आत्मा और बन्धभाव में भेद :—

आत्मा के समस्त गुणों में और समस्त क्रमवर्ती पर्यायों में चेतना व्याप्त होकर रहती है; इसलिए चेतना ही आत्मा है। क्रमवर्ती पर्याय के कहने से उसमें रागादि विकार नहीं लेना चाहिए, किन्तु

शुद्धपर्याय ही लेनी चाहिए क्योंकि राग समस्त पर्यायों में व्याप्त होकर प्रवृत्त नहीं होता। बिना राग की पर्याय तो हो सकती है, परन्तु बिना चेतना की कोई पर्याय नहीं हो सकती; चेतना प्रत्येक पर्याय में अवश्य होती है। इसलिए जो राग है, वह आत्मा नहीं है, किन्तु चेतना ही आत्मा है। बन्धभावों की ओर न जाकर अन्तर स्वभाव की ओर उन्मुख होकर जो चैतन्य के साथ एकमेक हो जाती हैं, वे निर्मल पर्यायें ही आत्मा हैं, इस प्रकार निर्मल पर्यायों के साथ अभेद करके उसी को आत्मा कहा है और विकारभाव को बन्धभाव कहकर उसे आत्मा से अलग कर दिया है। यह भेदविज्ञान है।

बन्धरहित अपने शुद्धस्वरूप को जाने बिना बन्धभाव को भी यथार्थतया नहीं जाना जा सकता। पुण्य-पाप दोनों विकार हैं, वे आत्मा नहीं हैं; चैतन्यस्वभाव ही आत्मा है। जितने दया-दान-भक्ति इत्यादि के शुभभाव हैं, उनका आत्मा के साथ कोई मेल नहीं खाता, किन्तु बन्ध के साथ उनका मेल है।

प्रश्न - जबकि शुभभाव-पुण्य, आत्मा नहीं है, तब फिर परजीव की दया नहीं करना न?

उत्तर - अरे भाई! कोई आत्मा, परजीवों की दया का पालन कर ही नहीं सकता, क्योंकि अन्य जीव को मारने अथवा बचाने की क्रिया, आत्मा की कदापि नहीं है; आत्मा तो मात्र उसके प्रति दया के शुभभाव कर सकता है।

ऐसी स्थिति में यदि शुभ-दयाभाव को अपना स्वरूप माने तो उसे मिथ्यात्व का महापाप लगेगा। शुभ अथवा अशुभ कोई भी भाव, आत्मकल्याण में किञ्चित्मात्र सहायक नहीं है, क्योंकि वे भाव, आत्मा के स्वभाव से विपरीत लक्षणवाले हैं। पुण्य-पापभाव,

आस्रवतत्त्व हैं, अनात्मा हैं, वह बन्ध का लक्षण है, आत्मा का नहीं। जहाँ तक चारित्र में कमजोरी है, वहाँ तक ज्ञानी को भी वे भाव आते हैं।

ज्ञान का कार्य :—

साधकदशा में राग होता है, तथापि ज्ञान उससे भिन्न है। राग के समय राग को राग के रूप में जाननेवाला ज्ञान, राग से भिन्न रहता है। यदि ज्ञान और राग एकमेक हो जायें तो राग को राग के रूप में नहीं जाना जा सकता। राग को जाननेवाला ज्ञान, आत्मा के साथ एकता करता है और राग के साथ अनेकता (भिन्नता) करता है। ज्ञान की ऐसी शक्ति है कि वह राग को भी जानता है। ज्ञान में जो राग होता है, वह तो ज्ञान की स्व-पर प्रकाशक शक्ति का विकास है, परन्तु अज्ञानी को अपने स्वतत्त्व की श्रद्धा नहीं होती; इसलिए वह राग को और ज्ञान को पृथक् नहीं कर सकता और इसीलिए वह राग को अपना ही स्वरूप मानता है, यही स्वतत्त्व का विरोध है। भेदज्ञान के होते ही ज्ञान और राग भिन्न ज्ञात होते हैं; इसलिए भेदविज्ञानी जीव, ज्ञान को अपने रूप में अङ्गीकार करता है और राग को बन्धरूप जानकर छोड़ देता है। यह भेदज्ञान की ही महिमा है।

राग के समय मैं रागरूप ही हो गया हूँ — ऐसा मानना एकान्त है, परन्तु राग के समय भी मैं तो ज्ञानरूप ही हूँ; मैं कभी रागरूप होता ही नहीं — इस प्रकार भिन्नत्व की प्रतीति करना, वह अनेकान्त है। राग को जानते हुए ज्ञान यह जानता है कि 'यह राग है' परन्तु ज्ञान यह नहीं जानता कि 'यह राग मैं हूँ' क्योंकि ज्ञान अपना कार्य राग से भिन्न रहकर करता है। दृष्टि का बल ज्ञानस्वभाव की ओर जाना चाहिए, उसकी जगह राग की ओर जाता है, यही

अज्ञान है। जिसका वजन ज्ञान की ओर जाता है, वह राग को नि:शंकरूप से जानता है, किन्तु उसे ज्ञानस्वभाव में कोई शङ्का नहीं होती और जिसका वजन ज्ञान की ओर नहीं है, उसे राग को जानने पर भ्रम हो जाता है कि यह राग क्यों ? वजन राग के समय राग से भिन्न ज्ञानस्वरूप है, वह उसे भासित नहीं होता, किन्तु भाई ! तेरी दृष्टि ज्ञान से हटकर राग पर क्यों जाती है ? जो यह राग ज्ञात होता है, वह तो ज्ञान की जानने की जो शक्ति विकसित हुई है, वही ज्ञात होती है। इस प्रकार ज्ञान और राग को पृथक् पहिचानकर, अपने ज्ञानस्वभाव के सन्मुख हो, यही मुक्ति का उपाय है। ज्ञान पर जोर देने से ज्ञान सम्पूर्ण विकसित हो जाएगा और राग सर्वथा नष्ट हो जाएगा, जिससे मुक्ति होगी भेदज्ञान का ही यह फल है।

राग के समय जिसने यह जाना कि 'जो यह राग ज्ञात होता है, वह मेरे ज्ञान की सामर्थ्य है, किन्तु राग की सामर्थ्य नहीं है', इस प्रकार जिसने राग से भिन्नरूप ज्ञान सामर्थ्य की प्रतीति कर ली है, उसके मात्र ज्ञातृत्व रह गया है और ज्ञातृत्व के बल से समस्त विकार का कर्तत्वभाव उड़ा दिया है, वह धर्म है।

ज्ञान की सामर्थ्य; चारित्र का साधन :—

यदि कोई ऐसा माने कि महाव्रत के शुभविकल्प से चारित्रदशा प्रगट होती है तो वह मिथ्यादृष्टि है क्योंकि व्रत का विकल्प तो राग है, इसलिए बन्ध का लक्षण है और चारित्र, वह तो आत्मा है। जो शुभराग को चारित्र का साधन मानता है, वह बन्ध को और आत्मा को एक मानता है किन्तु उन्हें पृथक् नहीं समझता; इसलिए वह मिथ्यादृष्टि है, वह रागरहित आत्मा को ज्ञान -शक्ति को नहीं पहिचानता। जब व्रत का शुभविकल्प उठा, तब उस समय आत्मा के ज्ञान की पर्याय की शक्ति ही ऐसी

विकसित हुई कि वह ज्ञान, आत्मा के स्वभाव को भी जानता है और विकल्प को भी जानता है। उस पर्याय में विकल्प का ही ज्ञान होता है, दूसरा होता ही नहीं, परन्तु वहाँ जो विकल्प है, वह चारित्र का साधन नहीं, किन्तु जो ज्ञानशक्ति विकसित हुई है, वह ज्ञान ही स्वयं चारित्र का साधन है। तेरी ज्ञायकपर्याय ही तेरी शुद्धता का साधन है और जो व्रत का राग है, वह वह तेरी ज्ञायकपर्याय का उस समय का ज्ञेय है।

यह बात नहीं है कि महाव्रत का विकल्प उठा है; इसलिए चारित्र प्रगट हुआ है, परन्तु **ज्ञान उस वृत्ति को और स्वभाव को दोनों को भिन्न जानकर, स्वभाव की ओर उन्मुख हुआ है; इसलिए चारित्र प्रगट हुआ है।** वृत्ति तो बन्धभाव है और मैं ज्ञायक हूँ, इस प्रकार ज्ञायकभाव की दृढ़ता के बल से वृत्ति को तोड़कर ज्ञान अपने स्वभाव में लीन होता है और क्षपकश्रेणी माँडकर केवलज्ञान और मोक्ष को प्राप्त करता है। **इसलिए भगवती प्रज्ञारूपी छैनी ही मोक्ष का साधन है।**

विकार का नाशक है ज्ञान :—

ज्ञान में विकार ज्ञात होता है, वह तो ज्ञान की पर्याय की सामर्थ्य ही ऐसी विकसित हुई है — ऐसा कहकर ज्ञान और विकार के बीच भेद किया है; उसके बदले कोई यह मान बैठे कि — 'भले विकार हुआ करे, आखिर वह है तो ज्ञान का ज्ञेय ही न?' तो समझना चाहिए कि वह ज्ञान के स्वरूप को ही नहीं जानता। भाई! जिसके पुरुषार्थ का प्रवाह ज्ञान के प्रति बह रहा है, उसके पुरुषार्थ का प्रवाह विकार की ओर से रुक जाता है और उसके प्रतिक्षण विकार का नाश होताा रहता है। साधकदशा में जो-जो विकारभाव उत्पन्न होते हैं, वे ज्ञान में ज्ञात होकर छूट जाते हैं — परन्तु रहते

नहीं। इस प्रकार क्रमबद्ध प्रत्येक पर्याय में ज्ञान का झुकाव स्वभाव की ओर होता जाता है और विकार से छूटता जाता है। 'विकार भले हो' —यह भावना मिथ्यादृष्टि की ही है। ज्ञानी तो जानता है कि कोई विकार मेरा नहीं है; इसलिए वह ज्ञान की ही भावना करता है और इसीलिए विकार की ओर से उसका पुरुषार्थ हट गया है। ज्ञान के अस्ति में विकार का नास्ति है।

पहले रागादिक पहचाने नहीं जाते थे और अब ज्ञान, सूक्ष्म रागादि को भी जान लेता है; क्योंकि ज्ञान की सामर्थ्य विकसित हो गई है। ज्ञान सूक्ष्म विकल्प को भी बन्धभाव के रूप में जान लेता है। राग की सामर्थ्य नहीं; किन्तु ज्ञान की ही सामर्थ्य है। ऐसे स्वाश्रय ज्ञान की पहिचान, रुचि, श्रद्धा और स्थिरता के अतिरिक्त अन्य सब उपाय आत्महित के लिये व्यर्थ हैं। अहो! अपने परिपूर्ण स्वाधीन स्वतत्त्व की शक्ति की प्रतीति के बिना जीव अपनी स्वाधीन दशा कहाँ से लायेगा? निज की प्रतीतिवाला निज की ओर झुकेगा और मुक्ति प्राप्त करेगा; जिसे निज की प्रतीति नहीं है, वह विकार की ओर झुकेगा और संसार में परिभ्रमण करेगा।

ज्ञान चेतनेवाला है अर्थात् वह सदा चेतता-जागृत रहता है। जो वृत्ति आती है, उसे ज्ञान के द्वारा पकड़कर तत्काल तोड़ डालता है और प्रत्येक पर्याय में ज्ञान की सामर्थ्य बढ़ती ही जाती है। जो एक भी वृत्ति को कदापि मोक्षमार्ग के रूप में स्वीकार नहीं करता —ऐसा भेदज्ञान, वृत्तियों को तोड़ता हुआ, स्वरूप की एकाग्रता को बढ़ाता हुआ, मोक्षमार्ग को पूर्ण करके मोक्षरूप परिणमित हो जाता है। ऐसे परिपूर्ण ज्ञानस्वभाव की सामर्थ्य का बल जिसे प्रतीति में जम गया, उसे अल्पकाल में मोक्ष अवश्य प्राप्त होता है।

www.vitragvani.com

मोक्ष का मूल भेदविज्ञान है। **राग को जानकर, राग से भिन्न रहनेवाला ज्ञान, मोक्ष प्राप्त करता है और राग को जानकर, राग में अटक जानेवाला ज्ञान, बँधता है।**

ज्ञानी के प्रज्ञारूपी छैनी का बल है कि यह वृत्तियाँ तो प्रतिक्षण चली ही जा रही हैं और वृत्तियों से रहित मेरा ज्ञान बढ़ता ही जाता है। अज्ञानी को ऐसा लगता है कि – अरे! मेरे ज्ञान में यह वृत्ति हुई है और वृत्ति के साथ मेरा ज्ञान भी चला जा रहा है। अज्ञानी के ज्ञान और राग के बीच अभेदबुद्धि (एकत्वबुद्धि), है जो कि मिथ्याज्ञान है। ज्ञानी ने प्रज्ञारूपी छैनी के द्वारा राग और ज्ञान को पृथक् करके पहिचाना है, जो कि सम्यग्ज्ञान है। ज्ञान ही मोक्ष का उपाय है और ज्ञान ही मोक्ष है। जो सम्यग्ज्ञान साधकदशा के रूप में था, वही सम्यक्ज्ञान बढ़कर साध्यदशारूप हो जाता है। इस प्रकार ज्ञान ही साधक-साध्य है।

आत्मा को अपने मोक्ष के लिए अपने गुण के साथ सम्बन्ध होता है या परद्रव्यों के साथ? आत्मा का अपने ज्ञान के साथ ही सम्बन्ध है; परद्रव्य के साथ आत्मा के मोक्ष का सम्बन्ध नहीं है। आत्मा पर से तो पृथक् है ही; किन्तु यहाँ अन्तरङ्ग में यह भेदज्ञान कराते हैं कि वह विकार से भी पृथक् है। **विकार से आत्मा का भेद कर देना ही विकार के नाश का उपाय है।** राग की क्रिया मेरे स्वभाव में नहीं है। इस प्रकार सम्यक्त्व के द्वारा जहाँ स्वभाव सामर्थ्य को स्वीकार किया, वहाँ विकार का ज्ञाता हो गया। **जैसे बिजली के गिरने से पर्वत में दरार पड़ जाती है; उसी प्रकार प्रज्ञारूपी छैनी के गिरने से स्वभाव और विकार के बीच दरार पड़ जाता है तथा ज्ञान स्वोन्मुख हो जाती है और जो**

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

अनादिकालीन विपरीत परिणमन था, वह रुककर अब स्वभाव की ओर परिणमन प्रारम्भ हो जाता है। अहो! इसमें स्वभाव का अनन्त पुरुषार्थ है।

द्रव्यलिङ्गी साधु ने क्या किया ? :—

अज्ञानी को राग-द्वेष के समय ज्ञान पृथक् नहीं दिखाई देता, इसलिए वह आत्मा और बन्ध के बीच भेद नहीं जानता। आत्मा और बन्ध के बीच भेद को जाने बिना द्रव्यलिङ्गी साधु होकर नववें ग्रैवेयक तक जानेयोग्य चारित्र का पालन किया और इतनी मन्दकषाय कर ली कि यदि कोई उसे जला डाले तो भी क्रोध न करे, छह-छह महिने तक आहार न करे, तथापि भेदज्ञान के बिना अनन्त संसार में ही परिभ्रमण किया। उसने आत्मा का कुछ किया ही नहीं; मात्र बन्धभाव के प्रकार को ही बदला है।

प्रश्न — इतना सब करने पर भी कुछ नहीं?

उत्तर — जिसे ऐसा लगता है कि 'इतना सब किया'— उसके मिथ्यात्व की प्रबलता है। जो बाहर से शरीर की क्रिया इत्यादि ऊपरी दृष्टि से देखता है, उसे ऐसा लगता है कि 'इतना सब तो किया है;' किन्तु ज्ञानी कहते हैं कि उसने कुछ भी अपूर्व नहीं किया, मात्र बन्धभाव ही किया है, शरीर की क्रिया का और शुभराग का अहंकार किया है। **यदि व्यवहार से कहा जाए तो उसने पुण्यभाव किया और परमार्थ से देखा जाए तो पाप ही किया है।**

राग अथवा विकल्प से आत्मा को लाभ मानना, वह महा मिथ्यात्व है, उसे भगवान पाप ही कहते हैं। वह एक प्रकार के बन्धभाव को को छोड़कर दूसरे प्रकार का बन्धभाव

करता है, परन्तु जब तक बन्धभाव की दृष्टि को छोड़कर, अबन्ध आत्मस्वभाव को नहीं पहिचान लेता, तब तक उसने आत्मदृष्टि से कुछ नहीं किया। वास्तव में तो बन्धभाव का प्रकार भी नहीं बदला, क्योंकि उसने समस्त बन्धभावों का मूल जो मिथ्यात्व है, उसे दूर नहीं किया है।

बाह्यत्यागी..... किन्तु अन्तर-अज्ञानी अधर्मी है। :—

अज्ञानी स्वयं खाने-पीने का, वस्त्र का और रुपये-पैसे इत्यादि का राग नहीं छोड़ सकता, इसलिए वह किसी अन्य अज्ञानी के बाह्य में अन्न-वस्त्र और रुपये-पैसे इत्यादि का त्याग देखता है तो वह यह मान बैठता है कि 'उसने बहुत कुछ किया और वह मेरी अपेक्षा उच्च है;' किन्तु वह जीव भी बाहर से त्यागी होने पर भी अन्तरङ्ग में अज्ञान के महापाप का सेवन कर रहा है, वह भी उसी की जाति का है। जो अन्तरङ्ग की पहिचान किए बिना बाहर से ही अनुमान करता है, वह सत्य तक नहीं पहुँच सकता।

बाह्य अत्यागी.... किन्तु अन्तर-ज्ञानी धर्मात्मा है। :—

ऊपर जैसे त्यागी अज्ञानी का दृष्टान्त दिया है, अत्यागी ज्ञानी के सम्बन्ध में उससे उल्टा समझना चाहिए। ज्ञानी गृहस्थदशा में हो और उसके राग भी हो, तथापि उसके अन्तरङ्ग में सर्व परद्रव्यों के प्रति उदासीनभाव रहता है और वह राग का भी स्वामित्व नहीं मानता, वह धर्मात्मा है। जो ऐसे धर्मात्मा को आन्तरिक चिह्नों के द्वारा नहीं पहिचानता और बाहर से माप करता है, वह वास्तव में आत्मा को नहीं समझता। जो अन्तरङ्ग में आत्मा की पवित्र दशा को नहीं समझते, वे मात्र जड़ के संयोग से ही माप निकालते हैं। धर्मी और अधर्मी का माप, संयोग से नहीं होता, इतना ही नहीं,

www.vitragvani.com

किन्तु राग की मन्दता से भी धर्मी और अधर्मी का माप नहीं होता। धर्मी और अधर्मी का माप तो अन्तरङ्ग-अभिप्राय से निकाला जाता है।

बाह्य त्यागी और मन्द रागी होने पर भी जो बन्धभाव को अपना स्वरूप मानता है, वह अधर्मी है और बाह्य में राजपाट का संयोग हो तथा राग विशेष दूर न हुआ हो, तथापि जिसे अन्तरङ्ग में बन्धभाव से भिन्न अपने स्वरूप की प्रतीति हो, वह धर्मी है। जो शरीर की क्रिया से, बाहर के त्याग से अथवा राग की मन्दता से आत्मा की महत्ता मानता है, वह शरीर से भिन्न, संयोग से और विकार से रहित आत्मस्वभाव की हत्या करता है, वह महापापी है। स्वभाव की हिंसा का पाप सबसे बड़ा पाप है।

बाहर का बहुत-सा त्याग और बहुत-सा शुभराग करके अज्ञानी लोग यह मान बैठते हैं कि इससे हम मुक्त हो जाऐंगे, किन्तु हे भाई! तुम आत्मा के धर्म का मार्ग ही अभी नहीं जान पाया, तब फिर मुक्ति तो कहाँ से मिलेगी? अन्तरङ्ग स्वभाव का ज्ञान हुए बिना आन्तरिक शान्ति नहीं मिल सकती और विकारभाव की आकुलता दूर नहीं हो सकती।

सम्यग्ज्ञान ही मुक्ति का सरल मार्ग :—

आत्मा के स्वभाव को समझने का मार्ग सीधा और सरल है। यदि यथार्थ मार्ग को जानकर उस पर धीरे-धीरे चलने लगे तो पंथ कटने लगे, परन्तु यदि मार्ग को जाने बिना ही आँखों पर पट्टी बाँधकर तेली के बैल की तरह चाहे जितना चलता रहे तो भी वह घूम-घामकर वहीं का वहीं बना रहेगा; इसी प्रकार स्वभाव का सरल मार्ग है, उसे जाने बिना, ज्ञाननेत्रों को बन्द करके चाहे

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

जितना, उल्टा-टेढ़ा करता रहे और यह माने कि मैंने बहुत कुछ किया है; परन्तु ज्ञानी कहते हैं कि भाई! तूने कुछ नहीं किया, तू संसार में ही स्थित है, तू किञ्चित्मात्र भी आगे नहीं बढ़ा सका। **तूने अपने निर्विकार ज्ञानस्वरूप को नहीं जाना; इसलिए तू अपनी गाड़ी दौड़ाकर अधिक से अधिक अशुभ में से खींचकर शुभ में ले जाता है और उसी को धर्म मान लेता है,** परन्तु इससे तो तू घूम-घामकर पुनः वहीं का वहीं विकार में ही खड़ा रहा है। विकार-चक्र में चक्कर लगाया परन्तु विकार से छूटकर ज्ञान में नहीं आया तो तूने क्या किया? कुछ भी नहीं।

ज्ञान के बिना चाहे जितना राग कम करे अथवा त्याग करें, किन्तु यथार्थ समझ के बिना उसे सम्यग्दर्शन नहीं होगा और वह मुक्तिमार्ग की ओर कदापि नहीं जा सकेगा परन्तु वह विकार और जड़ की क्रिया में कर्तृत्व का अहंकार करके तत्त्व की विराधना से संसारमार्ग में और दुर्गति में फँसता चला जाएगा। यथार्थ ज्ञान के बिना किसी भी प्रकार आत्मा की मुक्तदशा का मार्ग हाथ नहीं आता। **जिन्होंने आत्मभान किया है, वे त्याग अथवा व्रत किए बिना भी एकावतारी हो गए, जैसे कि राजा श्रेणिक।**

संसार का मूल :—

आत्मा के स्वभाव का मार्ग सरल होने पर भी समझमें क्यों नहीं आता? इसका कारण यह है कि अज्ञानी को अनादि काल से आत्मा और राग के एकत्व का व्यामोह, भ्रम है, पागलपन है। जिसे अन्तरङ्ग में रागरहित स्वभाव की दृष्टि का बल प्राप्त है, वह आत्मानुभव की यथार्थ प्रतीति के कारण एक-दो भव में मोक्ष जाएगा और जिसे आत्मा की सच्ची प्रतीति नहीं है, ऐसा अज्ञानी

छह-छह महीने का तप करके मर जाए तो भी आत्मप्रतीति के बिना उसका एक भी भव कम नहीं होगा, क्योंकि उसे आत्मा और राग के एकत्व का व्यामोह है और वह व्यामोह ही संसार का मूल है।

अज्ञान को दूर करने का उपाय :—

यहाँ शिष्य पूछता है कि अज्ञानी का वह व्यामोह किसी प्रकार से मिटाया भी जा सकता है या नहीं? उत्तर में आचार्यदेव कहते हैं कि हाँ; प्रज्ञारूपी छैनी के द्वारा उसे अवश्य छेदा जा सकता है। जैसे अन्धकार को दूर करने का उपाय प्रकाश ही है; उसी प्रकार अज्ञान को दूर करने का उपाय सम्यग्ज्ञान ही है।

यहाँ व्यामोह का अर्थ अज्ञान है और प्रज्ञारूपी छैनी का अर्थ सम्यग्ज्ञान है। हजारों उपवास करना अथवा लाखों रुपयों का दान करना इत्यादि कोई भी उपाय, आत्मासम्बन्धी अज्ञान को दूर करने के लिए नहीं है, किन्तु आत्मा और राग की भिन्नता का सम्यग्ज्ञान ही व्यामोह को छेदने का एकमात्र उपाय है। इसी उपाय से व्यामोह को छेदकर आत्मा, मुक्तिमार्ग में प्रयाण करता है —ऐसा ज्ञानी जानते हैं।

राग और ज्ञान की सन्धि के बीच प्रज्ञारूपी छैनी की चोट कैसे पड़े? अर्थात् सम्यग्ज्ञान कैसे प्रगट हो? ज्ञान के लिए किसी न किसी अन्य साधन की आवश्यकता तो होती ही है? इसके समाधानार्थ कहते हैं कि नहीं, ज्ञान का उपाय ज्ञान ही होगी न। ज्ञान का अभ्यास ही प्रज्ञारूपी छैनी को प्रगट करने का कारण है। भक्ति, पूजा, व्रत, उपवास, त्याग इत्यादि का शुभराग, प्रज्ञा का उपाय नहीं है; स्वभाव की

www.vitragvani.com

रुचि के साथ स्वभाव का अभ्यास करना ही स्वभाव का ज्ञान प्रगट करने का उपाय है—ऐसा आचार्यदेव श्लोक द्वारा बतलाते हैं।

भगवती प्रज्ञाछैनी जिसकी अफर चोट आत्मानुभव कराती है।

(स्त्रग्धरा)

प्रज्ञाछेत्री शितेयं कथमपि निपुणैः पातिता सावधानैः।
सूक्ष्मेऽन्तः सन्धिबन्धे निपतति रभसादात्मकर्मोभयस्य॥
आत्मानं मग्नमंतः स्थिरविशदलसद्धाम्नि चैतन्यपूरे।
बंधं चाज्ञानभावे नियमितमभितः कुर्वती भिन्न भिन्नौ॥

अर्थ — यह प्रज्ञारूपी पैनी छैनी प्रवीण पुरुषों के द्वारा किसी भी प्रकार से-यत्नपूर्वक-सावधानी से (अप्रमादभाव से) चलायी जाने पर आत्मा और कर्म दोनों के सूक्ष्म अन्तरङ्ग सन्धि के बन्ध में (आन्तरिक सान्ध के जोड़ में) शीघ्र लगती है। वह कैसे सो बतलाते हैं। **आत्मा को जिसका तेज अन्तरङ्ग में स्थिर और निर्मलरूप से दैदीप्यमान है, ऐसे चैतन्य प्रवाह में मग्न करती हुई और बन्ध को अज्ञानभाव में निश्चल करती हुई, आत्मा और बन्ध को सब ओर से भिन्न-भिन्न करती हुई गिरती है।**

इस कलश में आत्मस्वभाव के पुरुषार्थ का वर्णन किया गया है, भेदज्ञान का उपाय दिखाया है। इस कलश के भाव विशेषत: परिणमन कराने योग्य हैं। 1. पैनीछैनी, 2. किसीप्रकार से, 3. निपुण पुरुषों के द्वार, 4. सावधान होकर चलाई जाने पर, 5. शीघ्र गिरती है - चलती है, इस प्रकार पुरुषार्थ के बतानेवाले पाँच विशेषण प्रयुक्त किये गये हैं।

1. **पैनी छैनी** — जैसे जड़ शरीर में से विकारी रोग को निकालने के लिये पैने और सूक्ष्म चमकते हुए शस्त्रों से ऑपरेशन किया जाता है; इसी प्रकार यहाँ चैतन्य आत्मा और रागादि विकार के बीच ऑपरेशन करके उन दोनों को पृथक् करना है, उसके लिए तीक्ष्ण और तेज प्रज्ञारूपी छैनी है अर्थात् सम्यग्ज्ञानरूपी पर्याय अन्तरङ्ग में ढ़लकर स्वभाव में मग्न होती है और राग पृथक् हो जाता है, यही भेदविज्ञान है।

2. **किसी भी प्रकार** — पहले तेईसवें कलश में कहा था कि तू किसी भी प्रकार-मरकर भी तत्त्व का कौतूहली हो, उसी प्रकार यहाँ भी कहते हैं कि किसी भी प्रकार, समस्त विश्व की परवाह न करके भी, सम्यग्ज्ञानरूपी प्रज्ञा-छैनी को आत्मा और बन्ध के बीच डाल। 'किसी भी प्रकार' के कहने से यह बात भी उड़ा दी गई है कि कर्म इत्यादि बीच में बाधक हो सकते हैं। किसी प्रकार अर्थात् तू अपने में पुरुषार्थ करके प्रज्ञारूपी छैनी के द्वारा भेदज्ञान कर। **शरीर का चाहे जो हो, किन्तु आत्मा को प्राप्त करना है** — यही एक कर्तव्य है, इस प्रकार तीव्र आकांक्षा और रुचि करके सम्यग्ज्ञान को प्रगट कर। यदि बिजली के प्रकाश में सुई में डोरा डालना हो तो उसमें कितनी एकाग्रता आवश्यक होती है! उधर बिजली चमकी कि इधर सुई में डोरा डाल दिया, इसमें एक क्षणमात्र का प्रमाद नहीं चल सकता; इसी प्रकार चैतन्य में सम्यग्ज्ञानरूपी सत् को पाने के लिए चैतन्य की एकाग्रता और तीव्र आकांक्षा होनी चाहिए। **अहो! यह चैतन्य भगवान को पहिचानने का सुयोग प्राप्त हुआ है, यहाँ प्रत्येक क्षण अमूल्य है, आत्म-प्रतीति के बिना उद्धार का कहीं कोई मार्ग नहीं,**

इसलिए अभी ही किसी भी तरह आत्म-प्रतीति कर लेनी चाहिए, इस प्रकार स्वभाव की रुचि प्रगट करने पर, विकार का बल नष्ट हो जाता है। यह विकार अपने चैतन्य की शोभा नहीं, किन्तु कलंक है। मेरा चैतन्यतत्त्व उससे भिन्न, असङ्ग है। इस प्रकार निरन्तर स्वभाव की रुचि और पुरुषार्थ के अभ्यास द्वारा प्रज्ञारूपी छैनी को चलाना चाहिए।

3. निपुण पुरुषों के द्वारा — यहाँ लौकिक निपुणता की बात नहीं, किन्तु स्वभाव का पुरुषार्थ करने में निपुणता की बात है। लौकिक बुद्धि में निपुण होने पर भी, उसे स्वयं शंका बनी रहती है कि मेरा क्या होगा? इसी प्रकार जिसे ऐसी शंका बनी रहती है कि 'तीव्र कर्म उदय में आयेंगे तो मेरा क्या होगा? यदि अभी मेरे भवशेष होंगे तो क्या होगा? मुझे प्रतिकूलता आ गई तो क्या होगा?' तो वह निपुण नहीं, किन्तु अशक्त पुरुषार्थहीन पुरुष है। जो ऐसी पुरुषार्थहीनता की बातें करता है, वह प्रज्ञारूपी छैनी का प्रहार नहीं कर सकता; इसीलिए कहा है कि 'निपुण पुरुषों के द्वारा चलायी जाने पर' अर्थात् जिसे कर्मों के उदय का लक्ष्य नहीं, किन्तु मात्र स्वभाव की प्राप्ति का ही लक्ष्य है और जिसे अपने स्वभाव की प्राप्ति के पुरुषार्थ के बल से मुक्ति की निःसन्देहता ज्ञात है, ऐसे निपुण पुरुष ही तीव्र पुरुषार्थ के द्वारा प्रज्ञारूपी छैनी को चलाकर भेदविज्ञान करते हैं।

4. सावधान होकर — अर्थात् प्रमाद और मोह को दूर करके चलानी चाहिए। **यदि एक क्षण भी सावधान होकर चैतन्य का अभ्यास करे तो अवश्य ही भेदज्ञान और मोक्ष प्राप्त हो जाये।** जो चैतन्य में सावधान है, उसे कर्म के उदय की

शंका कदापि नहीं होती। पहले अनादि काल से विकार को अपना स्वरूप मानकर असावधान हो रहा था, उसकी जगह अब चैतन्यस्वरूप के लक्ष्य से सावधान होकर, विकार का लक्ष्य छोड़ दिया। अब विकार हो तो भी 'वह मेरे चैतन्यस्वरूप से भिन्न है' इस प्रकार सावधान होकर आत्मा और बन्ध के बीच प्रज्ञारूपी छैनी चलानी चाहिए।

'प्रज्ञारूपी छैनी चलानी चाहिये' इसका अर्थ यह है कि आत्मा में सम्यग्ज्ञान को एकाग्र करना चाहिए। मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा हूँ और यह पर की ओर जानेवाली जो वृत्ति है, वह राग है; इस प्रकार **आत्मा और बन्ध के पृथक्त्व की सन्धि जानकर, ज्ञान को चैतन्यस्वभावी आत्मा में एकाग्र करने पर, राग का लक्ष्य छूट जाता है**। यही प्रज्ञा छैनी का चलाना है।

5. प्रज्ञाछैनी शीघ्र चलती है — प्रज्ञाछैनी के चलने में विलम्ब नहीं लगता, किन्तु **जिस क्षण चैतन्य में एकाग्र होता है, उसी क्षण राग और आत्मा भिन्नरूप से अनुभव में आते हैं**। यह इस समय नहीं हो सकता, यह बात नहीं है क्योंकि यह तो प्रतिक्षण कभी भी हो सकता है।

प्रज्ञाछैनी के चलने पर क्या होता है अर्थात् प्रज्ञाछैनी किस प्रकार चलती है ? अन्तरङ्ग में जिसका चैतन्य तेज स्थिर है, ऐसे ज्ञायकभाव को ज्ञायकरूप से प्रकाशित करती है। 'मैं ज्ञान हूँ'— ऐसा विकल्प भी अस्थिर है, इस विकल्प को तोड़कर सम्यग्ज्ञान मात्र चैतन्य में मग्न होता है; राग से पृथक् होकर ज्ञान चैतन्य में स्थिर होता है, इस प्रकार चैतन्य में मग्न होती हुई निर्मलरूप से प्रज्ञाछैनी चलती है और जितना पुण्य-पाप की वृत्तियों का उत्थान

है, उस सबको बन्धभाव में निश्चल करती है। इस प्रकार आत्मा को आत्मा में मग्न करती हुई और बन्ध को अज्ञानभाव में नियत करती हुई प्रज्ञाछैनी चलती है —यही पवित्र सम्यग्दर्शन है।

प्रज्ञाछैनी चलती है — इस सम्बन्ध में यहाँ क्रम से बात कही है, समझाने के लिए क्रम से कथन किया है, किन्तु वास्तव में अन्तरङ्ग में क्रम नहीं पड़ता; लेकिन **एक ही साथ विकल्प टूटकर ज्ञान निज में एकाग्र हो जाता है**। जिस समय ज्ञान निज में एकाग्र होता है, उसी समय राग से पृथक् हो जाता है, पहले ज्ञान, स्वोन्मुख हो और फिर राग अलग हो — इस प्रकार क्रम नहीं होता।

प्रश्न — इसे समझना तो कठिन मालूम होता है, इसके अतिरिक्त दूसरा कोई सरल मार्ग है या नहीं?

उत्तर — अरे भाई! इस दुनियादारी में बड़े-बड़े वेतन लेता है और कठिन कार्यों के करने में अपनी बुद्धि लगाता है, वहाँ सब कुछ समझ में आ जाता है और बुद्धि खूब काम करती है; किन्तु इस अपने आत्मा की बात समझने में बुद्धि नहीं चलती; भला यह कैसे हो सकता है? स्वयं को आत्मा की चिन्ता नहीं है और रुचि नहीं है, इसीलिए उसकी बात समझ में नहीं आती, परन्तु इसे समझे बिना मुक्ति का अन्य कोई भी उपाय नहीं है।

संसार के कार्यों में चतुराई करके राग को पुष्ट करता है और जब आत्मा को समझने का प्रयत्न करने की बात आती है तो कहता है कि मेरी समझ में नहीं आता।

लेकिन यह भी तो विचार कर कि तुझे किसके घर की बात

समझ में नहीं आती ? तू आत्मा है या जड़ है ? यदि आत्मा की समझ में यह बात नहीं आयेगी तो क्या जड़ की समझ में आयेगी ? ऐसी कोई बात ही नहीं जो चैतन्य के ज्ञान में न समझी जा सकती हो; चैतन्य में सब कुछ समझने की शक्ति है। 'समझ में नहीं आ सकता' —यह बात जड़ के घर की है। जो यह कहता है कि आत्मा की बात समझ में नहीं आ सकती, उसे आत्मा के प्रति रुचि ही नहीं; परन्तु जड़ के प्रति रुचि है। मुक्ति का मार्ग एकमात्र सम्यग्ज्ञान ही है और संसार का मार्ग भी एकमात्र अज्ञान ही है।

प्रश्न — ऐसे कठिन समय में यदि आत्मा की ऐसी गहन बातों के समझने में समय लगा देंगे तो फिर अपनी आजीविका और व्यवसाय कैसे चलेगा ?

उत्तर — जिसे आत्मा की रुचि नहीं है, किन्तु संयोग की रुचि है, उसी को यह प्रश्न उठता है। आजीविका इत्यादि का संयोग तो पूर्वकृत पुण्य के कारण मिलता है; उसमें वर्तमान पुरुषार्थ और चतुराई कार्यकारी नहीं होती। **आत्मा को समझने में न तो पूर्वकृत पुण्य काम में आता है और न वर्तमान पुण्य ही,** किन्तु वह तो पुरुषार्थ के द्वारा अपूर्व आन्तरिक संशोधन से प्राप्त होता है, वह बाह्य संशोधन से प्राप्त नहीं हो सकता। यदि तुझे आत्मा की रुचि हो तो तू पहले यह निश्चय कर कि कोई भी परवस्तु मेरी नहीं है, परवस्तु मुझे सुख-दुःख नहीं देती, मैं पर का कुछ नहीं करता; इस प्रकार सम्पूर्ण पर की दृष्टि को छोड़कर निज को देख। अपनी पर्याय में राग हो तो उस राग के कारण भी परवस्तु नहीं मिलती, इसलिए राग निरर्थक है। ऐसी मान्यता के होने पर राग के प्रति पुरुषार्थ पंगु हो जाता है। पर की क्रिया से भिन्न जान

लिया, इसलिए जब अन्तरङ्ग में राग से भिन्न जानकर, उस राग से पृथक् करने की क्रिया शेष रही। इस प्रकार एकमात्र ज्ञानक्रिया ही आत्मा का कर्तव्य है। आत्मा, पर की क्रिया कर ही नहीं सकता। पर से भिन्नत्व की प्रतीति करेनवाला आत्मा ही है। प्रज्ञारूपी छैनी के द्वारा ही आत्मा, बन्ध से भिन्नरूप में पहिचाना जाता है और यह प्रज्ञाछैनी ही मोक्ष का उपाय है।

अनादि काल से जीव ने क्या किया है? और अब क्या करना चाहिए?

अनादि काल से आज तक किसी भी क्षण में किसी जीव ने पर का कुछ किया ही नहीं, मात्र निज का लक्ष्य चूककर पर की चिन्ता की है। हे भाई! तू अपने तत्त्व की भावना को छोड़कर, परतत्त्व की जितनी चिन्ता करता है, उतना ही उस चिन्ता का बोझ तेरे ऊपर है, उसी चिन्ता का तुझे दु:ख बना रहता है, किन्तु तेरी उस चिन्ता से पर का कोई कार्य नहीं बनता और तेर अपना कार्य बिगड़ता जाता है। इसलिए हे भाई! अनादि काल से आज तक की तेरी परसम्बन्धी समस्त चिन्ताएँ असत्य सिद्ध हुई और वे सब निष्फल गई, इसलिए अब प्रज्ञा के द्वारा अपने भिन्न स्वरूप को जानकर, उसमें एकाग्र हो; पर की चिन्ता करना तेरा स्वरूप नहीं; इसलिए निश्चिन्त होकर, निज स्वरूप के चिन्तन द्वारा तेरे स्वकार्य को साध!

तू परवस्तुओं को अपनी मानकर उनकी चिन्ता किया करे तो भी पर वस्तुओं का जो परिणमन होना है, वही होगा! और तू परवस्तुओं को भिन्न जानकर उनका लक्ष्य छोड़ दे तो भी वे तो स्वयं परिणमित होती ही रहेंगी। तेरी चिन्ता हो या न हो, उसके

साथ परवस्तुओं के परिणमन का कोई सम्बन्ध नहीं है। इसलिए हे जीव! तू पर की व्यर्थ चिन्ता छोड़कर, स्व में एकाग्र हो!

अनादि काल से आत्मा ने पर का कुछ नहीं किया, अपने को भूलकर मात्र पर की चिन्ता की है। किन्तु हे आत्मन्! प्रारम्भ से अन्त तक की तेरी समस्त चिन्ताएँ निष्फल हो गई हैं, इसलिए अब तो स्वरूप की भावना कर और शरीरादिक परवस्तु की चिन्ता छोड़कर निज को देख। अपने को पहिचानने पर, पर की चिन्ता छूट जायेगी और आत्मा की शान्ति का अनुभव होगा। तुझे अपने धर्म का सम्बन्ध आत्मा के साथ रखना है या पर के साथ? यहाँ यह बताया है कि आत्मा के धर्म का सम्बन्ध किसके साथ है?

मैं चाहे जहाँ होऊँ; किन्तु मेरी पर्याय का सम्बन्ध मेरे द्रव्य के साथ है, बाह्य संयोग के साथ नहीं है। चाहे जिस क्षेत्र में हों, किन्तु आत्मा का धर्म तो आत्मा में से ही उत्पन्न होता है, शरीर में से या संयोग में से धर्म की उत्पत्ति नहीं होती। जो ऐसी स्वाधीनता की श्रद्धा और ज्ञान करता है, उसे कहाँ आत्मा के साथ सम्बन्ध नहीं होगा? और जिसे ऐसी श्रद्धा तथा ज्ञान होता है, वह कहाँ शरीरादि का सम्बन्ध मानेगा? **उसे कभी स्वभाव का सम्बन्ध नहीं टूटेगा और पर का सम्बन्ध वहीं न मानेगा - बस, यही धर्म है और इससे ही मुक्ति है।**

एक सैकेण्डमात्र का भेदज्ञान अनन्त भव का नाश करके मुक्ति प्राप्त कराता है; इसलिए वह भेदज्ञान निरन्तर भानेयोग्य है।

दर्शनशुद्धि से ही आत्मसिद्धि

जीवन का कर्तव्य

अध्यात्मतत्त्व की बात समझने को आनेवाले जिज्ञासु के वैराग्य और कषाय की मन्दता अवश्य होती है अथवा यह कहना चाहिए कि जिसे वैराग्य होता है और कषाय की मन्दता होती है, उसी को स्वरूप को समझने की जिज्ञासा जागृत होती है। मन्दकषाय की बात तो सभी करते हैं, किन्तु सर्व कषाय से रहित अपने आत्मतत्त्व के स्वरूप को समझकर, जन्म-मरण के अन्त की नि:शंकता आ जाए ऐसी बात जिनधर्म में ही है। अनन्त काल में तत्त्व को समझने का सुयोग प्राप्त हुआ है और शरीर के छूटने का समय आ गया है, इस समय भी यदि कषाय को छोड़कर आत्मस्वरूप को नहीं समझेगा तो फिर कब समझेगा? पुरुषार्थसिद्धि-उपाय में कहा गया है कि पहले जिज्ञासु जीव को सम्यग्दर्शनपूर्वक मुनिधर्म का उपदेश देना चाहिए, किन्तु यहाँ तो पहले सम्यग्दर्शन प्रगट करने की बात कही जा रही है।

हे भाई! मानवजीवन की देहस्थिति पूर्ण होने पर, यदि स्वभाव की रुचि और परिणति साथ में न ले गया तो तूने इस मानवजीवन में कोई आत्मकार्य नहीं किया। शरीर त्याग करके जानेवाले जीव के साथ क्या जानेवाला है? यदि जीवन में तत्त्व समझने का प्रयत्न किया होगा तो ममतारहित स्वरूप की रुचि और परिणति साथ में ले जाएगा और यदि ऐसा प्रयत्न नहीं किया तथा पर का ममत्व करने में ही जीवन व्यतीत कर दिया तो उसके साथ मात्र ममतभाव

की आकुलता के अतिरिक्त दूसरा कुछ भी जानेवाला नहीं है। किसी भी जीव के साथ परवस्तुएँ नहीं जातीं; मात्र अपना भाव ही साथ ले जाता है। इसलिए आचार्यदेव कहते हैं कि चेतना के द्वारा आत्मा का ग्रहण करना चाहिए। जिस चेतना के द्वारा आत्मा का ग्रहण किया है, वह सदा आत्मा में ही है। **जिसने चेतना के द्वारा शुद्ध आत्मा को जान लिया है, वह कभी भी परपदार्थ का या परभावों को आत्मस्वभाव के रूप में ग्रहण नहीं करता, किन्तु शुद्धात्मा को ही अपने रूप में जानकर उसका ग्रहण करता है; इसलिए वह सदा अपने आत्मा में ही है।**

यदि कोई पूछे कि भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेव कहाँ हैं ? तो ज्ञानी उत्तर देता है, कि वास्तव में कुन्दकुन्दाचार्य आदि स्वर्गादिक बाह्य क्षेत्रों में नहीं; किन्तु अपने आत्मा में ही हैं। जिसने कभी किसी परपदार्थ को अपना नहीं माना और एक चेतना स्वभाव को ही निजस्वरूप से अङ्गीकार किया है, वह चेतनास्वभाव के अतिरिक्त अन्यत्र कहाँ जायेगा ? जिसने चेतना के द्वारा अपना आत्मा ग्रहण किया है, वह सदा अपने आत्मा में ही टिका रहता है। जिसमें जिसकी दृष्टि पड़ी है, उसमें वह सदा बना रहता है।

वास्तव में कोई भी जीव अपनी चैतन्य भूमिका से बाहर नहीं रहता, किन्तु अपनी चैतन्य भूमिका में जैसे भाव करता है, वैसे ही भावों में रहता है। ज्ञानी, ज्ञानभाव में और अज्ञानी, अज्ञानभाव में रहता है। बाहर से चाहे जो क्षेत्र हो, किन्तु जीव अपनी चैतन्य भूमिका में जो भाव करता है, उसी भाव को वह भोगता है, बाह्य संयोग को नहीं भोगता।

(— श्री समयप्राभृत गाथा 297 के व्याख्यान से)

कल्याण की मूर्ति

हे भव्य जीवों! यदि तुम आत्मकल्याण करना चाहते हो तो स्वतः शुद्ध और सर्वप्रकार से परिपूर्ण आत्मस्वभाव की रुचि और विश्वास करो तथा उसी का लक्ष्य और आश्रय ग्रहण करो; इसके अतिरिक्त अन्य समस्त रुचि, लक्ष्य और आश्रय का त्याग करो। स्वाधीन स्वभाव में ही सुख है; परद्रव्य तुम्हें सुख या दुःख देने के लिये समर्थ नहीं है। तुम अपने स्वाधीन स्वभाव का आश्रय छोड़कर अपने ही दोषों से पराश्रय के द्वारा अनादि काल से अपना अपार अकल्याण कर रहो हो! इसलिए अब सर्व परद्रव्यों का लक्ष्य और आश्रय छोड़कर, स्वद्रव्य का ज्ञान, श्रद्धान तथा स्थिरता करो।

स्वद्रव्य के दो पहलू हैं — एक त्रिकालशुद्ध स्वतः परिपूर्ण निरपेक्ष स्वभाव और दूसरा क्षणिक, वर्तमान में होनेवाली विकारी पर्याय अवस्था। पर्याय स्वयं अस्थिर है; इसलिए उसके लक्ष्य से पूर्णता की प्रतीतिरूप सम्यग्दर्शन प्रगट नहीं होता, किन्तु जो त्रिकालस्वभाव है, वह सदा शुद्ध है, परिपूर्ण है और वर्तमान में भी वह प्रकाशमान है; इसलिए उसके आश्रय तथा लक्ष्य से पूर्णताा की प्रतीतिरूप सम्यग्दर्शन प्रगट होगा। यह सम्यग्दर्शन स्वयं कल्याणरूप है और यही सर्वकल्याण का मूल है। ज्ञानीजन सम्यग्दर्शन को 'कल्याणमूर्ति' कहते हैं। इसलिए सर्व प्रथम सम्यग्दर्शन प्रगट करने का अभ्यास करो।

धर्म का मूल सम्यग्दर्शन है

अज्ञानियों की यह मिथ्या मान्यता है कि शुभभाव, धर्म का कारण है परन्तु शुभभाव तो विकार है, वह धर्म का कारण नहीं, सम्यग्दर्शन स्वयं धर्म है और वही धर्म का मूलकारण है।

अज्ञानी का शुभभाव, अशुभ की सीढ़ी है और ज्ञानी के शुभ का अभाव, शुद्धता की सीढ़ी है। अशुभ से सीधा शुद्धभाव किसी भी जीव के नहीं हो सकता; किन्तु अशुभ को छोड़कर पहले शुभभाव होता है और उस शुभ को छोड़कर शुद्ध में जाया जाता है; इसलिए शुद्धभाव से पूर्व शुभभाव का ही अस्तित्व होता है। ऐसा ज्ञान मात्र कराने के लिये शास्त्र में शुभभाव को शुद्धभाव का कारण उपचार से ही कहा है; किन्तु यदि शुभभाव को शुद्धभाव का कारण वास्तव में माना जाए तो उस जीव को शुभभाव की रुचि है; इसलिए उसका वह शुभभाव, पाप का ही मूल कहलायेगा। जो जीव, शुभभाव से धर्म मानकर, शुभभाव करता है, उस जीव को उस शुभभाव के समय ही मिथ्यात्व के सबसे बड़े महापाप का बन्ध होता है, अर्थात् उसे मुख्यतया तो अशुभ का ही बन्ध होता है और ज्ञानी जीव यह जानता है कि इस शुभ का अभाव करने से ही शुद्धता होती है; इसलिए उनके कदापि शुभ की रुचि नहीं होती, अर्थात् वे अल्प काल में शुभ का भी अभाव करके शुद्धभावरूप हो जाते हैं।

मिथ्यादृष्टि जीव, पुण्य की रुचिसहित शुभभाव करके नववें

ग्रैवेयक तक गया, तथापि वहाँ से निकलकर निगोदादि मे गया, क्योंकि मिथ्यात्वी का शुभभाव भी पाप का मूल है। शुभभाव, मोहरूपी राजा की कड़ी है। जो उस शुभराग की रुचि करता है, वही मोहरूपी राजा के जाल में फँसकर संसार में परिभ्रमण करता रहता है। जीव मुख्यतया अशुभ में तो धर्म मानता ही नहीं परन्तु शुभ में धर्म मानकर वह जीव अज्ञानी होता है। जो स्वयं अधर्मरूप है, ऐसा रागभाव, धर्म के लिये कैसे सहायक हो सकता है ?

धर्म का कारण धर्मरूप भाव होता है या अधर्मरूप भाव होता है ? अधर्मरूप भाव का नाश होना ही धर्म का कारण है, अर्थात् सम्यक्श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र द्वारा **अशुभ तथा शुभभाव का नाश होना ही धर्मभाव का कारण है।**

शुभभाव धर्म की सीढ़ी नहीं है, किन्तु सम्यक् समझ ही धर्म की सीढ़ी है, केवलज्ञानदशा सम्पूर्ण धर्म है और सम्यक् समझ अंशत: धर्म (श्रद्धानरूपी धर्म) है। वह श्रद्धारूपी धर्म ही धर्म की पहली सीढ़ी है। इस प्रकार धर्म की सीढ़ी धर्मरूप ही है, किन्तु अधर्मरूप शुभभाव कदापि धर्म की सीढ़ी नहीं है।

श्रद्धाधर्म के बाद ही चारित्र धर्म हो सकता है, इसलिए श्रद्धारूपी धर्म, उस धर्म की सीढ़ी है। भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने कहा है कि '**दंसण मूलो धम्मो**' अर्थात् धर्म का मूल दर्शन है।

बन्ध-मोक्ष का कारण

परद्रव्यों का चिन्तन, वह बन्धन का कारण है और केवल विशुद्ध स्वद्रव्य का चिन्तन ही मोक्ष का कारण है।

(—तत्त्वज्ञानतरंगिणी - 15-16)

सम्यग्दर्शन गुण है या पर्याय ?

सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र की एकता मोक्षमार्ग है। इनमें से सम्यग्दर्शन भी मोक्षमार्गरूप है। मोक्षमार्ग, पर्याय है; गुण नहीं। यदि मोक्षमार्ग, गुण हो तो वह समस्त जीवों में सदा रहना चाहिए। गुण का न तो कभी नाश होता और न कभी उत्पत्ति ही होती है। मोक्षमार्ग पर्याय है, इसलिए उसकी उत्पत्ति होती है और मोक्षदशा के प्रगट होने पर, उस मोक्षमार्ग का व्यय हो जाता है। बहुत से लोग, सम्यग्दर्शन को त्रैकालिक गुण मानते हैं; परन्तु सम्यग्दर्शन तो आत्मा के त्रैकालिक श्रद्धागुण की निर्मलपर्याय है, गुण नहीं है।

गुण की परिभाषा यह है कि — 'जो द्रव्य के सम्पूर्ण भाग में और उसकी सभी अवस्थाओं में व्याप्त रहता है, वह गुण है।' यदि सम्यग्दर्शन गुण हो तो वह आत्मा की समस्त अवस्थाओं में रहना चाहिए; परन्तु यह तो स्पष्ट है कि सम्यग्दर्शन, आत्मा की मिथ्यात्वदशा में नहीं रहता; इससे सिद्ध है कि सम्यग्दर्शन, गुण नहीं; किन्तु पर्याय है। जो गुण होता है, वह त्रिकाल होता है और जो पर्याय होती है, वह नयी प्रगट होती है। गुण नया प्रगट नहीं होता, किन्तु पर्याय प्रगट होती है। सम्यग्दर्शन नया प्रगट होता है, इसलिए वह गुण नहीं, किन्तु पर्याय है। पर्याय का लक्षण उत्पाद-व्यय है और गुण का लक्षण ध्रौव्य है।

यदि सम्यग्दर्शन स्वयं गुण हो तो उस गुण की पर्याय क्या है ? 'श्रद्धा' नामक गुण है और सम्यग्दर्शन (सम्यक्श्रद्धा) तथा

www.vitragvani.com

मिथ्यादर्शन (मिथ्याश्रद्धा) दोनों उसकी पर्याय हैं। सम्यग्दर्शन शुद्ध पर्याय है और मिथ्यादर्शन अशुद्ध पर्याय है।

प्रश्न — यदि सम्यग्दर्शन को पर्याय माना जाये तो उसकी महिमा समाप्त हो जायेगी; क्योंकि पर्याय तो क्षणिक होती है और पर्यायदृष्टि को शास्त्र में मिथ्यात्व कहा है।

उत्तर — सम्यग्दर्शन को पर्याय मानने से उसकी महिमा में कोई कमी नहीं आ सकती। केवलज्ञान भी पर्याय है और सिद्धत्व भी पर्याय है। जो जैसी है, वैसी ही पर्याय को पर्यायरूप में जानने से उसकी यथार्थ महिमा बढ़ती है। यद्यपि सम्यग्दर्शन पर्याय क्षणिक है; किन्तु उस सम्यग्दर्शन का कार्य क्या है ? सम्यग्दर्शन का कार्य अखण्ड त्रैकालिक द्रव्य की प्रतीति करता है और वह पर्याय त्रैकालिक द्रव्य के साथ एकाकार होती है; इसलिए उसकी अपार महिमा है। इस प्रकार सम्यग्दर्शन को पर्याय मानने से उसकी महिमा समाप्त नहीं हो जाती। किसी वस्तु के काल को लेकर उसकी महिमा नहीं है, किन्तु उसके भाव को लेकर उसकी महिमा है और फिर यह भी सच ही है कि पर्यायदृष्टि को शास्त्र में मिथ्यात्व कहा है परन्तु साथ ही यह जान लेना चाहिए कि पर्यायदृष्टि का अर्थ क्या है ? सम्यग्दर्शन पर्याय है और पर्याय को पर्याय के रूप में जानना, पर्यायदृष्टि नहीं है। द्रव्य को द्रव्य के रूप में और पर्याय को पर्याय के रूप में जानना, सम्यग्ज्ञान का काम है। यदि पर्याय को ही द्रव्य मान ले अर्थात् एक पर्याय जितना ही समस्त द्रव्य को मान ले तो उस पर्याय के लक्ष्य में ही अटक जाएगा — पर्याय के लक्ष्य से हटकर द्रव्य का लक्ष्य नहीं कर सकेगा; इसका नाम पर्यायदृष्टि है। सम्यग्दर्शन को पर्याय के रूप में जानना चाहिए।

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

श्रद्धागुण तो आत्मा के साथ त्रिकाल रहता है, इस प्रकार द्रव्य-गुण को त्रिकालरूप जानकर उसकी प्रतीति करना, सो द्रव्यदृष्टि है और यही सम्यग्दर्शन है।

जो जीव, सम्यग्दर्शन को गुण मानते हैं, वे सम्यग्दर्शन को प्रगट करने का पुरुषार्थ क्यों करेंगे? क्योंकि गुण तो त्रिकाल रहनेवाला है; इसलिए कोई जीव, सम्यग्दर्शन को प्रगट करने का पुरुषार्थ नहीं करेगा और इसलिए उसे कदापि सम्यग्दर्शन प्रगट नहीं होगा; मिथ्यात्व दूर नहीं होगा। यदि सम्यग्दर्शन को पर्याय के रूप में जाने तो नयी पर्याय को प्रगट करने का पुरुषार्थ करेगा। जो पर्याय होती है, वह त्रैकालिक गुण के आश्रय से होती है और गुण, द्रव्य के साथ एकरूप होता है अर्थात् सम्यग्दर्शन पर्याय, श्रद्धागुण में से प्रगट होती है और श्रद्धागुण, आत्मा के साथ त्रिकाल है, इस प्रकार त्रिकाल द्रव्य के लक्ष्य से सम्यग्दर्शन का पुरुषार्थ प्रगट होता है। जिसने सम्यग्दर्शन को गुण ही मान लिया है, उसे कोई पुरुषार्थ करने की आवश्यकता नहीं रह जाती। सम्यग्दर्शन नवीन प्रगट होनेवाली निर्मलपर्याय है, जो इसे नहीं मानता, वह वास्तव में अपनी निर्मलपर्याय को प्रगट करनेवाले पुरुषार्थ को ही नहीं मानता।

शास्त्र में पाँच भावों का वर्णन करते हुए औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक भाव के भेदों में सम्यग्दर्शन को गिनाया है। यह औपशमिकादिक तीनों भाव, पर्यायरूप हैं; इसलिए सम्यग्दर्शन भी पर्यायरूप ही है। यदि सम्यग्दर्शन गुण हो तो गुण को औपशमिकादि की अपेक्षा लागू नहीं हो सकती और इसलिए 'औपशमिक सम्यग्दर्शन' इत्यादि भेद भी नहीं बन सकेंगे, क्योंकि सम्यग्दर्शन,

गुण नहीं, पर्याय है; इसलिए उसे औपशमिकभाव इत्यादि की अपेक्षा लागू पड़ती है।

शास्त्रों में कहीं-कहीं अभेदनय की अपेक्षा से सम्यग्दर्शन को आत्मा कहा गया है, इसका कारण यह है कि वहाँ द्रव्य-गुण-पर्याय के भेद का लक्ष्य और विकल्प छुड़ाकर अभेद द्रव्य का लक्ष्य कराने का प्रयोजन है। द्रव्यार्थिकनय से द्रव्य-गुण-पर्याय में भेद नहीं है, इसलिए इस नय से तो द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों द्रव्य ही हैं, किन्तु जब पर्यायार्थिकनय से द्रव्य-गुण-पर्याय के भिन्न-भिन्न स्वरूप का विचार करना होता है, तब जो द्रव्य है, वह गुण नहीं और गुण है, वह पर्याय नहीं; क्योंकि इन तीनों के लक्षण भिन्न-भिन्न हैं। द्रव्य-गुण-पर्याय के स्वरूप को जैसा का तैसा जानने के बाद उसके भेद का विकल्प तोड़कर, अभेद द्रव्य ही अनुभव में आता है — यह बताने के लिये शास्त्र में द्रव्य-गुण-पर्याय को अभिन्न कहा गया है; परन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिए कि सम्यग्दर्शन त्रैकालिक द्रव्य अथवा गुण है, किन्तु सम्यग्दर्शन, पर्याय ही है।

सम्यग्दर्शन को कहीं-कहीं गुण भी कहा जाता है, किन्तु वास्तव में तो वह श्रद्धागुण की निर्मलपर्याय है, किन्तु जैसे गुण त्रिकाल निर्मल है, वैसे ही उसकी वर्तमान पर्याय भी निर्मल हो जाने से अर्थात् निर्मल पर्याय, गुण के साथ अभेद हो जाने से अभेदनय की अपेक्षा से उस पर्याय को भी गुण कहा जाता है।

श्री अमृतचन्द्राचार्यदेव ने प्रवचनसार में चारित्राधिकार की 42वीं गाथा की टीका में सम्यग्दर्शन को स्पष्टतया पर्याय कहा है। **(देखो पृष्ठ 335)** तथा उसी में ज्ञानाधिकार की 8वीं गाथा की

टीका में श्री जयसेनाचार्य ने बारम्बार 'सम्यक्त्व पर्याय' शब्द का प्रयोग करके यह स्पष्ट कर दिया है कि सम्यग्दर्शन पर्याय है।

(देखो पृष्ठ 136-137-138)

यह ऊपर बताया जा चुका है कि सम्यग्दर्शन, श्रद्धागुण की निर्मल पर्याय है। 'श्रद्धा' गुण को 'सम्यक्त्व' गुण के नाम से भी पहिचाना जाता है; इसलिए पञ्चाध्यायी (अध्याय 2, गाथा 945) में सम्यक्त्व को त्रैकालिक गुण कहा है, वहाँ सम्यक्त्वगुण को श्रद्धागुण ही समझना चाहिए। इस प्रकार सम्यक्त्व को गुण के रूप में जानना चाहिए। सम्यक्त्वगुण की निर्मलपर्याय सम्यग्दर्शन है। कहीं-कहीं सम्यग्दर्शन पर्याय को भी 'सम्यक्त्व' कहा गया है।

सम्यक्त्व—श्रद्धागुण—की दो प्रकार की पर्यायें हैं। एक सम्यग्दर्शन, दूसरी मिथ्यादर्शन। जीवों के अनादि काल से श्रद्धागुण की पर्याय मिथ्यात्वरूप होती है। अपने पुरुषार्थ के द्वारा भव्य जीव उस मिथ्यात्व पर्याय को दूर करके सम्यक्त्व पर्याय को प्रगट कर सकते हैं। सम्यक्दर्शन पर्याय के प्रगट होने पर, गुण-पर्याय की अभेद विवक्षा से यह भी कहा जाता है कि 'सम्यक्त्वगुण प्रगट हुआ है'। जैसे शुद्ध त्रैकालिक गुण हैं, वैसी ही शुद्धपर्यायें सिद्धदशा में प्रगट होती हैं; इसलिए सिद्धभगवान के सम्यक्त्व इत्यादि आठ गुण होते हैं - ऐसा कहा जाता है। **द्रव्य-गुण-पर्याय की भेददृष्टि से देखने पर यह समझना चाहिए कि वास्तव में वे सम्यक्त्वादिक आठ गुण नहीं, किन्तु पर्यायें हैं।**

श्रद्धागुण की निर्मलपर्याय सम्यग्दर्शन है, यह व्याख्या गुण और पर्याय के स्वरूप का भेद समझने के लिए है। गुण त्रैकालिक

शक्तिरूप होता है और पर्याय प्रतिसमय व्यक्तिरूप होती है। गुण से कार्य नहीं होता, किन्तु पर्याय से होता है। पर्याय प्रति समय बदलती रहती है; इसलिए प्रति समय नयी पर्याय का उत्पाद और पुरानी पर्याय का व्यय होता ही रहता है। जब श्रद्धागुण की क्षायिकपर्याय (क्षायिकसम्यग्दर्शन) प्रगट होती है, तब से अनन्त काल तक वैसी ही रहती है; तथापि प्रतिसमय नयी पर्याय की उत्पत्ति और पुरानी पर्याय का व्यय होता ही रहता है। इस प्रकार सम्यग्दर्शन, श्रद्धागुण की एक ही समयमात्र की निर्मलपर्याय है।

श्री उमास्वामी आचार्य ने तत्त्वार्थसूत्र के पहले अध्याय के दूसरे सूत्र में कहा है — "**तत्त्वार्थ श्रद्धानं सम्यग्दर्शनं**" यहाँ 'श्रद्धान' श्रद्धागुण की पर्याय है; इस प्रकार सम्यग्दर्शनपर्याय को अभेदनय से श्रद्धा भी कहा जाता है। नियमसार शास्त्र की 13वीं गाथा में श्रद्धा को गुण कहा है। श्री समयसारजी की 155वीं में श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने कहा कि— "**जीवादि श्रद्धानं सम्यक्त्वं**", यहाँ भी 'श्रद्धान' श्रद्धागुण की पर्याय है —ऐसा समझना चाहिए।

उपरोक्त कथन से सिद्ध हुआ कि सम्यग्दर्शन, श्रद्धागुण की (सम्यक्त्वगुण की) एक समयमात्र की पर्याय ही है और ज्ञानीजन किसी समय अभेदनय की अपेक्षा से उसे 'सम्यक्त्वगुण' के रूप में अथवा आत्मा के रूप में बतलाते हैं।

सम्यक्त्व सिद्धिसुख का दाता है!

प्रज्ञा, मैत्री, समता, करुणा तथा क्षमा—इन सबका सेवन यदि सम्यक्त्वसहित किया जाए तो वह सिद्धि सुख को देनेवाले हैं।

(—सार समुच्चय)

हे जीवो! सम्यक्त्व की आराधना करो

जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष– इन सात तत्त्वों का यथावत् निश्चय, आत्मा में उनका वास्तविक प्रतिभास ही सम्यग्दर्शन है। पण्डित और बुद्धिमान मुमुक्षु को मोक्षस्वरूप परम सुखस्थान में निर्विघ्न पहुँचाने में यह पहली सीढ़ीरूप है। ज्ञान, चारित्र और तप —ये तीनों सम्यक्त्वसहित हों, तभी मोक्षार्थ से सफल हैं, वन्दनीय हैं, कार्यगत हैं; अन्यथा वही (ज्ञान, चारित्र और तप) संसार के कारणरूप से ही परिणमित होते रहते हैं। संक्षेप में — सम्यक्त्वरहित ज्ञान ही अज्ञान है; सम्यक्त्वरहित चारित्र ही कषाय; और सम्यक्त्वरहित तप ही कायक्लेश है। ज्ञान, चारित्र और तप —इन तीनों गुणों को उज्ज्वल करनेवाली —ऐसी यह सम्यक्श्रद्धा प्रथम आराधना है, शेष तीन आराधनायें एक सम्यक्त्व की विद्यमानता में ही आराधकभावरूप वर्तती हैं। इस प्रकार सम्यक्त्व की अकथ्य और अपूर्व महिमा जानकर, उस पवित्र कल्याणमूर्तिरूप सम्यग्दर्शन को, इस अनन्तानन्त दु:खरूप अनादि संसार की आत्यंतिक निवृत्ति के अर्थ, हे भव्यों! तुम भक्ति-भावपूर्वक अङ्गीकार करो, प्रति समय आराधना करो।

(— श्री आत्मानुशासन पृष्ठ 9)

चार आराधनाओं में सम्यक्त्व - आराधना को प्रथम कहने का क्या कारण है? — ऐसा प्रश्न शिष्य को होने पर आचार्यदेव उसका समाधान करते हैं —

www.vitragvani.com

शम बोध वृत्त तपसां, पाषाणस्यैव गौरवं पुंषः ।
पूज्यं महामणेरिव, तदेव सम्यक्त्व संयुक्तम् ॥ 15 ॥

आत्मा को मन्दकषायरूप उपशमभाव, शास्त्राभ्यासरूप ज्ञान, पाप के त्यागरूप चारित्र और अनशनादिरूप तप — इनका जो महत्पना है, वह सम्यक्त्व के बिना मात्र पाषाण के बोझ के समान है — आत्मार्थ फलदायी नहीं है, परन्तु यदि वही सामग्री, सम्यक्त्वसहित हो तो महामणि समान पूजनीक हो जाती है, अर्थात् वास्तविक फलदायी और उत्कृष्ट महिमा-योग्य होती है।

पाषाण और मणि — ये दोनों एक पत्थर की ही जाति के हैं, अर्थात् जाति-अपेक्षा से तो ये दोनों एक हैं, तथापि शोभा, झलक आदि के विशेषपने के कारण मणि का थोड़ा-सा भार वहन करे तो भी भारी महत्त्व को प्राप्त होता है, किन्तु पाषाण का अधिक भार उसके उठानेवाले को मात्र कष्टरूप ही होता है; उसी प्रकार मिथ्यात्व -क्रिया और सम्यक्त्व क्रिया — दोनों क्रिया की अपेक्षा से तो एक ही हैं, तथापि अभिप्राय के सत्-असत्पने के तथा वस्तु के भान -बेभानपने के कारण को लेकर मिथ्यात्वसहित क्रिया का अधिक भार वहन करे तो भी वास्तविक महिमायुक्त और आत्मलाभपने को प्राप्त नहीं होता, परन्तु सम्यक्त्वसहित अल्प भी क्रिया यथार्थ आत्मलाभदाता और अति महिमा योग्य होती है।

(— श्री आत्मानुशासन पृष्ठ 11)

सम्यग्दर्शन - प्राप्ति का उपाय

जय अरहन्त!......

(प्रवचनसार की 80वीं गाथा पर पूज्यश्री कानजीस्वामी का प्रवचन)*

आचार्यदेव कहते हैं कि मैं शुद्धोपयोग की प्राप्ति के लिये कटिबद्ध हुआ हूँ, जैसे पहलवान (योद्धा) कमर बाँधकर लड़ने के लिये तैयार होता है; उसी प्रकार मैं अपने पुरुषार्थ के बल से मोहमल्ल का नाश करने के लिये कमर कसकर तैयार हुआ हूँ।

मोक्षभिलाषी जीव अपने पुरुषार्थ के द्वारा मोह के नाश करने का उपाय विचारता है। भगवान के उपदेश में पुरुषार्थ करने का कथन है। भगवान, पुरुषार्थ के द्वारा मुक्ति को प्राप्त हो चुके हैं और भगवान ने जो उपाय किया, वही उपाय बताया है, यदि जीव वह उपाय करे तो ही उसे मुक्ति हो, अर्थात् पुरुषार्थ के द्वारा सत्य उपाय करने से ही मुक्ति होती है, अपने आप नहीं होती।

यदि कोई कहे कि — ''केवली भगवान ने तो सब कुछ जान लिया है कि कौन-सा जीव कब मुक्त होगा और कौन जीव मुक्त नहीं होगा? तो फिर भगवान, पुरुषार्थ करने की क्यों कहते हैं?''—

*__नोट__— यह प्रवचन, पूज्य गुरुदेवश्री की उपस्थिति में सोनगढ़ से प्रकाशित सम्यग्दर्शन, भाग-1 हिन्दी में प्रकाशित हुआ है। आत्मधर्म के तीसरे वर्ष के अंक में भी यह प्रचन उपलब्ध है। गुजराती प्रकाशन में यह प्रवचन नहीं है, किन्तु बोल के रूप में यह विषय वस्तु दी गयी है। —सम्पादक

तो ऐसा कहनेवाले की बात मिथ्या है। भगवान ने तो पुरुषार्थ का ही उपदेश दिया है। भगवान के केवलज्ञान का निर्णय भी पुरुषार्थ के द्वारा ही होता है। जो जीव, भगवान के कहे हुए मोक्षमार्ग का पुरुषार्थ करता है, उसे अन्य सर्वसाधन स्वयं प्राप्त हो जाते हैं।

अब 80-81-82 इन तीन गाथाओं में बहुत सुन्दर बात आती है। जैसे माता अपने इकलौते पुत्र को हृदय का हार कहती है; उसी प्रकार ये तीनों गाथायें हृदय का हार हैं। यह मोक्ष की माला के गुंफित मोती हैं। ये तीनों गाथायें तो तीन रत्न (श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र) के सदृश हैं। उनमें पहली 80वीं गाथा में मोह के क्षय करने का उपाय बतलाते हैं—

जो जाणदि अरहन्त दव्वत्त-गुणत्त-पज्जयत्तेहिं।
सो जाणदि अप्पाणं मोहो खलु जादि तस्स लयं॥ 80॥
जो जानता अरिहन्त को, नित द्रव्य-गुण-पर्याय से।
वह जानता निज-आत्मा को, अरु करे मोह-क्षय नियम से॥ 80॥

अर्थ — जो अरहन्त को द्रव्यरूप से, गुणरूप से और पर्यायरूप से जानता है, वह (अपने) आत्मा को जानता है और उसका मोह अवश्य नाश को प्राप्त होता है।

इस गाथा में मोह की सेना को जीतने के पुरुषार्थ का विचार करते हैं। जहाँ मोह के जीतने का पुरुषार्थ किया, वहाँ अरहन्तादि निमित्त उपस्थित होते ही हैं। जहाँ उपादान जागृत हुआ, वहाँ निमित्त तो होता ही है। काल आदि निमित्त तो सर्व जीव के सदा उपस्थित रहते हैं, जीव स्वयं जिस प्रकार का पुरुषार्थ करता है, उसमें काल को निमित्त कहा जाता है। जब कोई जीव, शुभभाव

करके स्वर्ग में जाए तो उस जीव के लिए वह काल, स्वर्ग का निमित्त कहलाता है। यदि दूसरा जीव उसी समय पाप करके नरक में जाए तो उसके लिये उसी काल को नरक का निमित्त कहा जाता है और कोई जीव उसी समय स्वरूप समझकर, स्थिरता करके, मोक्ष प्राप्त करके तो उस जीव के लिये वही काल, मोक्ष का निमित्त कहलाता है। निमित्त तो हमेशा विद्यमान हैं, किन्तु जब स्वयं अपने पुरुषार्थ के द्वारा अरहन्त के स्वरूप का और अपने आत्मा का निर्णय करता है, तब क्षायिक सम्यक्त्व अवश्य प्रगट होता है और मोह का नाश होता है।

जिसने अरहन्त भगवान के द्रव्य-गुण-पर्याय के स्वरूप को जाना है, वह जीव अल्प काल में मुक्ति का पात्र हुआ है। अरहन्त भगवान, आत्मा हैं; उनमें अनन्त गुण हैं; उनकी केवल-ज्ञानादि पर्यायें हैं —उनके निर्णय में आत्मा के अनन्त गुण और पूर्ण पर्याय की सामर्थ्य का निर्णय आ जाता है। उस निर्णय के बल से अल्प काल में केवलज्ञान प्राप्त हो जाता है, इसमें सन्देह को कहीं स्थान नहीं है। यहाँ इस गाथा में क्षायिक सम्यक्त्व की ध्वनि है।

'जो अरहन्त को द्रव्यरूप में, गुणरूप में और पर्यायरूप में जानता है वह' —इस कथन में जाननेवाले के ज्ञान की महत्ता समाविष्ट है। अरहन्त को जाननेवाले ज्ञान में मोहक्षय का उपाय समाविष्ट कर दिया है। जिस ज्ञान ने अरहन्त भगवान के द्रव्य-गुण-पर्याय को अपने निर्णय में समावेश किया है, उस ज्ञान ने परमार्थतः कर्म का और विकार का अपने में अभाव स्वीकार किया है, अर्थात् द्रव्य से गुण से और पर्याय से परिपूर्णता का सद्भाव निर्णय में प्राप्त किया है।

'जो जानता है' —इसमें जाननेवाली तो वर्तमान पर्याय है। निर्णय करनेवाले ने अपनी ज्ञानपर्याय में पूर्ण द्रव्य-गुण-पर्याय का अस्तिरूप में निर्णय किया है और विकार का निषेध किया है, ऐसा निर्णय करनेवाले की, पूर्ण पर्याय किसी पर के कारण से कदापि नहीं हो सकती, क्योंकि उसने अरहन्त के समान अपने पूर्ण स्वभाव का निर्णय कर लिया है। जिसने पूर्ण स्वभाव का निर्णय कर लिया है, उसने क्षेत्र, कर्म अथवा काल के कारण मेरी पर्याय रुक जायेगी — ऐसी पुरुषार्थहीनता की बात को उड़ा दिया है। द्रव्य-गुण-पर्याय से पूर्ण स्वभाव का निर्णय करने के बाद पूर्ण पुरुषार्थ करना ही शेष रह जाता है, कहीं भी रुकने की बात नहीं रहती। यह मोहक्षय के उपाय की बात है। जिसने अपने ज्ञान में अरहन्त के द्रव्य-गुण-पर्याय को जाना है, उसके ज्ञान में केवलज्ञान का हार गुंफित होगा, उसकी पर्याय, केवलज्ञान की ओर की ही होगी।

जिसने अपनी पर्याय में अरहन्त के द्रव्य-गुण-पर्याय को जाना है, उसने अपने आत्मा को ही जान लिया है, उसका मोह अवश्य क्षय को प्राप्त होता है, यह बात कितनी विशिष्टता के साथ कही है। वर्तमान में इस क्षेत्र में क्षायिकसम्यक्त्व नहीं है, तथापि 'मोहक्षय को प्राप्त होता है' —यह कहने में अन्तरङ्ग का इतना बल है कि जिसने इस बात का निर्णय किया, उसे वर्तमान में भले ही क्षायिकसम्यक्त्व न हो, तथापि उसका सम्यक्त्व इतना प्रबल और अप्रतिहत है कि उसमें क्षायिकदशा प्राप्त होने तक बीच में कोई भङ्ग नहीं पड़ सकता। सर्वज्ञ भगवान का आश्रय लेकर भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेव कहते हैं कि जो जीव, द्रव्य-गुण-पर्याय के द्वारा अरहन्त के स्वरूप का निर्णय करता है, वह अपने आत्मा को

www.vitragvani.com

ही वैसा जानता है और वह जीव, क्षायिकसम्यक्त्व के ही मार्ग पर आरूढ़ है। हम अपूर्ण अथवा ढ़ीली बात नहीं करते।

पञ्चम काल के मुनिराज ने यह बात कही है और पञ्चम काल के जीवों के लिए मोहक्षय का उपाय इसमें बताया है। सभी जीवों के लिये एक ही उपाय है। पञ्चम काल के जीवों के लिए कोई दूसरा उपाय नहीं है। जीव तो सभी काल में परिपूर्ण ही है, तब फिर उसे कौन रोक सकता है ? कोई नहीं रोकता। भरतक्षेत्र अथवा पञ्चम काल कोई भी जीव को पुरुषार्थ करने से नहीं रोकता।

कौन कहता है कि पञ्चम काल में भरतक्षेत्र से मुक्ति नहीं है ? आज भी यदि कोई महाविदेहक्षेत्र में से ध्यानस्थ मुनि को उठाकर यहाँ भरतक्षेत्र में रख जाए तो पञ्चम काल और भरतक्षेत्र के होने पर भी वे मुनि, पुरुषार्थ के द्वारा क्षपकश्रेणी को लगाकर केवलज्ञान और मुक्ति को प्राप्त कर लेंगे। इससे यह सिद्ध हुआ कि मोक्ष किसी काल अथवा क्षेत्र के द्वारा नहीं रुकता।

पञ्चम काल में भरतक्षेत्र में जन्मा हुआ जीव उस भव से मोक्ष को प्राप्त नहीं होता, इसका कारण काल अथवा क्षेत्र नहीं है, किन्तु वह जीव स्वयं ही अपनी योग्यता के कारण मन्द पुरुषार्थी है, इसलिए बाह्य निमित्त भी वैसे ही प्राप्त होते हैं। यदि जीव स्वयं तीव्र पुरुषार्थ करके मोक्ष प्राप्त करने के लिये तैयार हो जाए, तो उसे बाह्य में भी क्षेत्र इत्यादि अनुकूल निमित्त प्राप्त हो ही जाते हैं अर्थात् काल अथवा क्षेत्र की ओर देखने की आवश्यकता नहीं रहती, किन्तु पुरुषार्थ की ओर ही देखना पड़ता है। पुरुषार्थ के अनुसार धर्म होता है। काल अथवा क्षेत्र के अनुसार धर्म नहीं होता।

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com

जो अरहन्त को जानता है, वह अपने आत्मा को जानता है; अर्थात् जैसे द्रव्य-गुण-पर्याय-स्वरूप अरहन्त हैं, उसी स्वरूप मैं हूँ। अरहन्त के जितने द्रव्य-गुण-पर्याय हैं, उतने ही द्रव्य-गुण-पर्याय मेरे हैं। अरहन्त को पर्यायशक्ति परिपूर्ण है, तो तेरी पर्याय की शक्ति भी परिपूर्ण ही है। वर्तमान में उस शक्ति को रोकनेवाला जो विकार है, वह मेरा स्वरूप नहीं है। इस प्रकार जो जानता है, उसका मोह '**खलु जादि लयं**' अर्थात् निश्चय से क्षय को प्राप्त होता है, यही मोहक्षय का उपाय है।

टीका — जो वास्तव में अरहन्त द्रव्यरूप में, गुणरूप में और पर्यायरूप में जानता है, वह वास्तव में आत्मा को जानता है; क्योंकि दोनों में निश्चय से कोई अन्तर नहीं है। यहाँ पर वास्तव में जानने की बात कही है, मात्र धारणा के रूप में अरहन्त को जानने की बात यहाँ नहीं ली गयी है क्योंकि वह तो शुभराग है। वह जगत की लौकिक विद्या के समान है, उसमें आत्मा की विद्या नहीं है। वास्तव में जाना हुआ तो तब कहलायेगा, जबकि अरहन्त भगवान के द्रव्य-गुण-पर्याय के साथ अपने आत्मा के द्रव्य-गुण-पर्याय को मिलाकर देखें कि जैसा अरहन्त का स्वभाव है, वैसा ही मेरा स्वभाव है। यदि ऐसे निर्णय के साथ जाने तो वास्तव में जाना हुआ कहलायेगा। इस प्रकार जो वास्तव में अरहन्त को द्रव्य-गुण-पर्यायस्वरूप से जानता है, वह वास्तव में अपने आत्मा को जानता है और उसे सम्यग्दर्शन प्राप्त होता है।

अरहन्त भगवान को जानने में सम्यग्दर्शन आ जाता है। स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा में कहा है कि "**णादं जिणेण णियदं......**" यहाँ यह आशय है कि जिनेन्द्रदेव ने जो जाना है, उसमें कोई अन्तर

नहीं आ सकता; इतना जानने पर, अरहन्त के केवलज्ञान का निर्णय अपने में आ गया। वह यथार्थ निर्णय, सम्यग्दर्शन का कारण होता है। सर्वज्ञदेव ने जैसा जाना है, वैसा ही होता है, इस निर्णय में जिनेन्द्रदेव के और अपने केवलज्ञान की शक्ति की प्रतीति अन्तर्हित है। अरहन्त के समान ही अपना परिपूर्ण स्वभाव समझ में आ गया है, अब मात्र पुरुषार्थ के द्वारा उसरूप परिणमन करना ही शेष रह गया है।

सम्यग्दृष्टि जीव अपने पूर्ण स्वभाव की भावना करता हुआ, अरहन्त के पूर्ण स्वभाव का विचार करता है कि — **जिस जीव को जिस द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से जैसा होना श्री अरहन्तदेव ने अपने ज्ञान में जाना है, वैसा ही होगा, उसमें किञ्चित्‌मात्र भी अन्तर नहीं होगा** — ऐसा निर्णय करनेवाले जीव ने मात्र ज्ञानस्वभाव का निर्णय किया कि वह अभिप्राय से सम्पूर्ण ज्ञाता हो गया, उसमें केवलज्ञान-सन्मुख का अनन्त पुरुषार्थ आ गया।

केवलज्ञानी अरहन्त प्रभु का जैसा भाव है, वैसा अपने ज्ञान में जो जीव जानता है, वह वास्तव में अपने आत्मा को जानता है; क्योंकि अरहन्त के और इस आत्मा के स्वभाव में निश्चयत: कोई अन्तर नहीं है। अरहन्त के स्वभाव को जाननेवाला जीव, अपने वैसे स्वभाव की रुचि से यह यथार्थतया निश्चय करता है कि वह स्वयं भी अरहन्त के समान ही है। अरहन्तदेव का लक्ष्य करने में जो शुभराग है, उसकी यह बात नहीं है, किन्तु जिस ज्ञान ने अरहन्त का यथार्थ निर्णय किया है, उस ज्ञान की बात है। निर्णय करनेवाला ज्ञान, अपने स्वभाव का भी निर्णय करता है और उसका मोह, क्षय को अवश्य प्राप्त होता है।

www.vitragvani.com

प्रवचनसार के दूसरे अध्याय की 65वीं गाथा में कहा है कि — 'जो अरहन्त को, सिद्ध को तथा साधु को जानता है और जिसे जीवों के प्रति अनुकम्पा है, उनके शुभरागरूप परिणाम हैं'— इस गाथा में अरहन्त के जाननेवाले के शुभराग कहा है। यहाँ मात्र विकल्प से जानने की अपेक्षा से बात है। वह जो बात है, सो शुभ विकल्प की बात है; जबकि यहाँ तो ज्ञानस्वभाव के निश्चययुक्त की बात है। अरहन्त के स्वरूप को विकल्प के द्वारा जाने, किन्तु ज्ञानस्वभाव का निश्चय न हो तो वह प्रयोजनभूत नहीं है और ज्ञानस्वभाव के निश्चय से युक्त अरहन्त की ओर का विकल्प भी राग है, उस राग की शक्ति नहीं, किन्तु जिसने निश्चय किया है, उस ज्ञान की ही अनन्त शक्ति है और वह ज्ञान ही मोहक्षय करता है, उस निर्णय करनेवाले ने केवलज्ञान की परिपूर्ण शक्ति को अपनी पर्याय की स्व-परप्रकाशक शक्ति में समाविष्ट कर लिया है। मेरे ज्ञान की पर्याय इतनी शक्ति सम्पन्न है कि निमित्त की सहायता के बिना और पर के लक्ष्य बिना केवलज्ञानी अरहन्त के द्रव्य-गुण-पर्याय को समा लेती है — निर्णय में ले लेती है।

वाह! पञ्चम काल के मुनि ने केवलज्ञान के भावामृत को प्रवाहित किया है। पञ्चम काल में अमृत की प्रबलधारा बहा दी है। स्वयं केवलज्ञान प्राप्त करने की तैयारी है, इसलिए आचार्य भगवान, भाव का मंथन करते हैं। वे केवलज्ञान की ओर के पुरुषार्थ की भावना के बल से कहते हैं कि मेरी पर्याय से शुद्धोपयोग के कार्यरूप में केवलज्ञान ही आन्दोलित हो रहा है। बीच में जो शुभविकल्प आता है, उस विकल्प की श्रेणी को तोड़कर शुद्धोपयोग की अखण्ड श्रेणी को ही अङ्गीकार करता हूँ। केवलज्ञान का

www.vitragvani.com

निश्चय करने की शक्ति विकल्प में नहीं, किन्तु स्वभाव की ओर के ज्ञान में है। अरहन्त भगवान आत्मा हैं। अरहन्त भगवान के द्रव्य-गुण -पर्याय और इस आत्मा के द्रव्य-गुण-पर्याय में निश्चय से कोई अन्तर नहीं है और द्रव्य-गुण-पर्याय से अरहन्त का स्वरूप स्पष्ट है — परिपूर्ण है, इसलिए जो जीव, द्रव्य-गुण-पर्याय से अरहन्त को जानता है, वह जीव, आत्मा को ही जानता है और आत्मा को जानने पर, उसका दर्शनमोह अवश्य क्षय को प्राप्त होता है। यदि देव, गुरु के स्वरूप को यथार्थतया जाने तो जीव के मिथ्यात्व कदापि न रहे। इस सम्बन्ध में मोक्षमार्गप्रकाशक में कहा है कि मिथ्यादृष्टि, जीव-जीव के विशेषणों को यथावत् जानकर बाह्य विशेषणों से अरहन्तदेव के माहात्म्य को मात्र आज्ञानुसार मानता है अथवा अन्यथा भी मानता है, यदि कोई जीव के (अरहन्त के) यथावत् विशेषणों को जान ले तो वह मिथ्यादृष्टि न रहे।

(—सस्ती ग्रन्थमाला देहली से प्रकाशित मोक्षमार्गप्रकाशक पृष्ठ 325)

इसी प्रकार गुरु के स्वरूप सम्बन्ध में कहते हैं :— सम्यग्दर्शन -ज्ञान-चारित्र की एकतारूप मोक्षमार्ग ही मुनि का यथार्थ लक्षण है, उसे नहीं पहचानता। यदि उसे पहचान ले तो वह मिथ्यादृष्टि कदापि न रहे। *(—मोक्षमार्गप्रकाशक 328)*

इसी प्रकार शास्त्र के स्वरूप के सम्बन्ध में कहते हैं — यहाँ तो अनेकान्तरूप सच्चे जीवादि तत्त्वों का निरूपण है तथा सच्चा रत्नत्रय मोक्षमार्ग बताया है; इसलिए यह जैन शास्त्रों की उत्कृष्टता है, जिसे वह नहीं जानता। यदि इसे पहचान ले तो वह मिथ्यादृष्टि न रहे। *(—मोक्षमार्गप्रकाशक पृ. 329)*

www.vitragvani.com

तीनों में एक ही बात कही है कि यदि उसे पहचान ले तो मिथ्यादृष्टि न रहे। इसमें जो पहिचानने की बात की है, वह यथार्थ निर्णयपूर्वक जानने की बात है। यदि देव-गुरु-शास्त्र को यथार्थतया पहचान ले तो उसे अपने आत्मा की पहचान अवश्य हो जाए और उसका दर्शनमोह निश्चय से क्षय हो जाए।

यहाँ 'जो द्रव्य-गुण-पर्याय से अरहन्त को जानता है, उसे ....' ऐसा कहा है, किन्तु सिद्ध को जानने को क्यों नहीं कहा? इसका कारण यह है कि यहाँ शुद्धोपयोग का अधिकार चल रहा है। शुद्धोपयोग से पहले अरहन्त पद प्रगट होता है; इसलिए यहाँ अरहन्त को जानने की बात कही गयी है और फिर जानने में निमित्तरूप सिद्ध नहीं होते, किन्तु अरहन्त निमित्तरूप होते हैं तथा पुरुषार्थ की जागृति से अरहन्तदशा के प्रगट हो जाने पर, अघातिया कर्मों को दूर करने के लिये पुरुषार्थ नहीं है, अर्थात् प्रयत्न से केवलज्ञान-अरहन्तदशा प्राप्त की जाती है, इसलिए यहाँ अरहन्त की बात कही है। वास्तव में तो अरहन्त का स्वरूप जान लेने पर समस्त सिद्धों का स्वरूप भी उसमें आ ही जाता है।

अरहन्त के द्रव्य-गुण-पर्याय की भाँति ही अपने आत्मा के स्वरूप को जानकर, शुद्धोपयोग की श्रेणी के द्वारा जीव, अरहन्तपद को प्राप्त होता है। जो अरहन्त के द्रव्य, गुण, पर्याय, स्वरूप को जानता है, उसका मोह नाश को अवश्य प्राप्त होता है। यहाँ '**जो जाणदि**' अर्थात् 'जो जानता है'— ऐसा कहकर ज्ञान का पुरुषार्थ सिद्ध किया है। जो ज्ञान के द्वारा जानता है, उसका मोह क्षय हो जाता है, किन्तु जो ज्ञान के द्वारा नहीं जानता, उसका मोह नष्ट नहीं होता।

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

यहाँ यह कहा है कि जो अरहन्त को द्रव्य-से-गुण-से पर्याय से जानता है, वह अपने आत्मा को जानता है और उसका मोह अवश्य क्षय हो जाता है। अरहन्त को द्रव्य, गुण, पर्याय से कैसे जानना चाहिए और मोह कैसे नष्ट होता है, यह आगे चलकर कहा जायेगा। पहले कहा जा चुका है कि जो अरहन्त को द्रव्यरूप से, गुणरूप से और पर्यायरूप से जानता है, वह अपने आत्मा को जानता है और उसका मोह अवश्य क्षय को प्राप्त होता है। अरहन्त को द्रव्य, गुण, पर्यायरूप से किस प्रकार जानना चाहिए और मोह का नाश कैसे होता है —यह सब यहाँ कहा जायेगा।

श्री प्रवचनसार की गाथा 80-81-82 में सम्पूर्ण शास्त्र का सार भरा हुआ है। इसमें अनन्त तीर्थङ्करों के उपदेश का रहस्य समा जाता है। आचार्य प्रभु ने 82वीं गाथा में कहा है कि 80-81वीं गाथा में कथित विधि से ही समस्त अरहन्त, मुक्त हुए हैं। समस्त तीर्थङ्कर इसी उपाय से पार हुए हैं और भव्य जीवों को इसी का उपदेश दिया है। वर्तमान भव्य जीवों के लिये भी यही उपाय है। मोह का नाश करने के लिए इसके अतिरिक्त दूसरा कोई उपाय नहीं है।

जिन आत्माओं को पात्र होकर अपनी योग्यता के पुरुषार्थ के द्वारा स्वभाव को प्राप्त करना है और मोह का क्षय करना है, उन आत्माओं को क्या करना चाहिए? यह यहाँ बताया गया है। पहले तो अरहन्त को द्रव्य-गुण-पर्याय से जानना चाहिए। भगवान अरहन्त का आत्मा कैसा था, उनके आत्मा के गुणों की शक्ति-सामर्थ्य कैसी थी और उनकी पूर्ण पर्याय का क्या स्वरूप है? इसके यथार्थ भाव को जो निश्चय करता है, वह वास्तव में अपने ही द्रव्य, गुण,

www.vitragvani.com

पर्यायस्वरूप का निश्चय करता है। अरहन्त को जानते हुए यह प्रतीति करता है कि 'ऐसा ही पूर्ण स्वभाव है, ऐसा ही मेरा स्वरूप है'।

अरहन्त के आत्मा को जानने पर, अपना आत्मा किस प्रकार जाना जाता है, इसका कारण यहाँ बतलाते हैं। 'वास्तव में जो अरहन्त को जानता है, वह निश्चय ही अपने आत्मा को जानता है; क्योंकि दोनों में निश्चय से कोई अन्तर नहीं है।' अरहन्त के जैसे द्रव्य, गुण, पर्याय हैं, वैसे ही इस आत्मा के द्रव्य, गुण, पर्याय हैं। वस्तु, उसकी शक्ति और उसी अवस्था जैसी अरहन्तदेव के है, वैसी ही मेरे भी है। इस प्रकार जो अपने पूर्ण स्वरूप की प्रतीति करता है, वही अरहन्त को यथार्थतया जानता है। यह नहीं हो सकता कि अरहन्त के स्वरूप को तो जाने और अपने आत्मा के स्वरूप को न जाने।

यहाँ स्वभाव की तुलना करके कहते हैं कि अरहन्त का और अपना आत्मा समान ही है; इसलिए जो अरहन्त को जानता है, वह अपने आत्मा को अवश्य जानता है और उसका मोह क्षय हो जाता है। यहाँ पर 'जो अरहन्त को जानता है, वह अपने आत्मा को जानता है;' इस प्रकार अरहन्त के आत्मा के साथ ही इस आत्मा को क्यों मिलाया है, दूसरे के साथ क्यों नहीं मिलाया ? 'जो अरहन्त के आत्मा को जानता है, वह अपने आत्मा को जानता है।' —ऐसा कहा है, इसे अब अधिक स्वरूप में कहते हैं — **'अरहन्त, का स्वरूप अन्तिम तापमान को प्राप्त स्वर्ण के स्वरूप की भाँति परिस्पृष्ट (सब तरह से स्पष्ट) है; इसलिए उसका ज्ञान होने पर सर्व आत्मा का ज्ञान हो जाता है।'**

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com

जैसे अन्तिम ताप से तपाया हुआ सोना बिल्कुल खरा होता है; उसी प्रकार भगवान अरहन्त का आत्मा, द्रव्य-गुण-पर्याय से सम्पूर्णतया शुद्ध है। आचार्यदेव कहते हैं कि हमें तो आत्मा का शुद्ध-स्वरूप बतलाना है, विकार आत्मा का स्वरूप नहीं है। आत्मा विकाररहित शुद्ध पूर्ण स्वरूप है, यह बताना है और इस शुद्ध आत्मस्वरूप के प्रतिबिम्ब समान श्री अरहन्त का आत्मा है, क्योंकि वह सर्व प्रकार शुद्ध है। अन्य आत्मायें सर्व प्रकार शुद्ध नहीं हैं। द्रव्य, गुण की अपेक्षा से सभी शुद्ध हैं, किन्तु पर्याय से शुद्ध नहीं हैं; इसलिए उन आत्माओं को न लेकर अरहन्त के ही आत्मा को लिया है।

उस शुद्ध स्वरूप को जो जानता है, वह अपने आत्मा को जानता है और उसका मोह क्षय हो जाता है, अर्थात् यहाँ आत्मा के शुद्ध स्वरूप को जानने की ही बात है। आत्मा के शुद्ध स्वरूप को जानने के अतिरिक्त मोहक्षय का कोई दूसरा उपाय नहीं है। सिद्ध भगवान के भी पहले अरहन्तदशा थी, इसलिए अरहन्त के स्वरूप को जानने पर उनका स्वरूप भी ज्ञात हो जाता है। अरहन्तदशापूर्वक ही सिद्धदशा होती है।

द्रव्य-गुण तो सदा शुद्ध ही हैं, किन्तु पर्याय की शुद्धि करनी है। पर्याय की शुद्धि करने के लिए यह जान लेना चाहिए कि द्रव्य -गुण-पर्याय की शुद्धता का स्वरूप कैसा है? अरहन्त भगवान का आत्मा, द्रव्य-गुण और पर्याय तीनों प्रकार से शुद्ध है और अन्य आत्मा, पर्याय की अपेक्षा से पूर्ण शुद्ध नहीं है; इसलिए अरहन्त का स्वरूप जानने को कहा है। जिसने अरहन्त के द्रव्य-गुण-पर्याय स्वरूप को यथार्थ जाना है, उसे शुद्धस्वभाव की प्रतीति हो गयी है

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com

अर्थात् उसकी पर्याय शुद्ध होने लगी है और उसका दर्शनमोह नष्ट हो गया है।

सोने में सौ टंच शुद्धदशा होने की शक्ति है, जब अग्नि के द्वारा ताव देकर उसकी ललाई दूर की जाती है, तब वह शुद्ध होता है और इस प्रकार ताव दे-देकर अन्तिम आंच से वह सम्पूर्ण शुद्ध किया जाता है और यही सोने का मूलस्वरूप है, वह सोना अपने द्रव्य-गुण-पर्याय की पूर्णता को प्राप्त हुआ है। इसी प्रकार अरहन्त का आत्मा पहले अज्ञानदशा में था; फिर आत्मज्ञान और स्थिरता के द्वारा क्रमशः शुद्धता को बढ़ाकर पूर्णदशा प्रगट की है। अब वे द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों से पूर्ण शुद्ध हैं और अनन्त काल इसी प्रकार रहेंगे। उनके अज्ञान का, राग-द्वेष का और भव का अभाव है। इसी प्रकार अरहन्त के आत्मा को, उनके गुणों को और उनकी अनादि-अनन्त पर्यायों को जो जानता है, वह अपने आत्मा के यथार्थ स्वरूप को जानता है और उसका मोह अवश्य क्षय को प्राप्त होता है। अरहन्त का आत्मा परिस्पृष्ट है — सब तरह से शुद्ध है, उन्हें जानकर ऐसा लगता है कि अहो! यह तो मेरे शुद्धस्वभाव का ही प्रतिबिम्ब है, मेरा स्वरूप ऐसा ही है। इस प्रकार यथार्थतया प्रतीति होने पर, शुद्धसम्यक्त्व अवश्य ही प्रगट होता है।

अरहन्त का आत्मा ही पूर्ण शुद्ध है। गणधरदेव, मुनिराज इत्यादि के आत्माओं की पूर्ण शुद्धदशा नहीं है; इसलिए उन्हें जानने से, आत्मा के पूर्ण शुद्धस्वरूप का ध्यान नहीं आता। अरहन्त भगवान के आत्मा को जानने पर, अपने आत्मा के शुद्धस्वरूप का ज्ञान अनुमान प्रमाण के द्वारा होता है और इसीलिए शुद्धस्वरूप की जो विपरीत मान्यता है, वह क्षय को प्राप्त होती है।

'अहो! आत्मा का स्वरूप तो ऐसा सर्वप्रकार शुद्ध है, पर्याय में जो विकार है, वह भी मेरा स्वरूप नहीं है। अरहन्त जैसी ही पूर्णदशा होने में जो कुछ शेष रह जाता है, वह मेरा स्वरूप नहीं है। जितना अरहन्त में है, उतना ही मेरे स्वरूप में है'— इस प्रकार अपनी प्रतीति हुई, अर्थात् अज्ञान और विकार का कर्तृत्व दूर होकर स्वभाव की ओर लग गया और स्वभाव में द्रव्य, गुण, पर्याय की एकता होने पर सम्यग्दर्शन हो गया। अब उसी स्वभाव के आधार से पुरुषार्थ के द्वारा राग-द्वेष का सर्वथा क्षय करके अरहन्त के समान ही पूर्णदशा प्रगट करके मुक्त होगा; इसलिए अरहन्त के स्वरूप को जानना ही मोहक्षय का उपाय है।

यह बात विशेष समझने योग्य है, इसलिए इसे अधिक स्पष्ट किया जा रहा है। अरहन्त को लेकर बात उठाई है, अर्थात् वास्तव में तो आत्मा के पूर्ण शुद्धस्वभाव की ओर से ही बात का प्रारम्भ किया है। अरहन्त के समान ही इस आत्मा का पूर्ण शुद्धस्वभाव स्थापित करके उसे जानने की बात कही है। पहले जो पूर्ण शुद्धस्वभाव को जाने, उसके धर्म होता है, किन्तु जो जानने का पुरुषार्थ ही न करे, उसके तो कदापि धर्म नहीं होता, अर्थात् यहाँ ज्ञान और पुरुषार्थ दोनों साथ ही हैं तथा सत् निमित्त के रूप में अरहन्त देव ही हैं, वह बात भी इससे ज्ञात हो गयी।

चाहे सौ टंची सोना हो, चाहे पचास टंची हो, दोनों का स्वभाव समान है, किन्तु दोनों की वर्तमान अवस्था में अन्तर है। पचास टंची सोने में अशुद्धता है, उस अशुद्धता को दूर करने के लिए, उसे सौ टंची सोने के साथ मिलाना चाहिए। यदि उसे 75 टंची सोने के साथ मिलाया जाए तो उसका वास्तविक शुद्धस्वरूप ख्याल में

नहीं आयेगा और वह कभी शुद्ध नहीं हो सकेगा। यदि सौ टंची सोने के साथ मिलाया जाए तो सौं टंच शुद्ध करने का प्रयत्न करें, किन्तु यदि 75 टंची सोने को ही शुद्ध सोना मान ले तो वह कभी शुद्ध सोना प्राप्त नहीं कर सकेगा।

इसी प्रकार आत्मा का स्वभाव तो शुद्ध ही है, किन्तु वर्तमान अवस्था में अशुद्धता है। अरहन्त और इस आत्मा के बीच वर्तमान अवस्था में अन्तर है। वर्तमान अवस्था में जो अशुद्धता है, उसे दूर करना है; इसलिए अरहन्त भगवान के पूर्ण शुद्ध द्रव्य- गुण-पर्याय के साथ मिलान करना चाहिए कि 'अहो! यह आत्मा तो केवलज्ञानस्वरूप है, पूर्ण ज्ञानसामर्थ्य है और किञ्चित्‌मात्र भी विकारवान्‌ नहीं है। मेरा स्वरूप भी ऐसा ही है, मैं भी अरहन्त जैसे ही स्वभाववन्त हूँ' — ऐसी प्रतीति जिसने की, उसे निमित्तों की ओर नहीं देखना होता, क्योंकि अपनी पूर्णदशा अपने स्वभाव के पुरुषार्थ में से आती है, निमित्त में से नहीं आती तथा पुण्य-पाप की ओर अथवा अपूर्णदशा की ओर भी नहीं देखना पड़ता, क्योंकि वह आत्मा का स्वरूप नहीं है। बस! अब अपने द्रव्य-गुण की ओर ही पर्याय की एकाग्रतारूप क्रिया करनी होती है। एकाग्रता करते-करते पर्याय शुद्ध हो जाती है।

ऐसी एकाग्रता कौन करता है? जिसने पहले अरहन्त के स्वरूप के साथ मिलान करके अपने पूर्ण स्वरूप को ख्याल में लिया हो, वह अशुद्धता को दूर करने के लिए शुद्धस्वभाव की एकाग्रता का प्रयत्न करता है, किन्तु जो जीव, पूर्ण शुद्धस्वरूप को नहीं जानता और पुण्य-पाप को ही अपना स्वरूप मान रहा है, वह जीव, अशुद्धता को दूर करने का प्रयत्न नहीं कर सकता; इसलिए

सबसे पहले अपने शुद्धस्वभाव को पहचानना चाहिए। इस गाथा में आत्मा के शुद्धस्वभाव को पहचानने की रीति बतायी गयी है।

अरहन्त का स्वरूप सर्व प्रकार स्पष्ट है। जैसी वह दशा है, वैसी ही इस आत्मा की दशा होनी चाहिए। ऐसा निश्चय किया अर्थात् यह जान लिया कि जो अरहन्तदशा में नहीं होते, वे भाव मेरे स्वरूप में नहीं हैं और इस प्रकार विकारभाव और स्वभाव को भिन्न-भिन्न जान लिया; इस प्रकार जिसने अरहन्त का ठीक निर्णय कर लिया और यह प्रतीति कर ली कि मेरा आत्मा भी वैसा ही है, उसका दर्शनमोह नष्ट होकर उसे क्षायिकसम्यक्त्व की प्राप्ति होती है।

ध्यान रहे कि यह अपूर्व बात है, इसमें मात्र अरहन्त की बात नहीं है, किन्तु अपने आत्मा को एकमेक करने की बात है। अरहन्त का ज्ञान करनेवाला तो यह आत्मा है। अरहन्त की प्रतीति करनेवाला अपना ज्ञानस्वभाव है। जो अपने ज्ञानस्वभाव के द्वारा अरहन्त की प्रतीति करता है, उसे अपने आत्मा की प्रतीति अवश्य हो जाती है और फिर अपने स्वरूप की ओर एकाग्रता करते-करते केवलज्ञान हो जाता है। इस प्रकार सम्यग्दर्शन से प्रारम्भ करके केवलज्ञान प्राप्त करने तक का अप्रतिहत उपाय बता दिया गया है। 82वीं गाथा में कहा गया है कि समस्त तीर्थङ्कर इसी विधि से कर्म का क्षय करके निर्वाण को प्राप्त हुए हैं और यही उपदेश दिया है। जैसे अपना मुँह देखने के लिए सामने स्वच्छ दर्पण रक्खा जाता है; उसी प्रकार यहाँ आत्मस्वरूप को देखने के लिए अरहन्त भगवान को आदर्शरूप में (आदर्श का अर्थ दर्पण है) अपने समक्ष रखा है। तीर्थङ्करों का पुरुषार्थ अप्रतिहत होता है, उनका सम्यक्त्व भी

अप्रतिहत होता है और श्रेणी भी अप्रतिहत होती है और यहाँ तीर्थङ्करों के साथ मिलान करना है; इसलिए तीर्थङ्करों के समान ही अप्रतिहत सम्यग्दर्शन की बात ली गयी है। मूलसूत्र में "**मोहो खलु जादि तस्स लयं**" कहा गया है, उसी में से यह भाव निकलता है।

अरहन्त और अन्य आत्माओं के स्वभाव में निश्चय से कोई अन्तर नहीं है। अरिहन्त का स्वरूप अन्तिम शुद्धदशारूप है; इसलिए अरहन्त का ज्ञान करने पर समस्त आत्माओं के शुद्धस्वरूप का भी ज्ञान हो जाता है। स्वभाव से सभी आत्मा, अरहन्त के समान हैं, परन्तु पर्याय में अन्तर है। यहाँ तो सभी आत्माओं को अरहन्त के समान कहा है, अभव्य को भी अलग नहीं किया। अभव्य जीव का स्वभाव और शक्ति भी अरहन्त के समान ही है। सभी आत्माओं का स्वभाव परिपूर्ण है, किन्तु अवस्था में पूर्णता प्रगट नहीं है, यह उनके पुरुषार्थ का दोष है। वह दोष पर्याय का है, स्वभाव का नहीं। **यदि स्वभाव को पहचाने तो स्वभाव के बल से पर्याय का दोष भी दूर किया जा सकता है।**

भले ही जीवों की वर्तमान में अरहन्त जैसी पूर्णदशा प्रगट न हुई हो, तथापि आत्मा के द्रव्य-गुण-पर्याय की पूर्णता का स्वरूप कैसा होता है —यह स्वयं वर्तमान में निश्चित कर सकता है।

जब तक अरहन्त केवली भगवान जैसी दशा नहीं होती, तब तक आत्मा का पूर्ण स्वरूप प्रगट नहीं होता। अरहन्त के पूर्ण स्वरूप का ज्ञान करने पर, सभी आत्माओं का ज्ञान होता है। सभी आत्मा अपने पूर्ण स्वरूप को पहचानकर, जब तक पूर्णदशा को प्राप्त करने का प्रयत्न नहीं करते, तब तक वे दु:खी रहते हैं। सभी

www.vitragvani.com

आत्मा शक्तिस्वरूप से तो पूर्ण ही हैं, किन्तु यदि व्यक्तदशारूप में पूर्ण हों तो सुख प्रगट हो। जीवों को अपनी ही अपूर्णदशा के कारण दुःख है, वह दुःख दूसरे के कारण से नहीं है; इसलिए अन्य कोई व्यक्ति, जीव का दुःख दूर नहीं कर सकता, किन्तु यदि जीव स्वयं अपनी पूर्णता को पहिचाने, तभी उसका दुःख दूर हो। इससे मैं किसी का दुःख दूर नहीं कर सकता और अन्य कोई मेरा दुःख दूर नहीं कर सकता —ऐसी स्वतन्त्रता की प्रतीति हुई और पर का कर्तृत्व दूर करके ज्ञातारूप में रहा, यही सम्यग्दर्शन का अपूर्व पुरुषार्थ है।

पूर्ण स्वरूप के अज्ञान के कारण ही अपनी पर्याय में दुःख है, उस दुःख को दूर करने के लिये, अरहन्त के द्रव्य-गुण-पर्याय का अपने ज्ञान के द्वारा निर्णय करना चाहिए। शरीर, मन, वाणी, पुस्तक, कर्म यह सब जड़ हैं —अचेतन हैं; वे सब आत्मा से बिलकुल भिन्न हैं। जो राग-द्वेष होता है, वह भी वास्तव में मेरा नहीं है क्योंकि अरहन्त भगवान की दशा में राग-द्वेष नहीं है; राग के आश्रय से भगवान की पूर्णदशा नहीं हुई। भगवान की पूर्णदशा कहाँ से आई? उनकी पूर्णदशा उनके द्रव्य-गुण के ही आधार से प्रगट हुई है; वैसे ही मेरी पूर्णदशा भी मेरे द्रव्य-गुण के ही आधार से प्रगट होती है। विकल्प का या पर का आधार मेरी पर्याय को भी नहीं है। 'अरहन्त जैसी पूर्णदशा मेरा स्वरूप है और अपूर्णदशा मेरा स्वरूप नहीं है,' ऐसा मैंने जो निर्णय किया है, वह निर्णयरूप दशा मेरे द्रव्य-गुण के ही आधार से हुई है। इस प्रकार जीव का लक्ष्य अरहन्त के द्रव्य-गुण-पर्याय से हटकर अपने द्रव्य-गुण-पर्याय की ओर जाता है और वह अपने स्वभाव को प्रतीति में लेता है।

स्वभाव को प्रतीति में लेने पर, स्वभाव की ओर पर्याय एकाग्र हो जाती है, अर्थात् मोह को पर्याय का आधार नहीं रहता और इस प्रकार निराधार हुआ मोह अवश्य क्षय को प्राप्त होता है।

सर्व प्रथम अरहन्त का लक्ष्य होता तो है, किन्तु बाद में अरहन्त के लक्ष्य से भी हटकर, स्वभाव की श्रद्धा करने पर सम्यग्दर्शन- दशा प्रगट होती है। सर्वज्ञ अरहन्त भी आत्मा हैं और मैं भी आत्मा हूँ —ऐसी प्रतीति करने के बाद अपनी पर्याय में सर्वज्ञ से जितनी अपूर्णता है, उसे दूर करने के लिए स्वभाव में एकाग्रता का प्रयत्न करता है।

अरहन्त को जानने पर जगत के समस्त आत्माओं का निर्णय हो गया कि जगत् के जीव अपनी-अपनी पर्याय से ही सुखी-दु:खी हैं। अरहन्त प्रभु अपनी पूर्ण पर्याय से ही स्वयं सुखी हैं; इसलिए सुख के लिए उन्हें अन्न, जल, वस्त्र इत्यादि किसी पदार्थ की आवश्यकता नहीं होती और जगत् के जो जीव दु:खी हैं, वे अपनी पर्याय के दोष से ही दु:खी हैं। पर्याय में मात्र रागदशा जितना ही अपने को मान बैठे हैं और सम्पूर्ण स्वभाव को भूल गये हैं; इसलिए राग का ही संवेदन करके दु:खी होते हैं किन्तु किसी निमित्त के कारण से अथवा कर्मों के कारण दु:खी नहीं है और न अन्न, वस्त्र इत्यादि के न मिलने से दु:खी हैं; दु:ख का कारण अपनी पर्याय है और दु:ख को दूर करने के लिए अरहन्त को पहचानना चाहिए। अरहन्त के द्रव्य, गुण, पर्याय को जानकर, उन्हीं के समान अपने को मानना चाहिए कि मैं मात्र रागदशावाला नहीं हूँ, किन्तु मैं तो रागरहित परिपूर्ण ज्ञानस्वभाववाला हूँ, मेरे ज्ञान

www.vitragvani.com

में दु:ख नहीं हो सकता; इस प्रकार जो अपने को द्रव्य-गुण स्वभाव से अरहन्त के समान ही माने तो वर्तमान राग से अपने लक्ष्य को हटाकर द्रव्य-गुण स्वभाव के प्रति लक्ष्य करे और अपने स्वभाव की एकाग्रता करके पर्याय के दु:ख को दूर करे; ऐसा होने से जगत् के किसी भी जीव के पराधीनता नहीं है। मैं किसी अन्य जीव का अथवा जड़ पदार्थ का कुछ भी नहीं कर सकता। सम्पूर्ण पदार्थ स्वतन्त्र हैं। मुझे अपनी पर्याय का उपयोग अपनी ओर करना है, यही सुख का उपाय है। इसके अतिरिक्त जगत् में अन्य कोई सुख का उपाय नहीं है।

मैं देश आदि के कार्य कर डालूँ —ऐसी मान्यता भी बिलकुल मिथ्या है। इस मान्यता में तो तीव्र आकुलता का दु:ख है। मैं जगत् के जीवों के दु:ख को दूर कर सकता हूँ —ऐसी मान्यता निज को ही महान दु:ख का कारण है। पर को दु:ख या सुख देने के लिए कोई समर्थ नहीं है। जगत् के जीवों को संयोग का दु:ख नहीं है; किन्तु अपने ज्ञानादि स्वभाव की पूर्णदशा को नहीं जाना, इसी का दु:ख है। यदि अरहन्त के आत्मा के साथ अपने आत्मा का मिलान करे तो अपना स्वभाव प्रतीति में आये। अहो! अरहन्तदेव किसी बाह्य संयोग से सुखी नहीं, किन्तु अपने ज्ञान इत्यादि की पूर्णदशा से ही वे सम्पूर्ण सुखी हैं। इसलिए सुख आत्मा का ही स्वरूप है; इस प्रकार स्वभाव को पहिचानकर, राग-द्वेष रहित होकर, परमानन्ददशा को प्रगट करे! अरहन्त के वास्तविक स्वरूप को नहीं जाना; इसलिए अपने स्वरूप को भी नहीं जाना और अपने स्वरूप को नहीं जाना, इसीलिए यह सब भूल होती है।

मुझे परिपूर्ण स्वतन्त्र सुखदशा चाहिए है, सुख के लिये जैसी स्वतन्त्रदशा होनी चाहिए, वैसी पूर्ण स्वतन्त्रदशा अरहन्त के है और अरहन्त के समान ही सबका स्वभाव है; इसलिए मैं भी वैसा ही पूर्ण स्वभाववाला हूँ; इस प्रकार अपने स्वभाव की प्रतीति की भी उन्हीं के साथ मिलाकर बात कही गयी है। जिसने अपने ज्ञान में यह निश्चय किया, उसने सुख के लिये पराधीनदृष्टि की अनन्त उथल-पुथल को शमन कर दिया है। पहले अज्ञान से जहाँ-तहाँ उथल-पुथल करता था कि रुपये-पैसे से सुख प्राप्त कर लूँ, राग में से सुख ले लूँ, देव-गुरु-शास्त्र से सुख प्राप्त कर लूँ अथवा पुण्य करके सुख पा लूँ — इस प्रकार पर के लक्ष्य से सुख माना था, यह मान्यता दूर हो गयी है और मात्र अपने स्वभाव को ही सुख का साधन माना है; ऐसी समझ होने पर सम्यग्दर्शन होता है।

सम्यक्त्व कैसे होता है, यह बात इस गाथा में कही गयी है। भगवान अरहन्त के न तो किञ्चित् पुण्य है और न पाप; वे पुण्य-पापरहित हैं; उनके ज्ञान, दर्शन, सुख में कोई कमी नहीं है; इसी प्रकार मेरे स्वरूप में भी पुण्य-पाप अथवा कोई कमी नहीं है, ऐसी प्रतीति करने पर द्रव्यदृष्टि हुई। अपूर्णता मेरा स्वरूप नहीं है, इसलिए अब अपूर्ण अवस्था की ओर देखने की आवश्यकता नहीं रही, किन्तु पूर्ण शुद्धदशा प्रगट करने के लिये स्वभाव में ही एकाग्रता करने की आवश्यकता रही। शुद्धदशा बाहर से प्रगट होती है या स्वभाव में से? स्वभाव में से प्रगट होनेवाली अवस्था को प्रगट करने के लिए स्वभाव में ही एकाग्रता करनी है। इतना जान लेने पर यह धारणा दूर हो जाती है कि किसी भी अन्य पदार्थ की सहायता से मेरा कार्य होता है। वर्तमान पर्याय में जो अपूर्णता है,

वह स्वभाव की एकाग्रता के पुरुषार्थ के द्वारा पूर्ण करना है, अर्थात् मात्र ज्ञान में ही क्रिया करनी है। यहाँ प्रत्येक पर्याय में सम्यक् पुरुषार्थ का ही काम है।

किसी को यह शंका हो सकती है कि अभी तो अरहन्त नहीं है, तब फिर अरहन्त को जानने की बात किसलिए की गयी है ? उनके समाधान के लिए कहते हैं कि — यहाँ अरहन्त की उपस्थिति की बात नहीं है, किन्तु अरहन्त का स्वरूप जानने की बात है। अरहन्त की साक्षात् उपस्थिति हो, तभी उनका स्वरूप जाना जा सकता है — ऐसी बात नहीं है। अमुक क्षेत्र की अपेक्षा से अभी अरहन्त नहीं है, किन्तु उनका अस्तित्व अन्यत्र महाविदेहक्षेत्र इत्यादि में तो अभी भी है। अरहन्त भगवान साक्षात् अपने सन्मुख विराजमान हों तो भी उनका स्वरूप ज्ञान के द्वारा निश्चित होता है। वहाँ अरहन्त तो आत्मा है, उनके द्रव्य-गुण अथवा पर्याय दृष्टिगत नहीं होते, तथापि ज्ञान के द्वारा उनके स्वरूप का निर्णय होता है और यदि वे दूर हों तो भी ज्ञान के द्वारा ही उनका निर्णय अवश्य होता है।

जब वे साक्षात् विराजमान होते हैं, तब भी अरहन्त का शरीर दिखायी देता है। क्या वह शरीर, अरहन्त का द्रव्य-गुण अथवा पर्याय है ? क्या दिव्यध्वनि, अरहन्त का द्रव्य-गुण-पर्याय है ? नहीं। ये सब तो आत्मा से भिन्न हैं। चैतन्यस्वरूप आत्म, द्रव्य, उसके ज्ञान-दर्शनादिक गुण और उसकी केवलज्ञानादि पर्याय अरहन्त है। यदि उस द्रव्य-गुण-पर्याय को यथार्थतया पहचान लिया जाए तो अरहन्त के स्वरूप को जान लिया कहलायेगा। साक्षात् अरहन्त प्रभु के समक्ष बैठकर उनकी स्तुति करे, परन्तु

यदि उनके द्रव्य-गुण-पर्याय के स्वरूप को न समझे तो वह अरहन्त के स्वरूप की स्तुति नहीं कहलायेगी।

क्षेत्र की अपेक्षा से निकट में अरहन्त की उपस्थिति हो या न हो, इसके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है, किन्तु अपने ज्ञान में उनके स्वरूप का निर्णय है या नहीं —इसी के साथ सम्बन्ध है। क्षेत्रापेक्षा से निकट में ही अरहन्त भगवान विराजमान हों, परन्तु उस समय यदि ज्ञान के द्वारा स्वयं उनके स्वरूप का निर्णय न करे तो उस जीव को आत्मा ज्ञात नहीं हो सकता और उसके लिए तो अरहन्त बहुत दूर हैं; और वर्तमान में क्षेत्र की अपेक्षा से अरहन्त भगवान निकट नहीं हैं; तथापि यदि अपने ज्ञान के द्वारा अभी भी अरहन्त के स्वरूप का निर्णय करे तो आत्मा की पहिचान हो और उसके लिए अरहन्त भगवान बिलकुल निकट ही उपस्थित हैं। यहाँ क्षेत्र की अपेक्षा से नहीं, किन्तु भाव की अपेक्षा से बात है। यथार्थ समझ का सम्बन्ध तो भाव के साथ है। यहाँ यह कहा गया है कि अरहन्त कब हैं और कब नहीं? महाविदेहक्षेत्र में अथवा भरतक्षेत्र में चौथे काल में अरहन्त की साक्षात् उपस्थिति के समय भी जिन आत्माओं ने द्रव्य-गुण-पर्याय से अपने ज्ञान में अरहन्त के स्वरूप का यथार्थ निर्णय नहीं किया, उन जीवों के लिए तो उस समय भी अरहन्त की उपस्थिति नहीं के बराबर है और भरतक्षेत्र में पञ्चम काल में साक्षात् अरहन्त की अनुपस्थिति में भी, जिन आत्माओं ने द्रव्य-गुण-पर्याय से अपने ज्ञान में अरहन्त के स्वरूप का निर्णय किया है, उनके लिए अरहन्त भगवान मानों साक्षात् विराजमान हैं।

समवसरण में जो भी जीव, अरहन्त के स्वरूप का निर्णय करके आत्मस्वरूप को समझे हैं, उन जीवों के लिए ही अरहन्त

भगवान् निमित्त कहे गये हैं, किन्तु जिनने निर्णय नहीं किया, उनके लिए तो साक्षात् अरहन्त भगवान निमित्त भी नहीं कहलाये। आज भी जो अरहन्त का निर्णय करके आत्मस्वरूप को समझते हैं, उनके लिए उनके ज्ञान में अरहन्त भगवान् निमित्त कहलाते हैं। वहाँ भी वे आत्मा को हाथ में लेकर नहीं दिखाते।

जिसकी दृष्टि निमित्त पर है, वह क्षेत्र को देखता है कि वर्तमान में इस क्षेत्र में अरहन्त नहीं है। हे भाई! अरहन्त नहीं हैं, किन्तु अरहन्त का निश्चय करनेवाला तेरा ज्ञान तो है! जिसकी दृष्टि उपादान पर है, वह अपने ज्ञान के बल से अरहन्त का निर्णय करके क्षेत्रभेद को दूर कर देता है। अरहन्त तो निमित्त हैं। यहाँ अरहन्त का निर्णय करनेवाले ज्ञान की महिमा है। मूलसूत्र में '**जो जाणदि**' कहा है, अर्थात् जाननेवाला ज्ञान, मोहक्षय का कारण है, किन्तु अरहन्त तो अलग ही हैं, वे इस आत्मा का मोहक्षय नहीं करते। मोहक्षय का उपाय अपने पास है।

समवसरण में बैठनेवाला जीव भी क्षेत्र की अपेक्षा से अरहन्त से तो दूर ही बैठता है, अर्थात् क्षेत्र की अपेक्षा से तो उसके लिए भी दूर ही हैं और यहाँ भी क्षेत्र से अधिक दूर हैं, किन्तु क्षेत्र की अपेक्षा से अन्तर पड़ जाने से भी क्या हुआ? जिसने भाव में अरहन्त को अपने निकट कर लिया है, उसके लिए वे सदा निकट ही बिराजते हैं और जिसने भाव में अरहन्त को दूर किया है, उसके लिए दूर हैं। क्षेत्र की दृष्टि से निकट हों या न हों, इससे क्या होता है? यहाँ तो भाव के साथ मेल करके निकटता करनी है। अहो! अरहन्त के विरह को भुला दिया है, तब फिर कौन कहता है कि अभी अरहन्त भगवान नहीं है।

www.vitragvani.com

यह पञ्चम काल के मुनि का कथन है, पञ्चम काल में मुनि हो सकते हैं। जो जीव अपने ज्ञान के द्वारा अरहन्त के द्रव्य-गुण-पर्याय को जानता है, उसका दर्शनमोह नष्ट हो जाता है। जो जीव, अरहन्त के स्वरूप को भी विपरीतरूप से मानता हो और अरहन्त का यथार्थ निर्णय किए बिना उनकी पूजा-भक्ति करता हो, उसके मिथ्यात्व का नाश नहीं हो सकता। जिसने अरहन्त के स्वरूप को विपरीत माना, उसने अपने आत्मस्वरूप को भी विपरीत ही माना है और इसीलिए वह मिथ्यादृष्टि है। यहाँ मिथ्यात्व के नाश करने का उपाय बताते हैं। जिनके मिथ्यात्व का नाश हो गया है, उन्हें समझाने के लिए यह बात नहीं है; किन्तु जो मिथ्यात्व का नाश करने के लिए तैयार हुए हैं, उन जीवों के लिए यह कहा जा रहा है। वर्तमान में भी अपने पुरुषार्थ के द्वारा जीव के मिथ्यात्व का नाश हो सकता है; इसलिए यह बात कही है; अत: समझ में नहीं आता, इस धारणा को छोड़कर समझने का पुरुषार्थ करना चाहिए।

यद्यपि अभी क्षायिक सम्यक्त्व नहीं होता, किन्तु यह बात यहाँ नहीं की गयी है। आचार्यदेव कहते हैं कि जिसने अरहन्त के द्रव्य-गुण-पर्याय को जानकर, आत्मस्वरूप का निर्णय किया है, वह जीव, क्षायिक सम्यक्त्व की श्रेणी में ही बैठा है; इसलिए हम अभी से उसके दर्शनमोह का क्षय कहते हैं। भले ही अभी साक्षात् तीर्थङ्कर नहीं हैं तो भी ऐसे बलवन्तर निर्णय के भाव से कदम उठाया है कि साक्षात् अरहन्त के पास जाकर क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त करके, क्षायिक श्रेणी के बल से मोह का सर्वथा क्षय करके केवलज्ञान-अरहन्तदशा को प्रगट कर लेंगे। यहाँ पुरुषार्थ की ही बात है, वापिस होने की बात है ही नहीं।

अरहन्त का निर्णय करने में सम्पूर्ण स्वभाव प्रतीति में आ जाता है। अरहन्त भगवान के जो पूर्ण निर्मलदशा प्रगट हुई है, वह कहाँ से हुई है? जहाँ थी, वहाँ से प्रगट हुई है या जहाँ नहीं थी, वहाँ से प्रगट हुई है? स्वभाव में पूर्ण शक्ति थी, इसलिए स्वभाव के बल से वह दशा प्रगट हुई है। स्वभाव तो मेरे भी परिपूर्ण है, स्वभाव में न्यूनता नहीं है। बस! इस यथार्थ प्रतीति में द्रव्य-गुण की प्रतीति हो गयी और द्रव्य-गुण की ओर पर्याय झुकी तथा आत्मा के स्वभाव सामर्थ्य की दृष्टि हुई एवं विकल्प की अथवा पर की दृष्टि हट गयी। इस प्रकार इसी उपाय से सभी आत्मा अपने द्रव्य-गुण-पर्याय पर दृष्टि करके क्षायिक सम्यक्त्व को प्राप्त होते हैं और इसी प्रकार सभी आत्माओं को केवलज्ञान होता है, सम्यक्त्व का दूसरा कोई उपाय नहीं है। अनन्त आत्मायें हैं, उनमें अल्प काल में मोक्ष जानेवाले या अधिक काल के पश्चात् मोक्ष जानेवाले सभी आत्मा इसी विधि से कर्मक्षय करते हैं। पूर्णदशा अपनी विद्यमान निज शक्ति में से आती है और शक्ति की दृष्टि करने पर, पर का लक्ष्य टूटकर स्व में एकाग्रता का ही भाव रहने पर क्षायिक सम्यक्त्व होता है।

यहाँ धर्म करने बात है। कोई आत्मा, परद्रव्य का तो कुछ कर ही नहीं सकता। जैसे अरहन्त भगवान सबकुछ जानते हैं; परन्तु परद्रव्य का कुछ भी नहीं करते; इसी प्रकार आत्मा भी ज्ञाता स्वभावी है, ज्ञानस्वभाव की प्रतीति ही मोहक्षय का कारण है। क्षणिक विकारी पर्याय में राग का कर्तव्य माने तो समझना चाहिए कि उस जीव ने अरहन्त के स्वरूप को नहीं माना। ज्ञान में अनन्त परद्रव्य का कर्तृत्व मानना ही महा अधर्म है और ज्ञान में अरहन्त

का निर्णय किया कि अनन्त परद्रव्य का कर्तृत्व हट गया, यही धर्म है। ज्ञान में से पर का कर्तृत्व हट गया; इसलिए अब ज्ञान में ही स्थिर होना होता है और पर के लक्ष्य से जो विकारभाव होता है, उसका कर्तृत्व भी नहीं रहता। मात्र ज्ञातारूप से रहता है, यही मोहक्षय का उपाय है। जिसने अरहन्त के स्वरूप को जाना, वह सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा है और वह जैनी है। जैसा जिनेन्द्र अरहन्त का स्वभाव है, वैसा ही अपना स्वभाव है —ऐसा निर्णय करना, सो जैनत्व है और फिर स्वभाव की एकाग्रता के पुरुषार्थ के द्वारा वैसी पूर्णदशा प्रगट करना, सो जिनत्व है। अपना निजस्वभाव जाने बिना जैनत्व नहीं हो सकता।

जिसने अरहन्त के द्रव्य, गुण, पर्याय को जान लिया, उसने यह निश्चय कर लिया है कि मैं अपने द्रव्य, गुण, पर्याय की एकता के द्वारा राग के कारण से जो पर्याय की अनेकता होती है, उसे दूर करूँगा, तभी मुझे सुख होगा। इतना निश्चय किया कि उसकी यह सब विपरीत मान्यतायें छूट जाती हैं कि मैं पर का कुछ कर सकता हूँ अथवा विकार से धर्म होता है। अब स्वभाव के बल से स्वभाव में एकाग्रता करके स्थिर होना होता है, तब फिर उसके मोह कहाँ रह सकता है ? मोह का क्षय हो ही जाता है। मेरे आत्मा में स्वभाव के लक्ष्य से जो निर्मलता का अंश प्रगट हुआ है, वह निर्मलदशा बढ़ते-बढ़ते किस हद तक निर्मलरूप में प्रगट होती है ? जो अरहन्त के बराबर निर्मलता प्रगट होती है, वह मेरा स्वरूप है,यदि यह जान ले तो अशुद्धभावों से अपना स्वरूप भिन्न है, ऐसी शुद्धस्वभाव की प्रतीति करके दर्शनमोह का उसी समय क्षय कर दे, अर्थात् वह सम्यग्दृष्टि हो जाए; इसलिए अरहन्त भगवान के

www.vitragvani.com

स्वरूप का द्रव्य, गुण, पर्याय के द्वारा यथार्थ निर्णय करने पर, आत्मा की प्रतीति होती है और यही मोह का क्षय का उपाय है।

—इसके बाद—

अब आगे द्रव्य, गुण, पर्याय का स्वरूप बताया जाएगा और यह बताया जाएगा कि द्रव्य, गुण, पर्याय को किस प्रकार जानने से मोहक्षय होता है।

(जो जीव, अरहन्त को द्रव्य, गुण, पर्यायरूप से जानता है, वह अपने आत्मा को जानता है और उसका मोह अवश्य क्षय को प्राप्त होता है। अरहन्त का स्वरूप सर्व प्रकार शुद्ध है; इसलिए शुद्ध आत्मस्वरूप के प्रतिबिम्ब के समान श्री अरहन्त का आत्मा है। अरहन्त जैसा ही इस आत्मा का शुद्धस्वभाव स्थापित करके, उसे जानने की बात कही है। यहाँ मात्र अरहन्त की ही बात नहीं है, किन्तु अपने आत्मा की प्रतीति करके उसे जानना है। क्योंकि अरहन्त में और इस आत्मा में निश्चय से कोई अन्तर नहीं है। जो जीव अपने ज्ञान में अरहन्त का निर्णय करता है, उस जीव के भाव में अरहन्त भगवान साक्षात् विराजमान रहते हैं, उसे अरहन्त का विरह नहीं होता। इस प्रकार अपने ज्ञान में अरहन्त की यथार्थ प्रतीति करने पर, अपने आत्मा की प्रतीति होती है और उसका मोह अवश्य क्षय को प्राप्त होता है। यह पहिले कहे गए कथन का सार है। अब, द्रव्य, गुण, पर्याय का स्वरूप विशेषरूप से बताते हैं, उसे जानने के बाद अन्तरङ्ग में किस प्रकार की क्रिया करने से मोह-क्षय को प्राप्त होता है, यह बताते हैं।)

जो जीव अपने पुरुषार्थ के द्वारा आत्मा को जानता है, उस

जीव का मोह अवश्य क्षय को प्राप्त होता है — ऐसा कहा है, किन्तु यह नहीं कहा कि मोहकर्म का बल कम हो तो आत्मा को जानने का पुरुषार्थ प्रगट हो सकता है, क्योंकि मोहकर्म कहीं आत्मा को पुरुषार्थ करने से नहीं रोकता। जब जीव अपने ज्ञान में सच्चा पुरुषार्थ करता है, तब मोह अवश्य क्षय हो जाता है। जीव का पुरुषार्थ स्वतन्त्र है, 'पहले तू ज्ञान कर तो मोह क्षय को प्राप्त हो,' इसमें उपादान से कार्य का होना सिद्ध किया है, किन्तु 'पहले मोह क्षय हो तो तुझे आत्मा का ज्ञान प्रगट हो' इस प्रकार निमित्त की ओर से विपरीत को नहीं लिया है, क्योंकि निमित्त को लेकर जीव में कुछ भी नहीं होता।

अब यह बतलाते हैं कि अरहन्त भगवान के स्वरूप में द्रव्य-गुण-पर्याय किस प्रकार है। **'वहाँ अन्वय द्रव्य है, अन्वय का विशेषण गुण है, अन्वय के व्यतिरेक (भेद) पर्याय हैं।' (गाथा 80 टीका)** शरीर, अरहन्त नहीं है किन्तु द्रव्य-गुण -पर्याय -स्वरूप आत्मा, अरहन्त है। अनन्त अरहन्त और अनन्त आत्माओं का द्रव्य-गुण-पर्याय से क्या स्वरूप है, यह इसमें बताया है।

—द्रव्य—

यहाँ मुख्यता से अरहन्त भगवान के द्रव्य-गुण-पर्याय की बात है। अरहन्त भगवान के स्वरूप में जो अन्वय है, सो द्रव्य है 'जो अन्वय है, सो द्रव्य है' इसका क्या अर्थ है ? जो अवस्था बदलती है, वह कुछ स्थिर रहकर बदलती है। जैसे पानी में लहरें उठती हैं, वे पानी और शीतलता को स्थिर रखकर उठती हैं; पानी के बिना यों ही लहरें नहीं उठने लगतीं, इसी प्रकार आत्मा में

पर्यायरूपी लहरें (भाव) बदलती रहती हैं, उनके बदलने पर एक-एक भाव के बराबर आत्मा नहीं है, किन्तु सभी भावों में लगातार स्थिर रहनेवाला आत्मा है। त्रिकाल स्थिर रहनेवाले आत्मद्रव्य के आधार से पर्यायें परिणमित होती हैं। जो पहले और बाद के सभी परिणामों में स्थिर बना रहता है, वह द्रव्य है। परिणाम तो प्रति समय एक के बाद एक नये-नये होते हैं। सभी परिणामों में लगातार एक-सा रहनेवाला द्रव्य है। पहले भी वही था और बाद में भी वही है — इस प्रकार पहले और बाद का जो एकत्व है, सो अन्वय है और जो अन्वय है, सो द्रव्य है।

अरहन्त के सम्बन्ध में — पहले अज्ञानदशा थी, फिर ज्ञानदशा प्रकट हुई; इस अज्ञान और ज्ञान दोनों दशाओं में जो स्थिररूप में विद्यमान है, वह आत्मद्रव्य है। जो आत्मा पहले अज्ञानरूप था, वही अब ज्ञानरूप है। इस प्रकार पहले और बाद के जोड़रूप जो पदार्थ है, वह द्रव्य है। पर्याय पहले और पश्चात् की जोड़रूप नहीं होती, वह तो पहले और बाद की अलग-अलग (व्यतिरेकरूप) होती है और द्रव्य पूर्व-पश्चात् के सम्बन्धरूप (अन्वयरूप) होता है। जो एक अवस्था है, वह दूसरी नहीं होती और जो दूसरी अवस्था है,वह तीसरी नहीं होती; इस प्रकार अवस्था में पृथक्त्व है, किन्तु जो द्रव्य पहले समय में था, वही दूसरे समय में है और जो दूसरे समय में था, वह तीसरे समय में है; इस प्रकार द्रव्य में लगातार सादृश्य है।

जैसे सोने की अवस्था की रचनाएँ अनेक प्रकार की होती हैं, उसमें अँगूठी के आकार के समय कुण्डल नहीं होता और कुण्डलरूप आकार के समय कड़ा नहीं होता; इस प्रकार प्रत्येक

www.vitragvani.com

पर्याय के रूप में पृथक्त्व है, किन्तु जो सोना, अँगूठी के रूप में था, वही सोना कुण्डल के रूप में है और जो कुण्डल के रूप में था, वही कड़े के रूप में है — सभी प्रकारों में सोना तो एक ही है। किस आकार-प्रकार में सोना नहीं है ? सभी अवस्थाओं के समय सोना है। इसी प्रकार अज्ञानदशा के समय साधकदशा नहीं होती, साधकदशा के समय साध्यदशा नहीं होती - इस प्रकार प्रत्येक पर्याय का पृथक्त्व है, किन्तु जो आत्मा अज्ञानदशा में था, वही साधकदशा में है और जो साधकदशा में था, वही साध्यदशा में है। सभी अवस्थाओं में आत्मद्रव्य तो एक ही है। किस अवस्था में आत्मा नहीं है ? सभी अवस्थाओं में निरन्तर साथ रहकर गमन करनेवाला आत्मद्रव्य है।

पहले और पश्चात् जो स्थिर रहता है, वह द्रव्य है। अरहन्त भगवान का आत्मा स्वयं ही पहले अज्ञानदशा में था और अब वही सम्पूर्ण ज्ञानमय अरहन्तदशा में भी है। इस प्रकार अरहन्त के आत्मद्रव्य को पहचानना चाहिए। यह पहचान करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि अभी अपूर्णदशा होने पर भी, मैं पूर्ण अरहन्तदशा में भी स्थिर होऊँगा, इससे आत्मा की त्रैकालिकता लक्ष्य में आती है।

—गुण—

'अन्वय का जो विशेषण है, सो गुण है,' पहले द्रव्य की व्याख्या (परिभाषा) की; अब गुण की परिभाषा करते हैं। कड़ा, कुण्डल और अँगूठी इत्यादि सभी अवस्थाओं में रहनेवाला सोना, द्रव्य है — यह तो कहा है, परन्तु यह भी जान लेना चाहिए कि सोना कैसा है ? सोना पीला है, भारी है, चिकना है — इस प्रकार पीलापन, भारीपन, और चिकनापन, यह विशेषण सोने के लिए

www.vitragvani.com

लागू किए गये हैं; इसलिए यह पीलापन आदि सोने का गुण हैं; इसी प्रकार अरहन्त की पहले की और बाद की अवस्था में जो स्थिर रहता है, वह आत्मद्रव्य है — यह कहा है, परन्तु यह भी जान लेना चाहिए कि आत्म द्रव्य कैसा है ? आत्मा ज्ञानरूप है, दर्शनरूप है, चारित्ररूप है, इस प्रकार आत्मद्रव्य के लिए ज्ञान, दर्शन, और चारित्र विशेषण लागू होते हैं; इसलिए ज्ञान आदि आत्मद्रव्य के गुण हैं।

द्रव्य की शक्ति को गुण कहा जाता है। आत्मा चेतन द्रव्य है और चैतन्य उसका विशेषण है। परमाणु में जो पुद्गल है, सो द्रव्य है और वर्ण, गन्ध इत्यादि उसके विशेषण-गुण हैं। वस्तु में कोई विशेषण तो होता ही है, जैसे मिठास, गुड़ का विशेषण है। इस प्रकार आत्मद्रव्य का विशेषण क्या है ? अरहन्त भगवान आत्मद्रव्य किस प्रकार है ? यह पहले कहा जा चुका है। अरहन्त में किञ्चित्मात्र भी राग नहीं है और परिपूर्ण ज्ञान है, अर्थात् ज्ञान आतमद्रव्य का विशेषण है।

यहाँ मुख्यता से ज्ञान की बात कही है; इसी प्रकार दर्शन, चारित्र, वीर्य, अस्तित्व इत्यादि जो अनन्त गुण हैं, वे सब आत्मा के विशेषण हैं। अरहन्त, आत्मद्रव्य हैं और उस आत्मा में अनन्त सहवर्ती गुण हैं; वैसा ही मैं भी आत्मद्रव्य हूँ और मुझमें वे सब गुण विद्यमान हैं; इस प्रकार जो अरहन्त के आत्मा को द्रव्य, गुणरूप में जानता है, वह अपने आत्मा को भी द्रव्य, गुणरूप में जानता है। वह स्वयं समझता है कि द्रव्य, गुण के जान लेने पर अब पर्याय में क्या करना चाहिए और इसलिए उसके धर्म होता है। द्रव्य, गुण तो जैसे अरहन्त के हैं, वैसे ही सभी आत्माओं के सदा एकरूप हैं।

www.vitragvani.com

द्रव्य, गुण में कोई अन्तर नहीं है; अवस्था में संसार और मोक्ष है। द्रव्य-गुण में से पर्याय प्रगट होती है, इसलिए अपने द्रव्य-गुण को पहिचानकर, उस द्रव्य-गुण में पर्याय का जैसा-आकार-प्रकार स्वयं बनाना है, वैस ही कर सकता है।

इस प्रकार द्रव्यरूप से और गुणरूप से आत्मा की पहिचान करायी है, इसमें जो गुण है, वह द्रव्य की पहिचान करानेवाला है।

—पर्याय—

'अन्वय के व्यतिरके को पर्याय कहते हैं'— इनमें पर्यायों की परिभाषा बतायी है। द्रव्य के जो भेद हैं, सो पर्याय हैं। द्रव्य तो त्रिकाल है, उस द्रव्य को क्षण-क्षण के भेद से (क्षणवर्ती अवस्था से) लक्ष्य में लेना, सो पर्याय है। पर्याय का स्वभाव व्यतिरेकरूप है, अर्थात् एक पर्याय के समय दूसर पर्याय नहीं होती। गुण और द्रव्य सदा एक साथ होते हैं, किन्तु पर्याय एक के बाद दूसरी होती है। अरहन्त भगवान के केवलज्ञानपर्याय है,तब उनके पूर्व की अपूर्ण ज्ञानदशा नहीं होती। वस्तु के जो एक-एक समय के भिन्न-भिन्न भेद हैं, सो पर्याय है। कोई भी वस्तु, पर्याय के बिना नहीं हो सकती।

आत्मद्रव्य स्थिर रहता है और उसकी पर्याय बदलती रहती है। द्रव्य और गुण एकरूप हैं, उनमें भेद नहीं है, किन्तु पर्याय में अनेक-प्रकार से परिवर्तन होता है; इसलिए पर्याय में भेद है। पहले द्रव्य-गुण-पर्याय का स्वरूप भिन्न-भिन्न बताकर, फिर तीनों का अभेद द्रव्य में समाविष्ट कर दिया है; इस प्रकार द्रव्य-गुण-पर्याय की परिभाषा पूर्ण हुई।

www.vitragvani.com

—प्रारम्भिक कर्तव्य—

अरहन्त भगवान के द्रव्य-गुण-पर्याय को भलीभाँति जान लेना ही धर्म है। अरहन्त भगवान के द्रव्य-गुण-पर्याय को जाननेवाला जीव, अपने आत्मा को भी जानता है। उसे जाने बिना दया, भक्ति, पूजा, तप, व्रत, ब्रह्मचर्य या शास्त्राभ्यास इत्यादि सब कुछ करने पर भी धर्म नहीं होता और मोह दूर नहीं होता; इसलिए पहले अपने ज्ञान के द्वारा अरहन्त भगवान के द्रव्य-गुण-पर्याय का निर्णय करना चाहिए, यही धर्म करने के लिये प्रारम्भिक कर्तव्य है। पहले द्रव्य-गुण-पर्याय का स्वरूप बताया है। अरहन्त के द्रव्य-गुण-पर्याय को जाननेवाला जीव, अपने द्रव्य-गुण-पर्यायमय आत्मा को जान लेता है — यह बात अब यहाँ कही जाती है। **''सर्वतः विशुद्ध भगवान अरहन्त में (अरहन्त के स्वरूप को ध्यान में रखकर) जीव तीनों प्रकार के समय को (द्रव्य-गुण-पर्यायमय निज आत्मा को) अपने मन के द्वारा जान लेता है।''** *(—गाथा 80 की टीका)*

अरहन्त भगवान का स्वरूप सर्वतः विशुद्ध है, अर्थात् वे द्रव्य से, गुण से और पर्याय से सम्पूर्ण शुद्ध हैं; इसलिए द्रव्य-गुण-पर्याय से उनके स्वरूप को जानने पर, उस जीव के समझ में आ जाता है कि अपना स्वरूप द्रव्य से, गुण से, पर्याय से कैसा है।

इस आत्मा का और अरहन्त का स्वरूप परमार्थतः समान है; इसलिए जो अरहन्त के स्वरूप को जानता है, वह अपने स्वरूप को जानता है और जो अपने स्वरूप को जानता है, उसके मोह का क्षय हो जाता है।

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com

—सम्यक्त्वसन्मुख दशा—

जिसने अपने ज्ञान के द्वारा अरहन्त के द्रव्य-गुण-पर्याय को लक्ष्य में लिया है, उस जीव को अरहन्त का विचार करने पर, परमार्थ से अपना ही विचार आता है। अरहन्त के द्रव्य-गुण पूर्ण हैं और उनकी अवस्था सम्पूर्ण ज्ञानमय है, सम्पूर्ण विकार रहित है; ऐसा निर्णय करने पर यह प्रतीति होती है कि अपने द्रव्य-गुण पूर्ण हैं और उनकी अवस्था सम्पूर्ण ज्ञानरूप, विकाररहित होनी चाहिए।

जैसे भगवान अरहन्त हैं, वैसा ही मैं हूँ; इस प्रकार अरहन्त को जानने पर, स्वसमय को मन के द्वारा जीव जान लेता है। यहाँ तक अभी अरहन्त के स्वरूप के साथ अपने स्वरूप की समानता करता है, अर्थात् अरहन्त के लक्ष्य से अपने आत्मा के स्वरूप का निश्चय करना प्रारम्भ करता है। यहाँ पर लक्ष्य से निर्णय होने के कारण यह कहा है कि मन के द्वारा अपने आत्मा को जान लेता है। यद्यपि यहाँ विकल्प है; तथापि विकल्प के द्वारा जो निर्णय कर लिया है, उस निर्णयरूप ज्ञान में से ही मोक्षमार्ग का प्रारम्भ होता है। मन के द्वारा विकल्प से ज्ञान किया है; तथापि निर्णय के बल से ज्ञान में से विकल्प को अलग करके स्वलक्ष्य से ठीक समझकर मोह का क्षय अवश्य करेगा — ऐसी शैली है। जिसने मन के द्वारा आत्मा का निर्णय किया है, उसकी सम्यक्त्व के सन्मुख दशा हो चुकी है।

—अरहन्त के साथ समानता—

अब यह बतलाते हैं कि अरहन्त को द्रव्य-गुण-पर्याय से

जाननेवाला जीव, द्रव्य-गुण-पर्यायस्वरूप अपने आत्मा को किस प्रकार जान लेता है। अरहन्त को जाननेवाला जीव, अपने ज्ञान में द्रव्य-गुण-पर्याय का इस प्रकार विचार करता है —

'यह चेतन है, ऐसा जो अन्वय, सो द्रव्य है, अन्वय के आश्रित रहनेवाला जो 'चैतन्य' विशेषण है, सो गुण है और एक समय की मर्यादावाला जिसका काल परिमाण होने से परस्पर अप्रवृत्त जो अन्वय के व्यतिरेक हैं (एक-दूसरे में प्रवृत्त न होनेवाले जो अन्वय के व्यतिरेक हैं), सो पर्याय है, जो कि चिद्विवर्तन की (आत्मा के परिणमन की) ग्रन्थियाँ हैं।'

(—गाथा 80 की टीका)

पहले अरहन्त भगवान को सामान्यतया जानकर, अब उनके स्वरूप को लक्ष्य में रखकर द्रव्य-गुण-पर्याय से विशेषरूप में विचार करते हैं। 'यह अरहन्त आत्मा है,' इस प्रकार द्रव्य को जान लिया। ज्ञान को धारण करनेवाला जो सदा रहनेवाला द्रव्य है, सो वही आत्मा है। इस प्रकार अरहन्त के साथ आत्मा की सदृश्यता बतायी है। चेतन द्रव्य, आत्मा है। आत्मा चैतन्यस्वरूप है, चैतन्य गुण आत्मद्रव्य के आश्रित है, सदा स्थिर रहनेवाले आत्मद्रव्य के आश्रय से ज्ञान रहता है, द्रव्य के आश्रय से रहनेवाला होने से ज्ञान गुण है। अरहन्त के गुण को देखकर यह निश्चय करता है कि स्वयं अपने आत्मा के गुण कैसे हैं; जैसा अरहन्त का स्वभाव है, वैसा ही मेरा स्वभाव है।

द्रव्य-गुण त्रैकालिक हैं, उसके प्रतिक्षणवर्ती जो भेद हैं, सो पर्यायें हैं। पर्याय की मर्यादा एक समयमात्र की है। एक ही समय की मर्यादा होती है; इसलिए दो पर्यायें कभी एकत्रित नहीं होतीं।

पर्यायें एक-दूसरे से अप्रवृत्त हैं; एक पर्याय दूसरी पर्याय में नहीं आती; इसलिए पहली पर्याय के विकाररूप होने पर भी, मैं अपने स्वभाव से दूसरी पर्याय को निर्विकार कर सकता हूँ। इसका अर्थ यह है कि विकार एक समयमात्र के लिए है और विकाररहित स्वभाव त्रिकाल है। पर्याय एक समयमात्र के लिए ही होती है, यह जान लेने पर यह प्रतीति हो जाती है कि विकार क्षणिक है। इस प्रकार अरहन्त के साथ समानता करके अपने स्वरूप में उसे मिलाता है। चेतन की एक समयवर्ती पर्यायें ज्ञान की ही गाँठें हैं। पर्याय का सम्बन्ध चेतन के साथ है। वास्तव में राग, चेतन की पर्याय नहीं है; क्योंकि अरहन्त की पर्याय में राग नहीं है। जितना अरहन्त की पर्याय में होता है, उतना ही इस आत्मा की पर्याय का स्वरूप है।

पर्याय प्रतिसमय की मर्यादावाली है। एक पर्याय का दूसरे समय में नाश हो जाता है; इसलिए एक अवस्था में से दूसरी अवस्था नहीं आती, किन्तु द्रव्य में से ही पर्याय आती है, इसलिए पहले द्रव्य का स्वरूप बताया है। पर्याय में जो विकार है, सो स्वरूप नहीं है; किन्तु गुण जैसी ही निर्विकार अवस्था होनी चाहिए; इसलिए बाद में गुण का स्वरूप बताया है। राग अथवा विकल्प में से पर्याय प्रगट नहीं होती, क्योंकि पर्याय एक-दूसरे में प्रवृत्त नहीं होती। पर्याय को चिद्विवर्तन की ग्रन्थी क्यों कहा है ? पर्याय स्वयं तो एक समयमात्र के लिए है, परन्तु एक समय की पर्याय में त्रैकालिक द्रव्य को जानने की शक्ति है। एक समय की पर्याय में त्रैकालिक द्रव्य का निर्णय समाविष्ट हो जाता है। पर्याय की ऐसी शक्ति बताने के लिए उसे चिद्विवर्तन की ग्रन्थी कहा है।

अरहन्त के केवलज्ञानदशा होती है, जो केवलज्ञानदशा है, वह चिद्विवर्तन की वास्तविक ग्रन्थी है। जो अपूर्ण ज्ञान है, सो स्वरूप नहीं है, केवलज्ञान होने पर एक ही पर्याय में लोकालोक का पूर्ण ज्ञान समाविष्ट हो जाता है, मति-श्रुत पर्याय में भी अनेकानेक भावों का निर्णय समाविष्ट हो जाता है। यद्यपि पर्याय स्वयं एक समय की है, तथापि उस एक समय में सर्वज्ञ के परिपूर्ण द्रव्य-गुण-पर्याय को अपने ज्ञान में समाविष्ट कर लेती है। सम्पूर्ण अरहन्त का निर्णय एक समय में कर लेने से पर्याय, चैतन्य की गाँठ है।

अरहन्त की पर्याय सर्वत: सर्वथा शुद्ध है। यह शुद्धपर्याय जब ख्याल में ली, तब उस समय निज के वैसी पर्याय वर्तमान में नहीं है, तथापि यह निर्णय होता है कि मेरी अवस्था का स्वरूप अनन्त ज्ञानशक्तिरूप सम्पूर्ण है; रागादिक मेरी पर्याय का मूलस्वरूप नहीं है। इस प्रकार अरहन्त के लक्ष्य से द्रव्य-गुण-पर्याय स्वरूप अपने आत्मा को शुभ विकल्प के द्वारा जाना है। इस प्रकार द्रव्य-गुण-पर्याय के स्वरूप को एक ही साथ जान लेनेवाला जीव बाद में क्या करता है और उसका मोह कब नष्ट होता है-यह अब कहते हैं।

''अब इस प्रकार..................अवश्यमेव प्रलय को प्राप्त होता है ?'' *(—गाथा 80 की टीका)*

द्रव्य-गुण-पर्याय का यथार्थ स्वरूप जान लेने पर, जीव त्रैकालिक द्रव्य को एककाल में निश्चित कर लेता है। आत्मा के त्रैकालिक होने पर भी, जीव उसके त्रैकालिक स्वरूप को एक ही काल में समझ लेता है। अरहन्त को द्रव्य-गुण-पर्याय से जान लेने पर, अपने में क्या फल प्रगट

हुआ है, यह बतलाते हैं। त्रैकालिक पदार्थ को इस प्रकार लक्ष्य में लेता है कि जैसे अरहन्त भगवान त्रिकाली आत्मा हैं, वैसा ही मैं त्रिकाली आत्मा हूँ। त्रिकाली पदार्थ को जान लेने में त्रिकाल जितना समय नहीं लगता, किन्तु वर्तमान एक समय की पर्याय के द्वारा त्रैकालिक का ख्याल हो जाता है —उसका अनुभव हो जाता है। क्षायिक सम्यक्त्व कैसे होता है, इसकी यह बात है। प्रारम्भिक प्रक्रिया यही है। इसी क्रिया के द्वारा मोह का क्षय होता है।

जीव को सुख चाहिए है। इस जगत में सम्पूर्ण स्वाधीन सुखी श्री अरहन्त भगवान हैं। इसलिए 'सुख चाहिये है' का अर्थ यह हुआ कि स्वयं भी अरहन्तदशारूप होना है। जिसने अपने आत्मा को अरहन्त जैसा माना है, वही स्वयं अरहन्त जैसी दशारूप होने की भावना करता है। जिसने अपने को अरहन्त जैसा माना है, उसने अरहन्त के समान द्रव्य-गुण-पर्याय के अतिरिक्त अन्य सब अपने आत्मा में से निकाल दिया है। (यहाँ पहले मान्यता—श्रद्धा करने की बात है) परद्रव्य का कुछ करने की मान्यता, शुभराग से धर्म होने की मान्यता तथा निमित्त से हानि-लाभ होने की मान्यता दूर हो गयी है, क्योंकि अरहन्त के आत्मा के यह सब कुछ नहीं है।

द्रव्य-गुण-पर्याय का स्वरूप जानने के बाद क्या करना चाहिए?

अरहन्त के स्वरूप को द्रव्य-गुण-पर्यायरूप से जाननेवाला जीव, त्रैकालिक आत्मा को द्रव्य-गुण-पर्यायरूप से एक क्षण में समझ लेता है। बस! यहाँ आत्मा को समझ लेने तक की बात की

है, वहाँ तक विकल्प है, विकल्प के द्वारा आत्मलक्ष्य किया है। अब उस विकल्प को तोड़कर, द्रव्य-गुण-पर्याय के भेद को छोड़कर, अभेद आत्मा का लक्ष्य करने की बात कहते हैं। इस अभेद का लक्ष्य करना ही अरहन्त को जानने का सच्चा फल है और जब अभेद का लक्ष्य करता है, तब उसी क्षण मोह का क्षय हो जाता है।

जिस अवस्था के द्वारा अरहन्त को जानकर त्रैकालिक द्रव्य का ख्याल किया, उस अवस्था में जो विकल्प होता है, वह अपना स्वरूप नहीं है, किन्तु जो ख्याल किया है, वह अपना स्वभाव है। ख्याल करनेवाला जो ज्ञान है, वह सम्यक्ज्ञान की जाति का है, किन्तु अभी परलक्ष्य है; इसलिए यहाँ तक सम्यग्दर्शन प्रगटरूप नहीं है।

अब उस अवस्था को परलक्ष्य से हटाकर स्वभाव में संकलित करता है, भेद का लक्ष्य छोड़कर अभेद के लक्ष्य से सम्यग्दर्शन को प्रगटरूप करता है। जैसे मोती का हार झूल रहा हो तो उस झूलते हुए हार को लक्ष्य में लेने पर उसके पहले से अन्त तक के सभी मोती उस हार में ही समाविष्ट हो जाते हैं और हार तथा मोतियों का भेद लक्ष्य में नहीं आता। यद्यपि प्रत्येक मोती पृथक्-पृथक् है, किन्तु जब हार को देखते हैं, तब एक-एक मोती का लक्ष्य छूट जाता है, परन्तु पहले हार का स्वरूप जानना चाहिए कि हार में अनेक मोती हैं और हार सफेद है। इस प्रकार पहले हार, हार का रङ्ग और मोती, इन तीनों का स्वरूप जाना हो तो उन तीनों को झूलते हुए हार में समाविष्ट करके, हार को एकरूप से लक्ष्य में लिया जा सकता है, मोतियों का जो लगातार तारतम्य है, सो हार

है। प्रत्येक मोती उस हार का विशेष है और उन विशेषों को यदि एक सामान्य में संकलित किया जाए तो हार लक्ष्य में आता है। हार की तरह आत्मा के द्रव्य-गुण-पर्यायों को जानकर, पश्चात् समस्त पर्यायों को और गुणों को एक चैतन्य द्रव्य में ही अन्तर्गत करने पर, द्रव्य का लक्ष्य होता है और उसी क्षण सम्यग्दर्शन प्रगट होकर मोह का क्षय हो जाता है।

यहाँ झूलता हुआ अथवा लटकता हुआ हार इसलिए लिया है कि वस्तु कूटस्थ नहीं है, किन्तु प्रति समय झूल रही है, अर्थात् प्रत्येक समय में द्रव्य में परिणमन हो रहा है। जैसे हार के लक्ष्य से मोती का लक्ष्य छूट जाता है; उसी प्रकार द्रव्य के लक्ष्य से पर्याय का लक्ष्य छूट जाता है। पर्यायों में बदलनेवाला तो एक आत्मा है, बदलनेवाले के लक्ष्य से समस्त परिणामों को उसमें अन्तर्गत किया जाता है। पर्याय की दृष्टि से प्रत्येक पर्याय भिन्न-भिन्न है, किन्तु जब द्रव्य की दृष्टि से देखते हैं, तब समस्त पर्यायें उसमें अन्तर्गत हो जाती हैं इस प्रकार आत्मद्रव्य को ख्याल में लेना ही सम्यग्दर्शन है।

प्रथम आत्मद्रव्य के गुण और आत्मा की अनादि-अनन्त काल की पर्याय, इन तीनों का वास्तविक स्वरूप (अरहन्त के स्वरूप के साथ सादृश्य करके) निश्चित किया हो तो फिर उन द्रव्य -गुण-पर्याय को एक परिणमित होते हुए, द्रव्य में समाविष्ट करके, द्रव्य को अभेदरूप से लक्ष्य में लिया जा सकता है। पहले सामान्य -विशेष (द्रव्य-पर्याय) को जानकर, फिर विशेषों को सामान्य में अन्तर्गत किया जाता है, किन्तु जिसने सामान्य-विशेष का स्वरूप न जाना हो, वह विशेष को सामान्य में अन्तर्लीन कैसे करे?

पहले अरहन्त जैसे द्रव्य-गुण-पर्याय से अपने आत्मा को लक्ष्य में लेकर, पश्चात् जिस जीव ने गुण-पर्यायों को एक द्रव्य में संकलित किया है, उसे आत्मा को स्वभाव में धारण कर रखा है। जहाँ आत्मा को स्वभाव में धारण किया, वहाँ मोह को रहने का स्थान नहीं रहता, अर्थात् मोह निराश्रयता के कारण उसी क्षण क्षय को प्राप्त होता है। पहले अज्ञान के कारण द्रव्य-गुण-पर्याय के भेद करता था; इसलिए उन भेदों के आश्रय से मोह रह रहा था, किन्तु जहाँ द्रव्य, गुण, पर्याय को अभेद किया, वहाँ द्रव्य, गुण, पर्याय का भेद दूर हो जाने से मोह क्षय को प्राप्त होता है। द्रव्य, गुण, पर्याय की एकता ही धर्म है और द्रव्य, गुण, पर्याय के बीच भेद ही अधर्म है।

पृथक्-पृथक् मोती विस्तार है, क्योंकि उनमें अनेकत्व है और सभी मोतियों के अभेदरूप में जो एक हार है, सो संक्षेप है। जैसे पर्याय के विस्तार को द्रव्य से संकलित कर दिया; **उसी प्रकार विशेष्य-विशेषणपने की वासना को भी दूर करके गुण को भी द्रव्य में ही अन्तरनिहित करके, मात्र आत्मा को ही जानना और इस प्रकार आत्मा को जानने पर, मोह का क्षय हो जाता है।** पहले यह कहा था कि 'मन के द्वारा जान लेता है'; किन्तु वह जानना विकल्पसहित था और यहाँ जो जानने की बात कही है, वह विकल्परहित अभेद का जानना है। इस जानने के समय परलक्ष्य तथा द्रव्य, गुण, पर्याय के भेद का लक्ष्य छूट चुका है।

यहाँ (मूलटीका में) द्रव्य, गुण, पर्याय को अभेद करने से सम्बन्धित पर्याय और गुण के क्रम से बात की है। पहले कहा है

www.vitragvani.com

कि 'चिद्-विवर्तों को चेतन में ही संक्षिप्त करके' और फिर कहा है कि 'चैतन्य को चेतन में ही अन्तनिहित करके' यहाँ पर पहले कथन में पर्याय को द्रव्य के साथ अभेद करने की बात है और दूसरे में गुण को द्रव्य के साथ अभेद करने की बात है; इस प्रकार पर्याय को और गुण को द्रव्य में अभेद करने की बात क्रम से समझाई है, किन्तु अभेद का लक्ष्य करने पर वे क्रम नहीं होते। जिस समय अभेद द्रव्य की ओर ज्ञान झुकता है, उसी समय पर्यायभेद और गुणभेद का लक्ष्य एक साथ दूर हो जाता है, समझाने में तो क्रम से ही बात आती है।

जैसे झूलते हुए हार को लक्ष्य में लेते समय ऐसा विकल्प नहीं होता कि 'यह हार सफेद है' अर्थात् उसकी सफेदी को झूलते हुए हार में ही अलोप कर दिया जाता है; इसी प्रकार आत्मद्रव्य में 'यह आत्मा और ज्ञान उसका गुण अथवा आत्मा ज्ञानस्वभावी'— ऐसे गुण-गुणी भेद की कल्पना दूर करके, गुण को द्रव्य में ही अदृश्य करना चाहिए। मात्र आत्मा को लक्ष्य में लेने पर, ज्ञान और आत्मा के भेदसम्बन्धी विचार अलोप हो जाते हैं —गुण-गुणी भेद का विकल्प टूटकर एकाकार चैतन्यस्वरूप का अनुभव होता है। यही सम्यग्दर्शन है।

हार में पहले तो मोती का मूल्य, उसकी चमक और हार की गुथाई को जानता है, पश्चात् मोती का लक्ष्य छोड़कर 'यह हार सफेद है', इस प्रकार गुण-गुणी के भेद से हार को लक्ष्य में लेता है और फिर मोती, उसकी सफेदी और हार-इन तीनों के सम्बन्ध के विकल्प छूटकर; मोती और उसकी सफेदी को हार में ही अदृश्य करके मात्र हार का ही अनुभव किया जाता है; इसी प्रकार

www.vitragvani.com

पहले अरहन्त का निर्णय करके, द्रव्य-गुण-पर्याय के स्वरूप को जाने कि ऐसी पर्याय मेरा स्वरूप है, ऐसे मेरे गुण हैं और मैं अरहन्त जैसा ही आत्मा हूँ। इस प्रकार विकल्प के द्वारा जानने के बाद, पर्याय के अनेक भेद का लक्ष्य छोड़कर 'मैं ज्ञानस्वरूप आत्मा हूँ'— इस प्रकार गुण-गुणी भेद के द्वारा आत्मा को लक्ष्य में ले; और फिर द्रव्य, गुण अथवा पर्याय सम्बन्धी विकल्पों को छोड़कर, मात्र आत्मा का अनुभव करने के समय वह गुण-गुणी भेद भी गुप्त हो जाता है, अर्थात् ज्ञानगुण आत्मा में ही समाविष्ट हो जाता है; इस प्रकार केवल आत्मा का अनुभव करना, वह सम्यग्दर्शन है।

''हार को खरीदनेवाला आदमी, खरीदते समय हार तथा उसकी सफेदी और उसके मोती इत्यादि सबकी परीक्षा करता है, परन्तु बाद में सफेदी और मोतियों को हार में समाविष्ट करके उनके ऊपर का लक्ष छोड़कर केवल हार को ही जानता है। यदि ऐसा न करे तो हार को पहिनने की स्थिति में भी सफेदी इत्यादि के विकल्प रहने से वह हार को पहिनने के सुख का संवेदन नहीं कर सकेगा।'' **(गुजराती-प्रवचनसार, पृष्ठ 119 फुटनोट)** इसी प्रकार आत्मस्वरूप को समझनेवाला, समझते समय तो द्रव्य, गुण, पर्याय — इन तीनों के स्वरूप का विचार करता है, परन्तु बाद में गुण और पर्याय को द्रव्य में ही समाविष्ट करके, उनके ऊपर का लक्ष्य छोड़कर मात्र आत्मा को ही जानता है। यदि ऐसा न करे तो द्रव्य का स्वरूप ख्याल में आने पर भी, गुण-पर्याय सम्बन्धी विकल्प रहने से द्रव्य का अनुभव नहीं कर सकेगा।

हार आत्मा है, सफेदी गुण है और मोती पर्याय हैं। इस प्रकार दृष्टान्त और सिद्धान्त का सम्बन्ध समझना चाहिए।

द्रव्य, गुण, पर्याय के स्वरूप को जानने के बाद मात्र अभेदस्वरूप आत्मा का अनुभव करना ही धर्म की प्रथम क्रिया है। इसी क्रिया से अनन्त अरहन्त तीर्थङ्कर, क्षायिकसम्यग्दर्शन प्राप्त करके केवलज्ञान और मोक्षदशा को प्राप्त हुए हैं। वर्तमान में भी मुमुक्षुओं के लिये यही उपाय है और भविष्य में जो अनन्त तीर्थङ्कर होंगे, वे सब इसी उपाय से होंगे।

सर्व जीवों को सुखी होना है, सुखी होने के लिये स्वाधीनता चाहिए; स्वाधीनता प्राप्त करने के लिये सम्पूर्ण स्वाधीनता का स्वरूप जानना चाहिए। सम्पूर्ण स्वाधीन अरहन्त भगवान हैं, इसलिए अरहन्त का ज्ञान करना चाहिए। जैसे अरहन्त के द्रव्य, गुण, पर्याय हैं, वैसे ही अपने हैं। अरहन्त के राग-द्वेष नहीं हैं, वे न तो अपने शरीर का कुछ करते हैं और न पर का ही कुछ करते हैं। उनके दया अथवा हिंसा के विकारी भाव नहीं होते, वे मात्र ज्ञान ही करते हैं; इसी प्रकार मैं भी ज्ञान करनेवाला ही हूँ, अन्य कुछ मेरा स्वरूप नहीं है।

वर्तमान में मेरे ज्ञान में कचाई है, वह मेरी अवस्था के दोष के कारण से है; अवस्था का दोष भी मेरा स्वरूप नहीं है। इस प्रकार पहले भेद के द्वारा निश्चित करना चाहिए, किन्तु बाद में भेद के विचार को छोड़कर, मात्र आत्मा को जानने से स्वाधीनता का उपाय प्रगट होता है।

द्रव्य-गुण-पर्याय का स्वरूप जानने का फल :—

पर्यायों को और गुण को एक-द्रव्य में अन्तर्लीन करके केवल

www.vitragvani.com

आत्मा को जानने पर उस समय अन्तरङ्ग में क्या होता है, सो अब कहते हैं —'**केवल आत्मा को जानने पर, उसके उत्तरोत्तर क्षण में कर्ता-कर्म-क्रिया का विभाग क्षय होता जाता है; इसलिए निष्क्रिय चिन्मात्रभाव को प्राप्त होता है।**'

(—गाथा 80 की टीका)

द्रव्य-गुण-पर्याय के भेद का लक्ष्य छोड़कर अभेद-स्वभाव की ओर झुकने पर कर्ता-कर्म-क्रिया के भेद का विभाग क्षय होता है और जीव निष्क्रिय चिन्मात्रभाव को प्राप्त होता है — यही सम्यग्दर्शन है।

मैं आत्मा हूँ, ज्ञान मेरा गुण है और यह मेरी पर्याय है — ऐसे भेद की क्रिया से रहित, पुण्य-पाप के विकल्प से रहित, निष्क्रिय चैतन्यभाव का अनुभव करने में अनन्त पुरुषार्थ है, अपना आत्मबल स्वोन्मुख होता है। कर्ता-कर्म-क्रिया के भेद का विभाग क्षय को प्राप्त होता है। पहले विकल्प के समय, मैं कर्ता हूँ और पर्याय मेरा कार्य है; इस प्रकार कर्ता-कर्म का भेद होता था, किन्तु जब पर्याय को द्रव्य में ही मिला दिया, तब द्रव्य और पर्याय के बीच कोई भेद नहीं रहा, अर्थात् द्रव्य कर्ता और पर्याय उसका कार्य है —ऐसे भेद का, अभेद के अनुभव के समय क्षय हो जाता है। पर्यायों को और गुणों को अभेदरूप से आत्मद्रव्य में ही समाविष्ट करके परिणामी, परिणाम और परिणति (कर्ता-कर्म और क्रिया) को अभेद में समाविष्ट करके अनुभव करना, सो अनन्त पुरुषार्थ है और यही ज्ञान का स्वभाव है। भङ्ग-भेद में जाने पर, ज्ञान और वीर्य कम होते जाते हैं और अभेद का अनुभव करने पर, उत्तरोत्तर क्षण में कर्ता-कर्म-क्रिया का विभाग क्षय होता जाता है। वास्तव में तो जिस

www.vitragvani.com

समय अभेदस्वभाव की ओर झुकते हैं, उसी समय कर्ता-कर्म-क्रिया का भेद टूट जाता है, तथापि यहाँ 'उत्तरोत्तर क्षण में क्षय होता जाता है' —ऐसा क्यों कहा है ?

अनुभव करने के समय पर्याय, द्रव्य की ओर अभिन्न हो जाती है, परन्तु अभी सर्वथा अभिन्न नहीं हुई है। यदि सर्वथा अभिन्न हो जाए तो उसी समय केवलज्ञान हो जाए, परन्तु जिस समय अभेद के अनुभव की ओर ढ़लता है, उसी क्षण से प्रत्येक पर्याय में भेद का क्रम टूटने लगता है और अभेद का क्रम बढ़ने लगता है। जब पर की ओर लक्ष्य था, तब पर के लक्ष्य से उत्तरोत्तर क्षण में भेदरूप पर्याय होती थी, अर्थात् प्रतिक्षण पर्याय हीन होती जाती थी और जब पर का लक्ष्य छोड़कर निज में अभेद के लक्ष्य से एकाग्र हो गया, तब निज लक्ष्य से उत्तरोत्तर क्षण में पर्याय अभिन्न होने लगी, अर्थात् प्रतिक्षण पर्याय की शुद्धता बढ़ने लगी।

जहाँ सम्यग्दर्शन हुआ कि क्रमश: प्रत्येक पर्याय में शुद्धता की वृद्धि होकर केवलज्ञान ही होता है। बीच में शिथिलता या विघ्न नहीं आ सकता। सम्यक्त्व हुआ सो हुआ; अब उत्तरोत्तर क्षण में द्रव्य-पर्याय के बीच के भेद को सर्वथा तोड़कर केवलज्ञान को प्राप्त किए बिना नहीं रुकता। ज्ञानरूपी अवस्था के कार्य में अनन्त केवलज्ञानियों का निर्णय समा जाता है, प्रत्येक पर्याय की ऐसी शक्ति है। जिस ज्ञान की पर्याय ने अरहन्त का निर्णय किया, उस ज्ञान में अपना निर्णय करने की शक्ति है। पर्याय की शक्ति चाहे जितनी हो, तथापि वह पर्याय क्षणिक है। एक के बाद एक अवस्था का लक्ष्य करने पर, उसमें भेद का विकल्प उठता है, क्योंकि अवस्था में खण्ड है; इसलिए उसके लक्ष्य से खण्ड का विकल्प

उठता है। अवस्था के लक्ष्य में अटकनेवाला वीर्य और ज्ञान दोनों रागवाले हैं। जब पर्याय का लक्ष्य छोड़कर, भेद के राग को तोड़कर, अभेदस्वभाव की ओर वीर्य को लगाकर, वहाँ ज्ञान की एकाग्रता करता है, तब निष्क्रिय चिन्मात्रभाव का अनुभव होता है। यह अनुभव ही सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है।

निष्क्रिय कहने का कारण :—

यहाँ चिन्मात्रभाव को 'निष्क्रिय' कहने का कारण क्या है? क्योंकि वहाँ परिणतिरूप क्रिया तो है, परन्तु खण्डरूप-रागरूप क्रिया का अनुभव नहीं है, कर्ता-कर्म और क्रिया का भेद नहीं है तथा कर्ता-कर्म-क्रिया सम्बन्धी विकल्प नहीं है, इस अपेक्षा से 'निष्क्रिय' कहा गया है, परन्तु अनुभव के समय अभेदरूप से परिणति तो होती रहती है। **पहले जब परलक्ष्य से द्रव्य-पर्याय के बीच भेद होते थे, तब विकल्परूप क्रिया थी, किन्तु निजद्रव्य के लक्ष्य से एकाग्रता करने पर, द्रव्य-पर्याय के बीच का भेद टूटकर दोनों अभेद हो गये,** इस अपेक्षा से चैतन्यभाव को निष्क्रिय कहा है। जानने के अतिरिक्त जिसकी अन्य कोई क्रिया नहीं है, ऐसे ज्ञानमात्र निष्क्रियभाव को इस गाथा में कथित उपाय के द्वारा जानकर ही जीव (सुख-शान्ति) प्राप्त कर सकता है।

मोहान्धकार अवश्य नष्ट होता है। :—

अभेद अनुभव के द्वारा 'चिन्मात्रभाव को प्राप्त करता है' यह बात अस्ति की अपेक्षा से कही है, अब चिन्मात्रभाव को प्राप्त करने पर 'मोहनाश को प्राप्त होता है;' इस प्रकार नास्ति की अपेक्षा से

बात करते हैं। चिन्मात्रभाव की प्राप्ति और मोह का क्षय, यह दोनों एक ही समय में होते हैं।

'इस प्रकार जिसका निर्मल प्रकाश मणि (रत्न) के समान अकम्परूप से प्रवर्तमान है, ऐसे उस चिन्मात्रभाव को प्राप्त जीव का मोहान्धकार निराश्रयता के कारण अवश्य ही नष्ट हो जाता है।' *(— गाथा 80 की टीका)*

यहाँ शुद्ध सम्यक्त्व की बात है; इसलिए मणि का दृष्टान्त दिया है। दीप का प्रकाश तो प्रकम्पित होता रहता है, वह एक समान नहीं रहता, किन्तु मणि का प्रकाश अकम्परूप से सतत् प्रवर्तमान रहता है, उसका प्रकाश कभी बुझ नहीं जाता; इसी प्रकार अभेद चैतन्यस्वभावी भगवान आत्मा में लक्ष्य करके, वहाँ एकाकाररूप से प्रवर्तमान जीव के चैतन्य का अकम्प प्रकाश प्रगट होने पर, मोहान्धकार को रहने का कोई स्थान नहीं रहता; इसलिए वह मोहान्धकार निराश्रय होकर अवश्यमेव क्षय को प्राप्त होता है।

जब भेद की ओर मुग्ध रहा था, तब अभेद चैतन्यस्वभाव का आश्रय न होने से चैतन्यप्रकाश प्रगट नहीं था और अज्ञान-आश्रय से मोहोन्धकार बना हुआ था। अब अभेद चैतन्य के आश्रय में पर्याय ढ़ल गयी है और सम्यग्ज्ञान का प्रकाश प्रगट हो गया है, तब फिर मोह किसके आश्रय से रहेगा? मोह का आश्रय तो अज्ञान था, जिसका नाश हो चुका है और स्वभाव के आश्रय से मोह रह नहीं सकता; इसलिए वह अवश्य क्षय को प्राप्त हो जाता है। **जब पर्याय का लक्ष्य पर में था, तब उस पर्याय में भेद था और उस भेद का मोह को आश्रय था, किन्तु जब वह पर्याय निज लक्ष्य की ओर गयी,** तब वह अभिन्न हो गयी और अभेद होने पर, मोह

को कोई आश्रय न रहा; इसलिए वह निराश्रित मोह अवश्य क्षय को प्राप्त होता है।

श्रद्धारूपी सामायिक और प्रतिक्रमण :—

यहाँ सम्यग्दर्शन को प्रगट करने का उपाय बताया जा रहा है। सम्यग्दर्शन के होने पर ऐसी प्रतीति होती है कि पुण्य और पाप दोनों पर-लक्ष्य से-भेद के आश्रय से हैं, अभेद के आश्रय से पुण्य-पाप नहीं हैं; इसलिए पुण्य-पाप मेरा स्वरूप नहीं हैं, दोंनो विकार हैं—यह जानकर, पुण्य और पाप - दोनों में समभाव हो जाता है, यही श्रद्धारूपी सामायिक है। पुण्य अच्छा है और पाप बुरा है, यह मानकर जो पुण्य को आदरणीय मानता है, उसके भाव में पुण्य-पाप के बीच विषमभाव है, उसके सच्ची श्रद्धारूपी सामायिक नहीं है।

सच्ची श्रद्धा के होने पर मिथ्यात्वभाव से हट जाना ही सर्व प्रथम प्रतिक्रमण है। सबसे बड़ा दोष मिथ्यात्व है और सबसे पहले उस महादोष से ही प्रतिक्रमण होता है। मिथ्यात्व से प्रतिक्रमण किये बिना किसी जीव के यथार्थ प्रतिक्रमण आदि कुछ नहीं होता।

सम्यग्दर्शन और व्रत- महाव्रत :—

जब तक अरहन्त के द्रव्य, गुण, पर्याय का लक्ष्य था, तब तक भेद था; जब द्रव्य, गुण, पर्याय के भेद को छोड़कर अभेद स्वभाव की ओर झुका और वहाँ एकाग्रता की, तब स्वभाव को अन्यथा माननेरूप मोह नहीं रहता और इसलिए मोह निराश्रय होकर नष्ट हो जाता है और इस प्रकार अरहन्त को जाननेवाले जीव के सम्यग्दर्शन हो जाता है। वस्तु का स्वरूप जैसा हो, वैसा माने तो वस्तु-स्वरूप

और मान्यता-दोनों के एक होने पर सम्यक् श्रद्धा और सम्यग्ज्ञान होता है। वस्तु का सच्चा स्वरूप क्या है? यह जानने के लिये अरहन्त को जानने की आवश्यकता है, क्योंकि अरहन्त भगवान द्रव्य, गुण, पर्यायस्वरूप से सम्पूर्ण शुद्ध हैं। जैसे अरहन्त हैं, वैसा ही जब तक यह आत्मा न हो, तब तक उसकी पर्याय में दोष है — अशुद्धता है।

अरहन्त जैसी अवस्था तब होती है, जब पहले अरहन्त के स्वरूप से अपने आत्मा का शुद्धस्वरूप निश्चित करे। उस शुद्धस्वरूप में एकाग्रता करके, भेद को तोड़कर, अभेदस्वरूप का आश्रय करके पराश्रयबुद्धि का नाश होता है, मोह दूर होता है और क्षायिकसम्यक्त्व प्रगट होता है। क्षायिकसम्यक्त्व के प्रगट होने पर आंशिक अरहन्त जैसी दशा प्रगट होती है और अरहन्त होने के लिये प्रारम्भिक उपाय सम्यग्दर्शन ही है। अभेदस्वभाव की प्रतीति के द्वारा सम्यग्दर्शन होने के बाद, जैसे-जैसे उस स्वभाव में एकाग्रता बढ़ती जाती है, वैसे-वैसे राग दूर हो जाता है और ज्यों-ज्यों राग कम होता जाता है, त्यों-त्यों व्रत-महाव्रतादि का पालन होता रहता है, किन्तु अभेदस्वभाव की प्रतीति के बिना कभी भी व्रत या महाव्रतादि नहीं होते। अपने आत्मा का आश्रय लिए बिना, आत्मा के आश्रय से प्रगट होनेवाली निर्मलदशा (श्रावकदशा, मुनिदशा आदि) नहीं हो सकती और निर्मलदशा के प्रगट हुए बिना धर्म का एक भी अङ्ग प्रगट नहीं हो सकता। अरहन्त की पहिचान होने पर, अपनी पहिचान हो जाती है और अपनी पहिचान होने पर, मोह का क्षय हो जाता है। तात्पर्य यह है कि अरहन्त की सच्ची पहिचान, मोहक्षय का उपाय है।

www.vitragvani.com

स्वभाव की निःशङ्कता :—

अब आचार्यदेव अपनी निःशङ्कता की साक्षीपूर्वक कहते हैं कि — 'यदि ऐसा है तो मैंने मोह की सेना को जीतने का उपाय कर लिया है।' यहाँ मात्र अरहन्त को जानने की बात नहीं है, किन्तु अपने स्वभाव को एकमेक करके यह ज्ञान करने की बात है कि मेरा स्वरूप अरहन्त के समान ही है।

यदि अपने स्वभाव की निःशङ्कता प्राप्त न हो तो अरहन्त के स्वरूप का यथार्थ निर्णय नहीं होता। आचार्यदेव अपने स्वभाव की निःशङ्कता से कहते हैं कि भले ही इस काल में क्षायिकसम्यक्त्व और साक्षात् भगवान अरहन्त का योग नहीं है, तथापि मैंने मोह की सेना को जीतने का उपाय प्राप्त कर लिया। 'पञ्चम काल में मोह का सर्वथा क्षय नहीं हो सकता'— ऐसी बात आचार्यदेव ने नहीं की, किन्तु मैंने तो मोहक्षय का उपाय प्राप्त कर लिया है — ऐसा कहा है। भविष्य में मोहक्षय का उपाय प्रगट होगा —ऐसा नहीं, किन्तु अब ही—वर्तमान में ही मोहक्षय का उपाय मैंने प्राप्त कर लिया है।

अहो! सम्पूर्ण स्वरूपी आत्मा का साक्षात् अनुभव है तो फिर क्या नहीं है! आत्मा का स्वभाव ही मोह का नाशक है और मुझे आत्मस्वभाव की प्राप्ति हो चुकी है; इसलिए मेरे मोह का क्षय होने में कोई शङ्का नहीं है। आत्मा में सबकुछ है, उसी के बल से दर्शनमोह और चारित्रमोह का सर्वथा क्षय करके, केवलज्ञान प्रगट करके, साक्षात् अरहन्तदशा प्रगट करूँगा। जब तक ऐसी सम्पूर्ण स्वभाव की निःशङ्कता का बल प्राप्त नहीं होता, तब तक मोह दूर नहीं होता।

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

सच्ची दया और हिंसा :—

मोह का नाश करने के लिए न तो परजीवों की दया-पालन करने को कहा है और न पूजा, भक्ति करने का ही आदेश दिया है, किन्तु यह कहा है कि अरहन्त का और अपने आत्मा का निर्णय करना ही मोहक्षय का उपाय है। पहले आत्मा की प्रतीति न होने से अपनी अनन्त हिंसा करता था और अब यथार्थ प्रतीति करने से अपनी सच्ची दया प्रगट हो गयी है और सब हिंसा का महापाप दूर हो गया है।

उपसंहार

पुरुषार्थ की प्रतीति :—

पहले हार के दृष्टान्त से द्रव्य-गुण-पर्याय का स्वरूप बताया है। जैसे हार में मोती एक के बाद दूसरा क्रमशः होता है; उसी प्रकार द्रव्य में एक के बाद दूसरी पर्याय होती है। जहाँ सर्वज्ञ का निर्णय किया तो वहाँ त्रिकाल की क्रमबद्धपर्याय का निर्णय हो जाता है। केवलज्ञानगम्य त्रिकाल अवस्था में एक के बाद दूसरी अवस्थायें होती ही रहती हैं। वास्तव में तो मेरे स्वभाव में जो क्रमबद्ध अवस्था है, उसी को केवलज्ञानी ने जाना है। (इस अभिप्राय के बल का झुकाव स्वभाव की ओर है), ऐसा जिसने निर्णय किया है, उसी ने अपने स्वभाव की प्रतीति की है। जिसे स्वभाव की प्रतीति होती है, उसे अपनी पर्याय की शङ्का नहीं होती, क्योंकि वह जानता है कि अवस्था तो मेरे स्वभाव में से क्रमबद्ध आती है, कोई परद्रव्य मेरी अवस्था को बिगाड़ने में समर्थ नहीं है। ज्ञानी को ऐसी शङ्का कदापि नहीं होती कि 'बहुत से कर्मों का तीव्र उदय आया तो मैं गिर जाऊँगा।' जहाँ पीछे गिरने की शङ्का है, वहाँ

स्वभाव की प्रतीति नहीं है और जहाँ स्वभाव की प्रतीति है, वहाँ पीछे गिरने की शङ्का नहीं होती। जिसने अरहन्त जैसे ही अपने स्वभाव का विश्वास करके क्रमबद्धपर्याय और केवलज्ञान को स्वभाव में अन्तर्गत किया है, उसे क्रमबद्धपर्याय में केवलज्ञान होता है। जो दशा अरहन्त भगवान के प्रगट हुई है, वैसी ही दशा मेरे स्वभाव में है। अरहन्त के जो दशा प्रगट हुई है, वह उनके अपने स्वभाव में से ही प्रगट हुई है। मेरा स्वभाव भी अरहन्त जैसा है; उसी में से मेरी शुद्धदशा प्रगट होगी। जिसे अपनी अरहन्तदशा की ऐसी प्रतीति नहीं होती, उसे अपने सम्पूर्ण द्रव्य की ही प्रतीति नहीं होती। यदि द्रव्य की प्रतीति हो तो द्रव्य की क्रमबद्धदशा विकसित होकर जो अरहन्तदशा प्रगट होती है, उसकी प्रतीति होती है।

मेरे द्रव्य में से अरहन्तदशा आनेवाली है, उसमें पर कोई विघ्न नहीं है। कर्म का तीव्र उदय आकर मेरे द्रव्य की शुद्धदशा को रोकने के लिये समर्थ नहीं है, क्योंकि मेरे स्वभाव में कर्म की नास्ति ही है। जिसे ऐसी शङ्का है कि 'आगे जाकर यदि तीव्र कर्म का उदय आया तो गिर जाऊँगा', उसने अरहन्त को स्वीकार नहीं किया है। अरहन्त अपने पुरुषार्थ के बल से कर्म का क्षय करके पूर्णदशा को प्राप्त हुए हैं; उसी प्रकार मैं भी अपने पुरुषार्थ के बल से ही कर्म का क्षय करके पूर्णदशा को प्राप्त होऊँगा, बीच में कोई विघ्न नहीं है।

'जो अरहन्त की प्रतीति करता है, वह अवश्य अरहन्त होता है।'

(गाथा 80 की टीका समाप्त)

भेद-विज्ञानी का उल्लास

जो चैतन्य का लक्षण नहीं है — ऐसी समस्त बन्धभाव की वृत्तियाँ मुझसे भिन्न हैं; इस प्रकार बन्धभाव से भिन्न स्वभाव का निर्णय करने पर, चैतन्य को उस बन्धभाव की वृत्तियों का आधार नहीं रहता, अकेले आत्मा का ही आधार रहता है। ऐसे स्वाश्रयपने की स्वीकृति में चैतन्य का अनन्त वीर्य आया है।

अपनी प्रज्ञाशक्ति के द्वारा जिसने बन्धरहित स्वभाव का निर्णय किया, उसे स्वभाव की रुचि, उत्साह और प्रमोद आता है कि अहो! यह चैतन्यस्वभाव स्वयं भवरहित है, मैंने उसका आश्रय किया, इससे अब मेरे भव का अन्त निकट आ गया है और मुक्तिदशा की नौबत बज रही है। अपने निर्णय से जो चैतन्यस्वभाव में निःशङ्कता करे, उसे चैतन्य प्रदेशों में उल्लास होता है और अल्प काल में मुक्तदशा होती है।

(—श्री समयसार-मोक्ष अधिकार के व्याख्यान में से)

सम्यक्त्व की दुर्लभता

काल अनादि है, जीव भी अनादि है और भव-समुद्र भी अनादि है; परन्तु अनादिकाल से भव-समुद्र में गोते खाते हुए इस जीव ने दो वस्तुयें कभी प्राप्त नहीं कीं —एक तो श्री जिनवर देव और दूसरा सम्यक्त्व। —*परमात्म -प्रकाश*

अरे भव्य! तू तत्त्व की कौतूहली होकर आत्मा का अनुभव कर

अयि कथमपि मृत्वा तत्वकौतूहली सन्,
अनुभव भवमूर्तेः पार्श्ववर्ती मुहूर्त्तम्।
पृथगथ विलसन्तं स्वं समालोक्य येन,
त्वजसि झगिति मूर्त्या साकमेकत्वमोहम्॥

(—श्री समयसार कलश-23)

श्री आचार्यदेव कोमल सम्बोधन से कहते हैं कि हे भाई! तू किसी भी प्रकार महाकष्ट से अथवा मरकर भी तत्त्व का कौतूहली होकर, इन शरीरादि मूर्त द्रव्यों का एक मुहूर्त (दो घड़ी) पड़ौसी होकर आत्मा का अनुभव कर, कि जिससे अपने आत्मा को विलासरूप सर्व परद्रव्यों से पृथक् देखकर इन शरीरादि मूर्तिक पुद्गलद्रव्यों के साथ एकत्व के मोह को तू तुरन्त ही छोड़ देगा।

मिथ्यादृष्टि के मिथ्यात्व का नाश कैसे हो? तथा अनादि कालीन विपरीतमान्यता और पाप कैसे दूर हों? उसका उपाय बतलाते हैं। आचार्यदेव तीव्र सम्बोधन करके नहीं कहते हैं, किन्तु कोमल सम्बोधन करके कहते हैं कि हे भाई! यह क्या तुझे शोभा देता है? कोमल सम्बोधन करके जागृत करते हैं कि तू किसी भी प्रकार महाकष्ट से अथवा मरकर भी-मरण जितने कष्ट आयें तो भी, वह सब सहन करके, तत्त्व का कौतूहली हो।

जिस प्रकार कुऐं में कुश (डुबकी) मारकर ताग लाते हैं; उसी

प्रकार ज्ञान से भरे हुए चैतन्य कुएँ में पुरुषार्थरूपी गहरा कुश मारकर ताग लाओ। विस्मयता लाओ, दुनियाँ की दरकार छोड़। दुनिया एकबार तुझे पागल कहेगी, भूत भी कहेगी। दुनिया की अनेक प्रकार की प्रतिकूलता आये; तथापि उसे सहन करके, उसकी उपेक्षा करके, चैतन्य भगवान जैसा है, उसे देखने का एक बार कौतूहल तो कर! यदि दुनिया की अनुकूलता या प्रतिकूलता में रुकेगा तो अपने चैतन्य भगवान को तू नहीं देख सकेगा; इसलिए दुनिया का लक्ष्य छोड़कर, और उससे पृथक होकर एकबार महान कष्ट से भी तत्त्व का कौतूहली हो। जिस प्रकार सूत और नेतर का मेल नहीं बैठता; उसी प्रकार जिसे आत्मा की पहिचान करनी हो, उसका और जगत का मेल नहीं बैठता। सम्यक्दृष्टिरूप सूत और मिथ्यादृष्टिरूप नेतर का मेल नहीं खाता।

आचार्यदेव कहते हैं कि बन्धु! तू चौरासी के कुएँ में पड़ा है, उसमें से पार होने के लिए चाहे जितने परीषह या उपसर्ग-मरण जितने कष्ट आयें, तथापि उनकी दरकार छोड़कर पुण्य-पापरूप विकारभावों का दो घड़ी पड़ौसी हो तो तुझे चैतन्य दल पृथक् मालूम होगा। 'शरीरादि तथा शुभाशुभभाव यह सब मुझसे भिन्न हैं और मैं इनसे पृथक हूँ, पड़ौसी हूँ — इस प्रकार एक बार पड़ौसी होकर आत्मा का अनुभव कर।' सच्ची समझ करके निकटस्थ पदार्थों से मैं पृथक्, ज्ञाता-दृष्टा हूँ। शरीर, वाणी, मन, वे सब बाह्य नाटक हैं, उन्हें नाटकस्वरूप से देख! तू उनका साक्षी है। स्वाभाविक अन्तरज्योति से ज्ञानभूमिका की सत्ता में यह सब जो ज्ञात होता है, वह मैं नहीं हूँ परन्तु उसका ज्ञाता जितना हूँ — ऐसा उसे जान तो सही! और उसे जानकर उसमें लीन तो हो! आत्मा में श्रद्धा,

ज्ञान और लीनता प्रगट होते हैं, उनका आश्चर्य लाकर एकबार पड़ौसी हो।

जैसे — मुसलमान और वणिक का घर पास-पास हो तो वणिक उसका पड़ौसी होकर रहता है परन्तु वह मुसलमान के घर को अपना नहीं मानता; उसी प्रकार, हे भव्य! तू भी चैतन्यस्वभाव में स्थिर होकर परपदार्थों का दो घड़ी पड़ौसी हो, पर से भिन्न आत्मा का अनुभव कर। शरीर, मन, वाणी की क्रिया तथा पुण्य-पाप के परिणाम, वे सब पर हैं। विपरीत पुरुषार्थ द्वारा पर का स्वामित्व माना है, विकारी भावों की ओर तेरा बाह्य का लक्ष्य है, वह सब छोड़कर, स्वभाव में श्रद्धा, ज्ञान और लीनता करके, एक अन्तमुर्हूत अर्थात् दो घड़ी पृथक् होकर, चैतन्यमूर्ति आत्मा को पृथक् देख! चैतन्य की विलासरूप मौज को किञ्चित् पृथक् होकर देख! उस मौज को अन्तर में देखने से शरीरादि के मोह को तू तुरन्त ही छोड़ सकेगा। 'झगिति' अर्थात् तुरन्त छोड़ सकेगा। यह बात सरल है, क्योंकि तेरे स्वभाव की है। केवलज्ञान लक्ष्मी को स्वरूपसत्ता भूमि में स्थित होकर देख! तो पर के साथ मोह को तुरन्त छोड़ सकेगा।

तीन काल, तीन लोक की प्रतिकूलता के समूह एक साथ आकर सम्मुख खड़े रहें, तथापि मात्र ज्ञातारूप से रहकर, वह सब सहन करने की शक्ति आत्मा के ज्ञायकस्वभाव की एक समय की पर्याय में विद्यमान है। जिसने शरीरादि से भिन्नरूप आत्मा को जाना है, उसे इन परीषहों के समूह किञ्चित्मात्र असर नहीं कर सकते, अर्थात् चैतन्य अपने व्यापार से किञ्चित्मात्र नहीं डिगता।

www.vitragvani.com

जिस प्रकार किसी जीवित राजकुमार को — जिसका शरीर अति कोमल हो-जमेशदपुर-टाटानगर को अग्नि की भट्ठी में झौंक दिया जाये तो उसे जो दुःख होगा, उससे अनन्तगुना दुःख पहले नरक में है और पहले की अपेक्षा दूसरे, तीसरे आदि सात नरकों में एक-एक से अनन्तगुना दुःख है —ऐसे अनन्त दुःखों की प्रतिकूलता की वेदना में पड़े हुए, घोर पाप करके वहाँ गए हुए, तीव्र वेदना के गंज में पड़े होने पर भी किसी समय कोई जीव ऐसा विचार कर सकते हैं कि अरे रे! ऐसी वेदना! ऐसी पीड़ा! ऐसे विचार को बदलकर स्वसन्मुख वेग होने पर सम्यग्दर्शन हो जाता है। वहाँ सत्समागम नहीं है, परन्तु पूर्व में एक बार सत्समागम किया था, सत् का श्रवण किया था और वर्तमान सम्यक् विचार के बल से, सातवें नरक की महा तीव्र पीड़ा में पड़ा होने पर भी, पीड़ा का लक्ष्य चूककर सम्यग्दर्शन होता है, आत्मा का सच्चा वेदन होता है। सातवें नरक में पड़े हुए सम्यग्दर्शन प्राप्त जीव को वह नरक की पीड़ा असर नहीं कर सकती, क्योंकि उसे भान है कि मेरे ज्ञानस्वरूप चैतन्य को कोई परपदार्थ असर नहीं कर सकता। ऐसी अनन्ती वेदना में पड़े हुए भी आत्मानुभव को प्राप्त हुए हैं, तब फिर सातवें नरक जितना कष्ट तो यहाँ नहीं है न ? मनुष्यपना पाकर रोना क्या रोता रहता है ? अब सत्समागम से आत्मा की पहिचान करके आत्मानुभव कर! आत्मानुभव का ऐसा माहात्म्य है कि परीषह आने पर भी न डिगे और दो घड़ी स्वरूप में लीन हो तो पूर्ण केवलज्ञान प्रगट करे! जीवन्मुक्तदशा हो - मोक्षदशा हो। तब फिर मिथ्यात्व का नाश करके सम्यग्दर्शन प्रगट करना तो सुगम है।

(—समयसार प्रवचन भाग-3)

सबमें बड़े में बड़ा पाप, सबसें बड़े में बड़ा पुण्य और सबमें पहले में पहला धर्म

प्रश्न — जगत् में सबसे बड़ा पाप कौन-सा है?

उत्तर — मिथ्यात्व ही सबसे बड़ा पाप है।

प्रश्न — सबसे बड़ा पुण्य कौन-सा है?

उत्तर — तीर्थङ्कर नामकर्म सबसे बड़ा पुण्य है। यह पुण्य सम्यग्दर्शन के बाद की भूमिका में शुभराग के द्वारा बँधता है। मिथ्यादृष्टि को यह पुण्यलाभ नहीं होता।

प्रश्न — सर्व प्रथम धर्म कौन-सा है?

उत्तर — सम्यग्दर्शन ही सर्व प्रथम धर्म है। सम्यग्दर्शन के बिना ज्ञान, चारित्र, तप इत्यादि कोई भी धर्म सच्चा नहीं होता। ये सब धर्म, सम्यग्दर्शन होने के बाद ही होते हैं; इसलिए सम्यग्दर्शन ही सर्व धर्म का मूल है।

प्रश्न — मिथ्यात्व को सबसे बड़ा पाप क्यों कहा है?

उत्तर — मिथ्यात्व का अर्थ है —विपरीतमान्यता, अयथार्थ समझ। जो यह मानता है कि जीव, पर का कुछ कर सकता है और पुण्य से धर्म होता है, उसकी उस विपरीतमान्यता में प्रतिक्षण अनन्त पाप आते हैं। वह कैसे? सो कहते हैं —

जो यह मानता है कि 'पुण्य से धर्म होता है और जीव दूसरे का कुछ कर सकता है', (ऐसी मान्यतावाला जीव) यह मानता है कि

'पुण्य से धर्म नहीं होता और, जीव पर कुछ नहीं कर सकता— ऐसे कहनेवाले झूठे हैं' और इसलिए 'पुण्य से धर्म नहीं होता और जीव, पर कुछ नहीं कर सकता,' ऐसा कहनेवाले त्रिकाल के अनन्त तीर्थङ्कर केवली भगवान, सन्त-मुनि और सम्यग्ज्ञानी जीवों को —इन सबको उसने एक क्षणभर में झूठा माना है; इस प्रकार मिथ्यात्व के एक समय के विपरीत वीर्य में अनन्त सत् के निषेध का महापाप है।

और फिर मिथ्यादृष्टि जीव के अभिप्राय में यह भी होता है कि जैसे मैं (जीव) पर, कर्ता हूँ और पुण्य-पाप का कर्ता हूँ, उसी प्रकार जगत के सभी जीव सदाकाल परवस्तु के और पुण्य-पापरूप विकार के कर्ता हैं। इस प्रकार **विपरीत मान्यता से उसने जगत् के सभी जीवों को पर का कर्ता और विकार का स्वामी बना डाला, अर्थात् उसने अपनी विपरीत मान्यता के द्वारा सभी जीवों के शुद्ध अविकार स्वरूप की हत्या कर डाली। यह महा विपरीत दृष्टि का सबसे बड़ा पाप है। त्रैकालिक सत् का एक क्षणभर के लिए भी अनादर होना, वही बहुत बड़ा पाप है।**

मिथ्यात्वी जीव मानता है कि एक जीव दूसरे जीव का कुछ कर सकता है, अर्थात् दूसरे जीव मेरा कार्य कर सकते हैं और मैं दूसरे जीवों का कार्य कर सकता हूँ, इस मान्यता का अर्थ यह हुआ कि जगत् के सभी जीव परमुखापेक्षी हैं और पराधीन हैं। इस प्रकार उसने अपनी विपरीतमान्यता से जगत् के सभी जीवों के स्वाधीन स्वभाव की हिंसा की है; इसलिए मिथ्यामान्यता ही महान् हिंसकभाव है और यही सबसे बड़ा पाप है।

श्री परमात्म प्रकाश में कहा है कि सम्यक्त्वसहित नरकवास भी अच्छा और मिथ्यात्वसहित स्वर्गवास भी बुरा है। इससे निश्चय हुआ है कि जिस भाव से नरक मिलता है, उस अशुभभाव से भी मिथ्यात्व का पाप बहुत बड़ा है, यह समझकर जीवों को सर्व प्रथम यथार्थ समझ के द्वारा मिथ्यात्व के महापाप को दूर करने का उपाय करना चाहिए। इस जगत में जीव को मिथ्यात्व के समान अहितकर्ता दूसरा कोई नहीं है और सम्यक्त्व समान उपकार करनेवाला दूसरा कोई नहीं है

मनुष्यभव हारकर चला जाता है

विषयों के लिए पागल होकर जिन्दगी गँवा दी और फिर मरण के समय तीव्र आर्तध्यान करता है, परन्तु उससे क्या प्राप्त हो सकता है? अरे रे! मरण के समय कदाचित् 'भगवान.... भगवान...' करे, पञ्च परमेष्ठी का स्मरण करे, परन्तु अन्तरङ्ग में सदा शरणभूत निज ज्ञायक भगवान को गुरुगम से पहचाना न हो, उसकी रुचि -प्रतीति-श्रद्धा नहीं की हो तो प्रभु-स्मरण का शुभराग भी कहाँ शरण दे सकता है?

भले ही करोड़ों रुपये इकट्ठे हुए हों, पचास-पचास लाख (आज के हिसाब से पाँच-दश करोड़) के राजमहल जैसे बँगले बनाये हों, पाँच-पाँच लाख (आज के हिसाब से पचास -पचास लाख) की कीमती मोटर गाड़ियाँ हों, नौकर-चाकर इत्यादि सब राजसी ठाट-बाट हों, परन्तु उससे क्या? यह सब वैभव छोड़कर मरण की पीड़ा से पीड़ित होकर यह अज्ञानी जीव, मनुष्यभव हारकर चला जाता है; पशु और नरकगति में परिभ्रमण करता है।

प्रभु, तेरी प्रभुता!

हे जीव ! तू कौन है ? इसका कभी विचार किया है ? तेरा स्थान कौन-सा है और तेरा कार्य क्या है, इसकी भी खबर है ? प्रभु, विचार तो कर, तू कहाँ है और यह सब क्या है, तुझे शान्ति क्यों नहीं है ?

प्रभु ! तू सिद्ध है, स्वतन्त्र है, परिपूर्ण है, वीतराग है, किन्तु तुझे अपने स्वरूप की खबर नहीं है; इसीलिए तुझे शान्ति नहीं है। भाई ! वस्तव में तू घर भूला है, मार्ग भूल गया है। दूसरे के घर को तू अपना निवास मान बैठा है, किन्तु ऐसे अशान्ति का अन्त नहीं होगा।

भगवान ! शान्ति तो तेरे अपने घर में ही भरी हुई है। भाई ! एकबार सब ओर से अपना लक्ष्य हटाकर निज घर में तो देख ! तू प्रभु है, तू सिद्ध है। प्रभु, तू अपने निज घर में देख, मत में मत देख। पर में लक्ष्य कर-करके तो तू अनादि काल से भ्रमण कर रहा है। अब तू अपने अन्तर-स्वरूप की ओर तो दृष्टि डाल। एक बार तो भीतर देख। भीतर परम आनन्द का अनन्त भण्डार भरा हुआ है, उसे तनिक सम्हाल कर तो देख। एकबार भीतर तो झाँक, तुझे अपने स्वभाव का कोई अपूर्व, परम, सहज, सुख अनुभव होगा। अनन्त ज्ञानियों ने कहा है कि तू प्रभु है, प्रभु ! तू अपने प्रभुत्व की एकबार हाँ तो कह। (—श्री कानजीस्वामी)

परम सत्य का हकार और उसका फल

परम सत्य सुनने पर भी समझमें क्यों नहीं आता? 'मैं ज्ञायक नहीं हूँ, मैं इसे नहीं समझ सकता' —ऐसी दृष्टि ही उसे समझने में अयोग्य रखती है। **सत् के एक शब्द का भी यदि अन्तर से सर्व प्रथम 'हकार' आया तो वह भविष्य में मुक्ति का कारण हो जाता है।** एक को सुनते ही भीतर से बड़े ही वेग के साथ हकार आता है; और 'मैं लायक नहीं हूँ— यह मेरे लिए नहीं है' इस प्रकार की मान्यता का व्यवधान करके सुनता है, वही व्यवधान उसे समझने नहीं देता। दुनियाँ विपरीत बातें तो अनादि काल से कर ही रही है, आज इसमें नवीनता नहीं है। अन्तर्वस्तु के भान के बिना बाहर से त्यागी होकर अनन्त बार स्वर्ग गया, किन्तु अन्तर से सत् का हकार न होने से धर्म को नहीं समझ पाया।

जब ज्ञानी कहते हैं कि 'सभी जीव सिद्ध समान हैं और तू भी सिद्धसमान है; भूल वर्तमान एक समयमात्र की है, इसे तू समझ सकेगा', इसलिए कहते हैं। तब यह जीव 'मैं इस लायक नहीं हूँ, मैं इसे नहीं समझ सकूँगा'; इस प्रकार ज्ञानियों के द्वारा कहे गए, सत् का इन्कार करके सुनता है; इसलिए उनकी समझमें नहीं आता।

भूल, स्वभाव में नहीं है; केवल एक समयमात्र के लिए पर्याय में है, वह भूल–दूसरे समय में नही रहती। हाँ! यदि वह स्वयं दूसरे समय में नयी भूल करे तो बात दूसरी है (पहले समय की भूल

दूसरे समय में नष्ट हो जाती है) शरीर अनन्त परमाणुओं का समूह है और आत्मा चैतन्यमूर्ति है। भला, इसे शरीर के साथ क्या लेना-देना? जैनधर्म का यह त्रिकाल अबाधित कथन है कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य की पर्याय को उत्पन्न नहीं कर सकता। इसे न मानकर, मेरे से पर की अवस्था हुई अथवा हो सकती है, यों मानता है, यही अज्ञान है। जहाँ जिनेन्द्र की कथनी को भी नहीं मानता, वहाँ जैनधर्म को कहाँ से समझेगा? यह आत्मा यदि पर का कुछ कर सकता होता, तभी तो पर का कुछ करने का अथवा पर के त्याग करने का प्रश्न आता!

विकार पर में नहीं, किन्तु अपनी एक समय की पर्याय में है। यदि दूसरे समय में नया विकार करे तो वह होता है। 'राग का त्याग करूँ' —ऐसी मान्यता भी नास्ति से है; अस्तिस्वरूप शुद्धात्मा के भान के बिना राग की नास्ति कौन करेगा? आत्मा में कोई पर का प्रवेश है ही नहीं, तो फिर त्याग किसका? परवस्तु के त्याग का कर्तृत्व व्यर्थ ही विपरीत मान रखा है, उसी मान्यता का त्याग करना है।

प्रश्न — यदि सत्य समझ में आ जाए तो बाह्य वर्तन में कोई फर्क न दिखायी दे अथवा लोगों के ऊपर उसके ज्ञान की छाप न पड़े?

उत्तर — एक द्रव्य की छाप दूसरे द्रव्य पर कभी तीन लोक और तीन काल में पड़ती ही नहीं है। प्रत्येक द्रव्य स्वतन्त्र है। यदि एक की छाप दूसरे पर पड़ती होती तो त्रिलोकीनाथ तीर्थङ्कर भगवान की छाप अभव्य जीव पर क्यों नहीं पड़ती? जब जीव स्वयं अपने द्वारा ज्ञान करके

www.vitragvani.com

अपनी पहिचान की छाप अपने ऊपर डालता है, तब निमित्त में मात्र आरोप किया जाता है। बाहर से ज्ञानी पहिचाना नहीं जा सकता क्योंकि यह हो सकता है कि ज्ञानी होने पर भी बाह्य में हजारों स्त्रियाँ हों और अज्ञानी के बाह्य में कुछ न हो। ज्ञानी को पहिचानने के लिए यदि तत्त्वदृष्टि हो तो ही वह पहिचाना जा सकता है। ज्ञान के उत्पन्न हो जाने पर बाह्य में कोई फर्क दिखायी दे या न दे, किन्तु अन्तर्दृष्टि में फर्क पड़ ही जाता है। सत् के सुनते ही एक कहता है कि अभी ही सत् बताइये —ऐसा कहनेवाला सत् का हकार करके सुनता है, वह समझने के योग्य है और दूसरा कहता है कि 'अभी यह नहीं, अभी यह मेरी समझ में नहीं आ सकता' —ऐसा कहनेवाला सत् के नकार से सुनता है; इसलिए वह समझ नहीं सकता। श्री समयसारजी की पहली गाथा में यह स्थापित किया गया है कि मैं और तू दोनों सिद्ध हैं, इसके सुनते ही सबसे पहली आवाज में यदि हाँ आ गयी तो वह योग्य है — उसकी अल्प काल में मुक्ति हो जाएगी और यदि बीच में कोई नकार आ गया तो वह समझने में अर्गला (अवरोधक) समान है।

प्रश्न — यदि अच्छा सत्समागम हो तो उसका असर होता है या नहीं?

उत्तर — बिल्कुल नहीं, किसी का असर किसी के ऊपर हो ही नहीं सकता। सत्समागम भी पर है। पर की छाप तीन काल और तीन लोक में अपने ऊपर नहीं पड़ सकती।

अहो! यह परम सत्य दुर्लभ है। सच्ची समझ के लिए सर्व प्रथम सत् का हकार आना चाहिए।

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com

मुख्य गति दो हैं — एक निगोद और दूसरी सिद्ध। यदि सत् का इन्कार कर दिया गया तो कदाचित् एकाध अन्य भव लेकर भी बाद में निगोद में ही जाता है। सत् के विरोध का फल निगोद ही है और यदि एकबार भी अन्तर से सत् का हकार आ गया तो उसकी मुक्ति निश्चित है। **हकार का फल सिद्ध और नकार का फल निगोद है**। यह जो कहा गया है, त्रिकाल परम सत्य है। तीन काल और तीन लोक में यदि सत् चाहिए हो तो जगत को यह मानना ही पड़ेगा। सत् में परिवर्तन नहीं होता; सत् को समझने के लिए तुझे ही बदलना होगा। सिद्ध होने के लिए सिद्धस्वरूप का हकार होना चाहिए।

भवपार होने का उपाय

शेष अचेतन सर्व छे, जीव सचेतन सार।
जाणी जेने मुनिवरो, शीघ्र लहे भवपार ॥26॥
जो शुद्धातम अनुभवो, तजी सकल व्यवहार।
जिनप्रभु अेमज भणे, शीघ्र थशो भवपार ॥37॥

भावार्थ :—जीव के अतिरिक्त जितने पदार्थ हैं, वे सब अचेतन हैं; चेतना तो मात्र जीव ही है और वही सारभूत है; उसे जानकर परम मुनिवर शीघ्र ही भवपार को प्राप्त होते हैं।

श्री जिनेन्द्रदेव कहते हैं कि हे जीव! सर्व व्यवहार को छोड़कर यदि तू निर्मल आत्मा को जानेगा तो शीघ्र ही भवपार हो जाएगा।

—योगसार

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

निःशङ्कता

जिसका वीर्य भव के अन्त की निःसन्देह श्रद्धा में प्रवर्तित नहीं होता और अभी भी भव की शङ्का में प्रवर्तमान है, उसके वीर्य में अनन्तों भव करने की सामर्थ्य मौजूद है।

भगवान ने कहा है कि — 'तेरे स्वभाव में भव नहीं है' यदि तुझे भव की शङ्का हो गयी तो तूने भगवान की वाणी को अथवा अपने भवरहित स्वभाव को माना ही नहीं है। जिसका वीर्य अभी भवरहित स्वभाव की निःसन्देह श्रद्धा में प्रवर्तित नहीं हो सकता, जिसके अभी यह शङ्का मौजूद है कि मैं भव्य हूँ या अभव्य हूँ, उसका वीर्य, वीतराग की वाणी का कैसे निर्णय कर सकेगा और वीतराग की वाणी के निर्णय के बिना उसे अपने स्वभाव की पहचान कैसे होगी? इसलिए पहले भवरहित स्वभाव की निःशङ्कता को लाओ!!! ...

सर्व दुःखों का परम-औषधि

जो प्राणी, कषाय के आताप से तप्त हैं, इन्द्रियविषयरूपी रोग से मूर्च्छित हैं, और इष्टवियोग तथा अनिष्टसंयोग से खेद -खिन्न हैं —उन सबके लिए सम्यक्त्व परम हितकारी औषधि है।

(—सारसमुच्चय- 38)

बिना धर्मात्मा, धर्म नहीं रहता

'न धर्मो धार्मिकैर्विना'

धर्मात्माओं के बिना धर्म नहीं होता। जिसे धर्म-रुचि होती है, उसे धर्मात्मा के प्रति रुचि होती है। जिसे धर्मात्माओं के प्रति रुचि नहीं होती, उसे धर्म-रुचि नहीं होती। जिसे धर्मात्मा के प्रति रुचि और प्रेम नहीं है, उसे धर्म-रुचि और प्रेम नहीं है और जिसे धर्म-रुचि नहीं है, उसे धर्मी (स्वयं के) आत्मा के प्रति ही रुचि नहीं है। धर्मी के प्रति रुचि न हो और धर्म के प्रति रुचि हो, यह हो ही नहीं सकता, क्योंकि धर्म तो स्वभाव है, वह धर्मी के बिना नहीं होता। जिसे धर्म के प्रति रुचि होती है, उसे किसी धर्मात्मा पर अरुचि, अप्रेम या क्रोध नहीं हो सकता। जिसे धर्मात्मा प्यारा नहीं, उसे धर्म भी प्यारा नहीं हो सकता और जिसे धर्म प्यारा नहीं, वह मिथ्यादृष्टि है। जो धर्मात्मा का तिरस्कार करता है, वह धर्म का ही तिरस्कार करता है, क्योंकि धर्म और धर्मी पृथक् नहीं हैं।

स्वामी समन्तभद्राचार्य ने रत्नकरण्डश्रावकाचार के 26वें श्लोक में कहा है कि — **''न धर्मो धार्मिकैर्विना''। इसमें दुतरफा बात कही गयी है, एक तो यह कि - जिसे अपने निर्मल शुद्धस्वरूप की अरुचि है, वह मिथ्यादृष्टि है; और दूसरा यह कि जिसे धर्मस्थानों या धर्मी जीवों के प्रति अरुचि है, वह मिथ्यादृष्टि है।**

यदि इसी बात को दूसरे रूप में विचार करें तो ऐसा कहा जा

सकता है कि जिसे धर्म-रुचि है, उसे आत्मरुचि है और वह अन्यत्र जहाँ-जहाँ दूसरे में धर्म देखता है, वहाँ-वहाँ उसे प्रमोद उत्पन्न होता है। जिसे धर्म-रुचि हो गयी, उसे धर्मस्वभावी आत्मा की और धर्मात्माओं की रुचि होती ही है। जिसे अन्तरङ्ग में धर्मी जीवों के प्रति किञ्चित्मात्र भी अरुचि हुई, उसे धर्म की भी अरुचि होगी ही। उसे आत्म-रुचि नहीं हो सकती।

जिसे आत्मा का धर्म रुच गया, उसे जहाँ-जहाँ वह धर्म देखता है, वहाँ-वहाँ प्रमोद और आदरभाव उत्पन्न हुए बिना नहीं रहता। धर्मस्वरूप का भान होने के बाद भी, वह स्वयं वीतराग नहीं होता; इसलिए स्वयं स्वधर्म की पूर्णता की भावना का विकल्प उठता है और विकल्प, परनिमित्त की अपेक्षा रखता है; इसलिए अपने धर्म की प्रभावना का विकल्प उठने, पर जहाँ-जहाँ धर्मी जीवों को देखता है, वहाँ-वहाँ उसे रुचि, प्रमोद और उत्साह उत्पन्न होता है। वास्तव में तो उसे अपने अन्तरङ्ग धर्म की पूर्णता की रुचि है। धर्मनायक देवाधिदेव तीर्थङ्कर और मुनिधर्मात्मा, सद्गुरु, सत्शास्त्र, सम्यग्दृष्टि एवं सम्यग्ज्ञानी, यह सब धर्मात्मा, धर्म के स्थान हैं। उनके प्रति धर्मात्मा को आदर-प्रमोदभाव उमड़े बिना नहीं रहता। जिसे धर्मात्माओं के प्रति अरुचि है, उसे अपने आत्मा पर क्रोध है।

जिसका उपयोग, धर्मी जीवों को हीन बताकर अपनी बड़ाई लेने के लिए होता है — जो धर्मी का विरोध करके स्वयं बड़ा बनना चाहता है, वह निजात्मा के कल्याण का शत्रु है — मिथ्यादृष्टि है। धर्म अर्थात् स्वभाव; और उसे धारण करनेवाला धर्मी अर्थात् आत्मा! इसलिए जिसे धर्मात्मा के प्रति अरुचि है, उसे धर्म के

www.vitragvani.com

प्रति अरुचि है। जिसे धर्म की अरुचि हुई, उसे आत्मा की अरुचि हुई और आत्मा की अरुचिपूर्वक जो क्रोध, मान, माया, लोभ रहता है, वह अनन्तानुबन्धी क्रोध, अनन्तानुबन्धी मान, अनन्तानुबन्धी माया, और अनन्तानुबन्धी लोभ होता है। इसलिए जो धर्मात्मा का अनादर करता है, वह अनन्तानुबन्धी राग-द्वेषवाला है और उसका फल अनन्त संसार है।

जिसे धर्मरुचि है, उसे परिपूर्ण स्वभाव की रुचि है। उसे अन्य धर्मात्माओं के प्रति उपेक्षा, अनादर या ईर्ष्या नहीं हो सकती। यदि अपने से पहले कोई दूसरा केवलज्ञान प्राप्त करके सिद्ध हो जाये तो उसे खेद नहीं होगा, किन्तु अन्तर से प्रमोद जाग्रत होगा कि अहो! धन्य है, इस धर्मात्मा को! जो मुझे इष्ट है, वह इसने प्रगट किया है। मुझे इसी की रुचि है, आदर है, भाव है, चाह है; इस प्रकार अन्य जीवों की धर्मवृद्धि देखकर, धर्मात्मा अपने धर्म की पूर्णता की भावना भाता है; इसलिए उसे अन्य धर्मात्माओं को देखकर हर्ष होता है, उल्लास होता है और इस प्रकार धर्म के प्रति आदरभाव होने से वह अपने धर्म की वृद्धि करके पूर्ण धर्म प्रगट करके सिद्ध हो जायेगा। *(—दिनांक 12-4-45 का पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी का व्याख्यान)*

सम्यक्त्वी सर्वत्र सुखी

सम्यग्दर्शन सहित जीव का नरकवास भी श्रेष्ठ है, परन्तु सम्यग्दर्शन रहित जीव का स्वर्ग में रहना भी शोभा नहीं देता; क्योंकि आत्मभान बिना स्वर्ग में भी वह दुःखी है। जहाँ आत्मज्ञान है, वहीं सच्चा सुख है। *(—सारसमुच्चय - 39)*

सत् की प्राप्ति के लिए अर्पणता

आत्मा प्रिय हुआ कब कहा जाता है, अर्थात् यह कब कहा जाता है कि आत्मा की कीमत या प्रतिष्ठा हुई ? पहली बात तो यह है कि जो वीतराग-सर्वज्ञ परमात्मा हो गए हैं, ऐसे अरहन्तदेव के प्रति सच्ची प्रीति होनी चाहिए, किन्तु विषय-कषाय या कुदेवादि के प्रति जो तीव्र राग है, उसे दूर करके सच्चे-देव-गुरु के प्रति भक्ति प्रदर्शित करने के लिये भी जो जीव, मन्दराग नहीं कर सकते, वे जीव बिल्कुल रागरहित आत्मस्वरूप की श्रद्धा कहाँ से पा सकेंगे ?

जिसमें परम उपकारी वीतरागी देव-गुरु-धर्म के लिए भी राग कम करने की भावना नहीं है, वह अपने आत्मा के लिए राग का बिल्कुल अभाव कैसे कर सकेगा ? जिसमें दो पाई देने की शक्ति नहीं है, वह दो लाख रुपया कहाँ से दे सकेगा ? उसी प्रकार जिसे देव-गुरु की सच्ची प्रीति नहीं है - व्यवहार में भी अभी जो राग कम नहीं कर सकता, वह निश्चय में यह जैसे और कहाँ से ला सकेगा कि 'राग मेरा स्वरूप नहीं है।' जिसे देव-गुरु की सच्ची श्रद्धा-भक्ति नहीं है, उसे तो निश्चय या व्यवहार में कोई भी सच्चा नहीं है, मात्र अकेले मूढ़भाव की पुष्टि होती है - वह केवल तीव्र कषाय और शुष्कज्ञान को ही पुष्ट करता है।

प्राथमिक दशा में देव-गुरु-धर्म की भक्ति का शुभराग जाग्रत होता है और उसी के आवेश में भक्त सोचता है कि देव-गुरु-धर्म

के लिये तृष्णा कम करके अर्पित हो जाऊँ, उनके लिए अपने शरीर की चमड़ी उतरवाकर यदि जूते बनवा दूँ तो भी उनके उपकार से उऋण नहीं हो सकता। इस तरह की सर्वस्व समर्पण की भावना अपने मन में आये बिना देव-गुरु-धर्म के प्रति सच्ची प्रीति उत्पन्न नहीं होती और देव-गुरु-धर्म की प्रीति के बिना आत्मा की पहिचान नहीं हो सकती। देव-गुरु-शास्त्र की भक्ति और अर्पणता के आये बिना तीन लोक और त्रिकाल में भी आत्मा में प्रामाणिकता उत्पन्न नहीं हो सकती और न आत्मा में निज के लिये ही समर्पण की भावना उत्पन्न हो सकती है।

तू एक बार गुरुचरणों में अर्पित हो जा! पश्चात् गुरु ही तुझे अपने में समा जाने की आज्ञा देंगे। एक बार तू सत् की शरण में झुक जा और यही स्वीकार कर कि उसकी हाँ ही हाँ है और ना ही ना! तुझमें सत् की अर्पणता आने के बाद सन्त कहेंगे कि तू परिपूर्ण है, अब तुझे मेरी आवश्यकता नहीं है; तू स्वयं ही अपनी ओर देख! यही आज्ञा है और यही धर्म है।

एक बार सत्-चरण में समर्पित हो जा। सच्चे-देव-गुरु के प्रति समर्पित हुए बिना आत्मा का उद्धार नहीं हो सकता, किन्तु यदि उन्हीं का आश्रय मानकर बैठ जाए तो भी पराश्रय होने के कारण आत्मा का उद्धार नहीं होगा। इस प्रकार परमार्थस्वरूप मैं तो भगवान आत्मा अकेला ही है, परन्तु वह परमार्थस्वरूप को प्राप्त नहीं कर सकता, तब तक पहले देव-गुरु-शास्त्र को स्वत्वरूप के आँगन में विराजमान करना, यह व्यवहार है। देव-गुरु-शास्त्र की भक्ति-पूजा के बिना केवल निश्चय की मात्र बातें करनेवाला शुष्कज्ञानी है।

देव-गुरु-धर्म को तेरी भक्ति की आवश्यकता नहीं है, किन्तु जिज्ञासु जीवों को साधकदशा में अशुभराग से बचने के लिए सत् के प्रति बहुमान उत्पन्न हुए बिना नहीं रहता। श्रीमद् राजचन्द्र ने कहा है कि —'यद्यपि ज्ञानी भक्ति नहीं चाहते, फिर भी वैसा किए बिना मुमुक्षु जीवों का कल्याण नहीं हो सकता। सन्तों के हृदय में निवास करनेवाला यह गुप्त रहस्य यहाँ खोलकर रख दिया गया है।' सत् के जिज्ञासु को सत् निमित्तरूप सत् पुरुष की भक्ति का उल्लास आये बिना रह नहीं सकता।

पहले तो उल्लास जाग्रत होता है कि अहो! अभी तक तो असङ्ग चैतन्यज्योति आत्मा की बात ही नहीं सुनी और सच्चे-देव -शास्त्र-गुरु की भक्ति से भी अलग रहा। इतना समय बीत गया। इसी प्रकार जिज्ञासु को पहले की भूल का पश्चाताप होता है और वर्तमान में उल्लास जाग्रत होता है; किन्तु यह देव-गुरु-शास्त्र का राग, आत्मस्वभाव को प्रगट नहीं करता। पहले तो राग उत्पन्न होता है और फिर 'यह राग भी मेरा स्वरूप नहीं है; इस प्रकार स्वभावदृष्टि के बल से अपूर्व आत्मभान प्रगट होता है।'

सच पूछा जाए तो देव-गुरु-शास्त्र के प्रति अनादि से सत्य समर्पण ही नहीं हुआ और उनका कहा हुआ सुना तक नहीं। अन्यथा, देव-शास्त्र-गुरु तो यह कहते हैं कि तुझे मेरा आश्रय नहीं है, तू स्वतन्त्र है। यदि देव-शास्त्र-गुरु की सच्ची श्रद्धा की होती तो उसे अपनी स्वतन्त्रता की श्रद्धा अवश्य हो जाती। देव-शास्त्र-गुरु के चरण में तन-मन-धन समर्पण किये बिना, जिसमें सम्पूर्ण आत्मा का समर्पण समाविष्ट है, वह सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र कहाँ से प्रगट होगा?

अहो! जगत को वस्त्र, मकान, धन आदि में बड़प्पन ज्ञात होता है, परन्तु जो जगत का कल्याण कर रहे हैं, ऐसे देव-शास्त्र-गुरु के प्रति भक्ति-समर्पणभाव उत्पन्न नहीं होता। उसके बिना उद्धार की कल्पना भी कैसी?

प्रश्न — आत्मा के स्वरूप में राग नहीं है, फिर भी देव-शास्त्र-गुरु के प्रति शुभराग करने के लिए क्यों कहते हैं?

उत्तर — जैसे, किसी म्लेच्छ को माँस छुड़ाने का उपदेश देने के लिये म्लेच्छभाषा का भी प्रयोग करना पड़ता है, किन्तु उससे ब्राह्मण का ब्राह्मणत्व नष्ट नहीं हो जाता; उसी प्रकार सम्पूर्ण राग छुड़ाने के लिए उसे अशुभराग से हटाकर देव-गुरु-धर्म के प्रति शुभराग करने को कहा जाता है। (वहाँ राग कराने का हेतु नहीं है, किन्तु राग छुड़ाने का हेतु है। जितना राग कम हुआ, उतना ही प्रयोजन है। राग रहे, यह प्रयोजन नहीं है।)

उसके बाद 'देव-शास्त्र-गुरु का शुभराग भी मेरा स्वरूप नहीं है;' इस प्रकार राग का निषेध करके, वीतरागस्वरूप की श्रद्धा करने लगता है।

हे प्रभु! पहले जिनने प्रभुता प्रगट की है, जब तक ऐसे देव-गुरु की भक्ति-बड़प्पन न आवे और जगत का बड़प्पन दिखायी दे, तब तक तेरी प्रभुता प्रगट नहीं होगी। देव-शास्त्र-गुरु की व्यवहार श्रद्धा तो जीव अनन्त बार कर चुका, परन्तु इस आत्मा की श्रद्धा अनन्त काल से नहीं की है — परमार्थ को नहीं समझा है। शुभराग में अटक गया है।

सम्यग्दृष्टि का अन्तरपरिणमन!

चिन्मूरत दृगधारी की मोहं रीति लगत है अटापटी।
बाहिर नारकिकृत दुख भोगे, अन्तर सुखरस गटागटी।
रमत अनेक सुरनि संग पै तिस, परनतितैं नित हटाहटी॥ चिन्मू.॥

ज्ञान-विराग शक्ति तैं विधिफल, भोगत पै विधि घटाघटी।
सदन निवासी तदपि उदासी, तातैं आस्त्रव छटाछटी॥ चिन्मू.॥

जे भवहेतु अबुध के ते तस, करत बन्ध की झटाझटी।
नारक पशु तिय, षंड विकलत्रय, प्रकृतिन की ह्वै कटाकटी॥चिन्मू.॥

संयम धर न सकै पै संयम, धारन को उर चटाचटी।
तासु सुयश गुन को 'दौलत' को लगी रहे नित रटारटी॥ चिन्मू.॥

''सम्यक्त्व प्रभु है''

सम्यक्त्व वास्तव में प्रभु है, इससे वह परम आराध्य है; क्योंकि उसी के प्रसाद से सिद्धि प्राप्त होती है और उसी के निमित्त से मनुष्य का ऐसा माहात्म्य प्रगट होता है कि जिससे वह जीव, जगत पर विजय प्राप्त कर लेता है — अर्थात् सर्वज्ञ होकर समस्त जगत को जानता है। सम्यक्त्व की ऐसी महिमा है कि उससे समस्त सुखों की प्राप्ति होती है।

अधिक क्या कहा जाए! भूतकाल में जितने नरपुंगव सिद्ध हुए हैं और भविष्य में होंगे, वह सब इस सम्यक्त्व का ही प्रताप है।

—*अनगार धर्मामृत*

जिज्ञासु को धर्म कैसे करना चाहिए?

जो जीव, जिज्ञासु होकर स्वभाव को समझने के लिए आया है, वह सुख प्राप्त करने और दु:ख का अभाव करने के लिए आया है। सुख अपना स्वभाव है और वर्तमान में जो दु:ख है, वह क्षणिक है; इसलिए वह दूर हो सकता है। जो सत् को समझने के लिए आया है, उसने इतना तो स्वीकार कर ही लिया है कि जीव, वर्तमान दु:खरूप अवस्था को दूर करके स्वयं सुखरूप अवस्था को प्रगट कर सकता है। आत्मा को अपने भाव में पुरुषार्थ करके विकाररहित स्वरूप का निर्णय करना चाहिए। वर्तमान में विकार होने पर भी विकाररहित स्वभाव की श्रद्धा की जा सकती है; अर्थात्, यह निश्चय हो सकता है कि यह विकार और दु:ख, मेरा स्वरूप नहीं है।

पात्र जीव का लक्षण :—

जिज्ञासु जीवों को स्वरूप का निर्णय करने के लिए शास्त्रों ने पहली ही ज्ञानक्रिया बतायी है। स्वरूप का निर्णय करने के लिए अन्य कोई दान, पूजा, भक्ति, व्रत, तपादि करने को नहीं कहा है परन्तु श्रुतज्ञान से आत्मा का निर्णय करना ही कहा है। सर्व प्रथम कुगुरु, कुदेव, कुशास्त्र का आदर और उस ओर का आकर्षण तो दूर हो ही जाना चाहिए तथा विषयादि परवस्तु में जो सुखबुद्धि है, वह भी दूर हो जाना चाहिए। सब ओर से रुचि दूर होकर अपनी ओर रुचि होनी चाहिए। देव, गुरु और शास्त्र को यथार्थ रीति से

www.vitragvani.com

पहचानकर, उनका आदर करे और यदि यह सब स्वभाव के लक्ष्य से हुआ हो तो उस जीव के पात्रता हुई कही जा सकती है। देखो; इतनी पात्रता भी अभी सम्यग्दर्शन का मूल कारण नहीं है। सम्यग्दर्शन का मूल कारण तो चैतन्यस्वभाव का लक्ष्य करना है परन्तु पहले कुदेवादि का सर्वथा त्याग तथा सच्चे देव-गुरु-शास्त्र और सत्समागम का प्रेम तो पात्र जीवों को होता ही है। ऐसे पात्र जीवों को आत्मा का स्वरूप समझने के लिए क्या करना चाहिए? - यह इस समयसार, गाथा 144 की टीका में स्पष्टरूप से बतलाया है।

'पहले श्रुतज्ञान के अवलम्बन से ज्ञानस्वभावी आत्मा का निश्चय करके, पश्चात् आत्मा की प्रगट प्रसिद्धि के लिए परपदार्थ की प्रसिद्धि के कारण जो इन्द्रियों के और मन के द्वारा प्रवर्तमान बुद्धि है, उसे मर्यादा में लाकर, जिसने मतिज्ञान तत्त्व को आत्मसन्मुख किया है ऐसा, तथा नाना प्रकार के पक्षों के अवलम्बन से होनेवाले अनेक विकल्पों के द्वारा आकुलता को उत्पन्न करनेवाली श्रुतज्ञान की बुद्धियों को भी मर्यादा में लाकर श्रुतज्ञान तत्त्व को भी आत्मसन्मुख करता हुआ, अत्यन्त विकल्परहित होकर तत्काल परमात्मरूप समयसार का जब आत्मा अनुभव करता है, उस समय ही आत्मा सम्यक्तया दिखाई देता है (अर्थात्, श्रद्धा की जाती है) और ज्ञात होता है; इसलिए समयसार ही सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है।'

अब, यहाँ इसका स्पष्टीकरण किया जाता है।

श्रुतज्ञान किसे कहना चाहिए ? :—

'प्रथम, श्रुतज्ञान के अवलम्बन से ज्ञानस्वभावी आत्मा का निर्णय करना' — ऐसा कहा है। श्रुतज्ञान किसे कहना चाहिए? सर्वज्ञ भगवान के द्वारा कहा गया श्रुतज्ञान, अस्ति-नास्ति के द्वारा वस्तुस्वरूप सिद्ध करता है। अनेकान्तस्वरूप वस्तु को 'स्व-अपेक्षा से है और पर-अपेक्षा से नहीं है' — इस प्रकार जो स्वतन्त्र सिद्ध करता है, वह श्रुतज्ञान है।

बाह्यत्याग श्रुतज्ञान का लक्षण नहीं है :—

परवस्तु को छोड़ने के लिए कहे अथवा पर के प्रति राग कम करने के लिए कहे - ऐसा भगवान के द्वारा कहा गया श्रुतज्ञान का लक्षण नहीं है। प्रत्येक वस्तु अपनी अपेक्षा से है और वह वस्तु, अनन्त परद्रव्यों से पृथक् है; इस प्रकार अस्ति-नास्तिरूप परस्पर विरुद्ध दो शक्तियों को प्रकाशित करके, जो वस्तुस्वरूप को बतलाता है, वह अनेकान्त है और वही श्रुतज्ञान का लक्षण है। वस्तु स्व-अपेक्षा से है और पर-अपेक्षा से नहीं है, इसमें वस्तु को स्वतः सिद्ध-ध्रुवरूप सिद्ध किया है।

श्रुतज्ञान का वास्तविक लक्षण-अनेकान्त :—

एक वस्तु में 'है' और 'नहीं है' - ऐसी परस्पर विरुद्ध दो शक्तियाँ भिन्न-भिन्न अपेक्षा से प्रकाश कर, वस्तु का पर से भिन्न स्वरूप बताती हैं - यही श्रुतज्ञान; अर्थात्, भगवान के द्वारा कहा गया शास्त्र है। इस प्रकार आत्मा, सर्व परद्रव्यों से पृथक् वस्तु है - ऐसा पहले श्रुतज्ञान से निश्चय करना चाहिए।

अनन्त परवस्तुओं से यह आत्मा भिन्न है, इस प्रकार सिद्ध

होने पर अब अपने द्रव्य-पर्याय में देखना रहता है। मेरा त्रिकाल द्रव्य एक समयमात्र की अवस्थारूप नहीं है; अर्थात्, विकार क्षणिक पर्याय के रूप में है परन्तु त्रिकालस्वरूप के रूप में नहीं है; इस प्रकार विकाररहित स्वभाव की सिद्धि भी अनेकान्त से होती है। भगवान के द्वारा कहे गये सत् शास्त्रों की महिमा अनेकान्त से ही है।

भगवान भी दूसरे का कुछ नहीं कर सकते :—

भगवान ने अपना कार्य परिपूर्ण किया और दूसरे का कुछ भी नहीं किया, क्योंकि एक तत्त्व अपने रूप से है और पररूप से नहीं है; इसलिए वह किसी अन्य का कुछ नहीं कर सकता है। प्रत्येक द्रव्य, भिन्न-भिन्न स्वतन्त्र है; कोई किसी का कुछ नहीं कर सकता। इस प्रकार जानना ही भगवान के शास्त्र की पहिचान है, यही श्रुतज्ञान है। यह तो अभी स्वरूप को समझनेवाले की पात्रता कही गयी है।

जैनशास्त्र में कथित प्रभावना का सच्चा स्वरूप :—

कोई जीव, परद्रव्य की प्रभावना नहीं कर सकता, परन्तु जैनधर्म; अर्थात्, आत्मा का जो वीतरागस्वभाव है, उसकी प्रभावना धर्मी जीव कर सकते हैं। आत्मा को जाने बिना आत्मा के स्वभाव की वृद्धिरूप प्रभावना किस प्रकार करे? प्रभावना करने का जो विकल्प उठता है, वह भी पर के कारण नहीं है, क्योंकि दूसरे के लिये कुछ भी अपने में होता है - यह कहना जैनशासन की मर्यादा में नहीं है। जैनशासन तो वस्तु को स्वतन्त्र, स्वाधीन और परिपूर्ण स्थापित करता है।

भगवान ने अन्य जीवों की दया की स्थापना की है, यह बात मिथ्या है। यह जीव, परजीव की क्रिया कर ही नहीं सकता तो फिर भगवान उसे बचाने के लिये क्यों कहेंगे? भगवान ने तो आत्मस्वभाव को पहचानकर, अपने आत्मा को कषायभाव से बचाने को कहा है और यही सच्ची दया है। अपने आत्मा का निर्णय किये बिना कोई क्या करेगा? भगवान के श्रुतज्ञान में तो यह कहा है कि तू अपने से परिपूर्ण वस्तु है।

प्रत्येक तत्त्व अपने आप ही स्वतन्त्र है। किसी तत्त्व को दूसरे तत्त्व का आश्रय नहीं है। इस प्रकार वस्तु के स्वरूप को पृथक् रखना, वह अहिंसा है और एक द्रव्य, दूसरे द्रव्य का कुछ कर सकता है - इस प्रकार वस्तु को पराधीन मानना, वह हिंसा है।

आनन्द प्रगट करने की भावनावाला क्या करे? :—

जगत् के जीवों को सुख चाहिए है; सुख कहो या धर्म कहो - एक ही है। धर्म करना है; अर्थात्, आत्मशान्ति चाहिए है। आत्मा की अवस्था में दु:ख का नाश करके वीतराग आनन्द प्रगट करना है। यह आनन्द ऐसा चाहिए कि जो स्वाधीन हो; जिसके लिए पर का अवलम्बन न हो - ऐसा आनन्द प्रगट करने की जिसकी यथार्थ भावना हो, वह जिज्ञासु कहलाता है।

अपना पूर्णानन्द प्रगट करने की भावनावाला जिज्ञासु पहले यह देखे कि ऐसा पूर्णानन्द किसे प्रगट हुआ? स्वयं को अभी वैसा आनन्द प्रगट नहीं हुआ है। यदि अपने को वैसा आनन्द प्रगट हो तो फिर आनन्द प्रगट करने की भावना न हो। तात्पर्य यह है कि अभी स्वयं को वैसा आनन्द प्रगट नहीं हुआ, किन्तु अपने में जैसी

भावना है, वैसा आनन्द अन्य किसी को प्रगट हो चुका है और जिन्हें वैसा आनन्द प्रगट हुआ है, उनके निमित्त से स्वयं वह आनन्द प्रगट करने का यथार्थ मार्ग जाने; इसलिए इसमें सच्चे निमित्तों की पहचान भी आ गयी।

जब तक इतना करता है, तब तक अभी जिज्ञासु है। अपनी अवस्था में अधर्म / अशान्ति है, उसे दूर करके धर्म /शान्ति प्रगट करना है; वह शान्ति अपने आधार से और परिपूर्ण होनी चाहिए। जिसे ऐसी जिज्ञासा हो, वह पहले यह निश्चय करे कि मैं एक आत्मा अपना परिपूर्ण सुख प्रगट करना चाहता हूँ तो वैसा परिपूर्ण सुख किसी को प्रगट हुआ होना चाहिए। यदि परिपूर्ण सुख-आनन्द प्रगट न हो तो दुःखी कहलाएगा। जिसे परिपूर्ण और स्वाधीन आनन्द प्रगट हुआ है, वही सम्पूर्ण सुखी है और ऐसे सर्वज्ञ ही हैं।

इस प्रकार जिज्ञासु अपने ज्ञान में सर्वज्ञ का निर्णय करता है। इसमें पर का करने-धरने की बात तो है ही नहीं। जब वह पर से किञ्चित् पृथक् हुआ है, तब तो आत्मा की जिज्ञासा हुई है। यह तो पर से अलग होकर, अब जिसे अपना हित करने की तीव्र आकाँक्षा जागृत हुई है – ऐसे जिज्ञासु जीव की बात है। परद्रव्य के प्रति जो सुखबुद्धि और रुचि है, उसे दूर कर देना, वह पात्रता है तथा स्वभाव की रुचि और पहचान का होना, उस पात्रता का फल है। दुःख का मूल, भूल है। जिसने अपनी भूल से दुःख उत्पन्न किया है, यदि वह अपनी भूल को दूर कर दे तो उसका दुःख दूर हो जाए। अन्य किसी ने वह भूल नहीं करायी है; इसलिए दूसरा कोई अपना दुःख दूर करने में समर्थ नहीं है।

श्रुतज्ञान का अवलम्बन ही प्रथम किया है :—

जो आत्मकल्याण करने के लिए तैयार हुआ है - ऐसे जिज्ञासु को पहले क्या करना चाहिए? यह बताया जा रहा है। आत्मकल्याण अपने आप नहीं हो जाता, किन्तु अपने ज्ञान में रुचि और पुरुषार्थ से आत्मकल्याण होता है। अपना कल्याण करने के लिए, जिनके पूर्ण कल्याण प्रगट हुआ है, वे कौन हैं? वे क्या कहते हैं? उन्होंने पहले क्या किया था? इसका अपने ज्ञान में निर्णय करना होगा; अर्थात्, सर्वज्ञ के स्वरूप को जानकर, उनके द्वारा कहे गये श्रुतज्ञान के अवलम्बन से अपने आत्मा का निर्णय करना चाहिए, यही प्रथम कर्तव्य है। किसी पर के अवलम्बन से धर्म प्रगट नहीं होता, तथापि जब स्वयं अपने पुरुषार्थ से समझता है, तब सामने निमित्त के रूप में सच्चे देव और गुरु ही होते हैं।

इस प्रकार पहला निर्णय यही हुआ कि कोई पूर्ण पुरुष सम्पूर्ण सुखी है और सम्पूर्ण ज्ञाता है। वही पुरुष, पूर्ण सुख का पूर्ण सत्यमार्ग बतला सकता है। उसे स्वयं समझकर अपने पूर्ण सुख को प्रगट किया जा सकता है और जब स्वयं समझता है, तब सच्चे देव-शास्त्र-गुरु ही निमित्त होते हैं। जिसे स्त्री-पुत्र, पैसा इत्यादि की; अर्थात्, संसार के निमित्तों की तीव्र रुचि होगी, उसे धर्म के निमित्त, देव-शास्त्र-गुरु के प्रति रुचि नहीं होगी; अर्थात्, उसे श्रुतज्ञान का अवलम्बन नहीं होगा और श्रुतज्ञान के अवलम्बन के बिना आत्मा का निर्णय नहीं होता, क्योंकि आत्मा के निर्णय में सत् निमित्त ही होते हैं परन्तु कुगुरु-कुदेव-कुशास्त्र, आत्मा के निर्णय में निमित्तरूप नहीं हो सकते। जो कुदेवादि को मानता है, उसके आत्मनिर्णय हो ही नहीं सकता है। जिज्ञासु यह तो मानता ही नहीं

है कि दूसरे की सेवा करने से धर्म होता है, किन्तु यथार्थ धर्म कैसे होता है? इसके लिए वह पहले पूर्ण ज्ञानी भगवान और उनके द्वारा कहे गये शास्त्र के अवलम्बन से ज्ञानस्वभावी आत्मा का निर्णय करने के लिए उद्यमी होता है। जगत् तो धर्म की कला को ही नहीं समझ पाया है, यदि धर्म की एक ही कला को सीख ले तो उसे मोक्ष हुए बिना नहीं रहे। जिज्ञासु जीव पहले सुदेवादि का और कुदेवादि का निर्णय करके कुदेवादि को छोड़ता है और उसे सच्चे देव-गुरु की ऐसी लगन लगी है कि उसका यही समझने की ओर लक्ष्य है कि सत्पुरुष क्या कहते हैं? इसलिए अशुभ से तो वह हट ही गया है। यदि सांसारिक रुचि से नहीं हटे तो वीतरागी श्रुत के अवलम्बन में नहीं टिक सकता।

धर्म कहाँ है और वह कैसे होता है? :—

बहुत से जिज्ञासुओं के यही **प्रश्न** उठता है कि धर्म के लिए पहले क्या करना चाहिए? पर्वत पर चढ़ा जाए, सेवा-पूजा की जाए, गुरु की भक्ति करके उनकी कृपा प्राप्त की जाए, अथवा दान दिया जाए? इसके **उत्तर** में कहते हैं कि इनमें कहीं भी आत्मा का धर्म नहीं है। धर्म तो अपना स्वभाव है, धर्म पराधीन नहीं है; किसी के अवलम्बन से धर्म नहीं होता, धर्म किसी के देने से नहीं मिलता, किन्तु आत्मा की पहिचान से ही धर्म होता है। जिसे अपना पूर्णानन्द चाहिए, उसे पूर्ण आनन्द का स्वरूप क्या है? वह किसे प्रगट हुआ है? - यह निश्चय करना चाहिए। जिस आनन्द को मैं चाहता हूँ, उसे पूर्ण अबाधित चाहता हूँ; अर्थात्, कोई आत्मा वैसी पूर्णानन्ददशा को प्राप्त हुए हैं और उन्हें पूर्णानन्ददशा में ज्ञान भी पूर्ण ही है, क्योंकि यदि पूर्ण ज्ञान न हो तो राग-द्वेष का अभाव

नहीं हो सकता। इसलिए जिन्हें पूर्णानन्द प्रगट हुआ है - ऐसे सर्वज्ञ भगवान हैं। उनका, और वे क्या हैं ? - इसका, जिज्ञासु को निर्णय करना चाहिए। इसलिए कहा है कि पहले श्रुतज्ञान के अवलम्बन से आत्मा का निर्णय करना चाहिए।

देखो ! इसमें उपादान-निमित्त की सन्धि विद्यमान है। ज्ञानी कौन है ? सत्य बात कौन कहता है ? यह सब निश्चय करने के लिए निवृत्ति लेनी चाहिए। यदि स्त्री, कुटुम्ब, लक्ष्मी का प्रेम और संसार की रुचि में कमी न हो तो सत्समागम के लिए निवृत्ति नहीं ली जा सकती। जहाँ श्रुत का अवलम्बन लेने की बात कही गयी है, वहाँ तीव्र अशुभभाव के त्याग की बात तो सहज ही आ गयी है और सच्चे निमित्तों की पहिचान करने की बात भी आ गयी है।

सुख का उपाय ज्ञान और सत्समागम है :—

भाई ! तुझे सुख चाहिए न ? यदि सचमुच तुझे सुख चाहिए हो तो पहले यह निर्णय और ज्ञान कर कि सुख कहाँ है और वह कैसे प्रगट होता है ? सुख कहाँ है और कैसे प्रगट होता है ? - इसका ज्ञान हुए बिना प्रयत्न करते-करते सूख जाए तो भी सुख प्राप्त नहीं होता, धर्म नहीं होता। सर्वज्ञ भगवान के द्वारा कहे गये श्रुतज्ञान के अवलम्बन से यह निर्णय होता है और यह निर्णय करना ही प्रथम धर्म है।

जिसे धर्म प्राप्त करना हो, उसे धर्मी को पहचानकर, वे क्या कहते हैं ? - इसका निर्णय करने के लिए सत्समागम करना चाहिए। जिसे सत्समागम से श्रुतज्ञान का अवलम्बन हुआ कि अहो ! पूर्ण आत्मवस्तु उत्कृष्ट महिमावान् है - ऐसा परम स्वरूप

मैंने अनन्त काल में कभी सुना भी नहीं था – ऐसा होने पर उसके स्वरूप की रुचि जागृत होती है और सत्समागम का रङ्ग लग जाता है; इसलिए उसे कुदेवादि अथवा संसार के प्रति रुचि नहीं होती। यदि वस्तु को पहचाने तो प्रेम जागृत हो और उस ओर पुरुषार्थ झुके।

आत्मा, अनादि से स्वभाव को भूलकर परभावरूपी परदेश में चक्कर लगाता है। स्वरूप से बाहर संसार में परिभ्रमण करते-करते परम पिता सर्वज्ञ परमात्मा और परम हितकारी श्री परमगुरु मिले और वे सुनाते हैं कि पूर्ण हित कैसे हो सकता है ? वे आत्मा के स्वरूप की पहचान कराते हैं, तब अपने स्वरूप को सुनकर किस धर्मी को उल्लास नहीं आयेगा ? आयेगा ही।

आत्मस्वभाव की बात सुनकर जिज्ञासु जीवों को महिमा जागृत होती ही है। अहो! अनन्त काल से यह अपूर्व ज्ञान नहीं हुआ; स्वरूप से बाहर परभाव में परिभ्रमण करके अनन्त काल से व्यर्थ ही दुःख सहन किये हैं। यदि पहले यह अपूर्व ज्ञान प्राप्त किया होता तो यह दुःख न होता। इस प्रकार स्वरूप की आकाँक्षा जागृत करे, रुचि उत्पन्न करे और इस महिमा को यथार्थतया रटते हुए स्वरूप का निर्णय करे। इस प्रकार जिसे धर्म करके सुखी होना हो, उसे पहले श्रुतज्ञान का अवलम्बन लेकर आत्मा का निर्णय करना चाहिए।

भगवान की श्रुतज्ञानरूपी डोरी को दृढ़ता से पकड़कर, उसके अवलम्बन से स्वरूप में पहुँचा जा सकता है। श्रुतज्ञान के अवलम्बन का अर्थ है, सच्चे श्रुतज्ञान की रुचि का होना और अन्य कुश्रुतज्ञान में रुचि का न होना। जिसे संसार सम्बन्धी बातों की तीव्र रुचि दूर

www.vitragvani.com

हो गयी है और श्रुतज्ञान में तीव्र रुचि जम गयी है और जो श्रुतज्ञान के अवलम्बन से ज्ञानस्वभावी आत्मा का निर्णय करने के लिए तैयार हुआ है, उसे अल्प काल में ही आत्मभान हो जाएगा। जिसके हृदय में संसार सम्बन्धी तीव्र रङ्ग जमा है, उसे परम शान्तस्वभाव की बात को समझने की पात्रता जागृत नहीं हो सकती।

यहाँ जो श्रुत का अवलम्बन शब्द रखा है, वह अवलम्बन तो स्वभाव के लक्ष्य से है, वापस न होने के लक्ष्य से है। समयसारजी में तो अप्रतिहत शैली से बात है। ज्ञानस्वभावी आत्मा का निर्णय करने के लिए जिसने श्रुत का अवलम्बन लिया है, वह आत्मस्वभाव का निर्णय करता ही है; वापस होने की बात ही समयसार में नहीं है।

संसार की रुचि को कम करके, आत्मा का निर्णय करने के लक्ष्य से जो यहाँ तक आया है, उसे श्रुतज्ञान के अवलम्बन से निर्णय अवश्य होगा। निर्णय न हो, यह हो ही नहीं सकता। साहूकार के बही-खाते में दिवाले की बात ही नहीं होती; उसी प्रकार यहाँ दीर्घ संसार की बात ही नहीं है। यहाँ तो एक-दो भव में; अर्थात्, अल्प काल में ही मोक्ष जानेवाले जीवों की बात है। सभी बातों की हाँ-हाँ कहा करे और अपने ज्ञान में एक भी बात का निर्णय न करे - ऐसे 'ध्वजपुच्छल' जीवों की बात यहाँ नहीं है। यहाँ तो सुहागा जैसी स्पष्ट बात है।

जो अनन्त संसार का अन्त लाने के लिए पूर्ण स्वभाव के लक्ष्य से प्रारम्भ करने को निकले हैं - ऐसे जीवों का किया हुआ प्रारम्भ वापस नहीं होता, ऐसे लोगों की ही यहाँ बात है। यह तो अप्रतिहत मार्ग है। पूर्णता के लक्ष्य से किया गया प्रारम्भ वापस नहीं होता। पूर्णता के लक्ष्य से पूर्णता होती ही है।

रुचि और लगन :—

यहाँ पर एक ही बात को अदल-बदलकर बारम्बार कहा है; इसलिए रुचिवान् जीव उकताता नहीं है। जिस प्रकार नाटक की रुचिवाला आदमी नाटक में 'वंशमोर' कह कर भी अपनी रुचि की वस्तु को बारम्बार देखता है; उसी प्रकार जिन भव्य जीवों को आत्मा की लगन लग गयी है और जो आत्मा का भला करने के लिए निकले हैं, वे बारम्बार रुचिपूर्वक प्रति समय खाते-पीते, बैठते-बोलते और विचार करते हुए निरन्तर श्रुत का ही अवलम्बन स्वभाव के लक्ष्य से करते हैं; किसी काल अथवा क्षेत्र की मर्यादा नहीं करते। उन्हें श्रुतज्ञान की रुचि और जिज्ञासा ऐसी जम गयी है कि वह कभी भी दूर नहीं होती। अमुक समय तक अवलम्बन करके फिर उसे छोड़ देने की बात नहीं है परन्तु श्रुतज्ञान के अवलम्बन से आत्मा का निर्णय करने को कहा गया है। जिसे सच्चे तत्त्व की रुचि है, वह अन्य समस्त कार्यों की प्रीति को गौण कर देता है।

प्रश्न - तब क्या सत् की प्रीति होने पर खाना-पीना और धन्धा-व्यापार इत्यादि सब छोड़ देना चाहिए? क्या श्रुतज्ञान को सुनते ही रहना चाहिए? उसे सुनकर किया क्या जाए?

उत्तर - सत् की प्रीति होने पर तत्काल खाना-पीना इत्यादि सब छूट ही जाता हो - ऐसी बात नहीं है, किन्तु उस ओर की रुचि तो अवश्य कम होती ही है। पर में से सुखबुद्धि उड़ जाती है और सर्वत्र एक आत्मा ही आगे होता है; इसलिए निरन्तर आत्मा की ही धगश होती है।

मात्र श्रुतज्ञान को सुनते ही रहना चाहिए - ऐसा नहीं कहा,

किन्तु श्रुतज्ञान के द्वारा आत्मा का निर्णय करना चाहिए। श्रुत के अवलम्बन की धुन लगने पर देव-गुरु-शास्त्र-धर्म और निश्चय-व्यवहार इत्यादि समस्त पहलु जानकर एक ज्ञानस्वभावी आत्मा का निश्चय करना चाहिए। इसमें भगवान कैसे हैं ? उनके शास्त्र कैसे हैं और वे क्या कहते हैं ? इन सबका अवलम्बन यह निर्णय कराता है कि तू ज्ञान है; आत्मा ज्ञानस्वरूपी ही है, तू ज्ञान के अतिरिक्त दूसरा कुछ नहीं कर सकता है।

इसमें यह बताया गया है कि देव-शास्त्र-गुरु कैसे होते हैं और उन देव-शास्त्र-गुरु को पहचानकर, उनका अवलम्बन लेनेवाला स्वयं क्या समझा होता है ? हे जीव ! तू ज्ञानस्वभावी आत्मा है, जानना ही तेरा स्वभाव है, किसी पर का कुछ करना अथवा पुण्य-पाप के भाव करना तेरा स्वरूप नहीं है। यह सब जो बतलाते हों, वे सच्चे देव-शास्त्र-गुरु हैं और इस प्रकार जो समझता है, वही देव -शास्त्र-गुरु के अवलम्बन से श्रुतज्ञान को समझा है, किन्तु जो राग से धर्म मनवाते हों और शरीराश्रित क्रिया, आत्मा करता है, यह मनवाते हों तथा जो यह कहते हों कि जड़कर्म, आत्मा को परेशान करते हैं, वे सच्चे देव-शास्त्र-गुरु नहीं हो सकते, क्योंकि वे वस्तुस्वरूप जैसा है, वैसा नहीं जानते और उससे विपरीत बतलाते हैं।

जो शरीरादि सर्व पर से भिन्न ज्ञानस्वभावी आत्मा का स्वरूप बताते हों और यह बताते हों कि पुण्य-पाप का कर्तव्य आत्मा का नहीं है, वही सच्चे शास्त्र हैं, वही सच्चे देव हैं और वही सच्चे गुरु हैं। जो पुण्य से धर्म बतलाते हैं और जो यह बतलाते हैं कि शरीर की क्रिया का कर्ता आत्मा है तथा जो राग से धर्म होना बतलाते हैं,

वे सब कुगुरु, कुदेव और कुशास्त्र हैं क्योंकि वे यथावत् वस्तुस्वरूप के ज्ञाता नहीं हैं और वे विपरीत स्वरूप ही बतलाते हैं। जो वस्तुस्वरूप जैसा है, वैसा न बताये और किञ्चित्मात्र भी विरुद्ध बताये, वह सच्चा देव, सच्चा शास्त्र या सच्चा गुरु नहीं हो सकता।

श्रुतज्ञान के अवलम्बन का फल-आत्मानुभव है :—

मैं आत्मा तो ज्ञायक हूँ, पुण्य-पाप की वृत्तियाँ मेरी ज्ञेय हैं, वे मेरे ज्ञान से भिन्न हैं; इस प्रकार पहले विकल्प के द्वारा देव-गुरु - शास्त्र के अवलम्बन से यथार्थ निर्णय करता है। ज्ञानस्वभाव का अनुभव होने से पहले की यह बात है। जिसने स्वभाव के लक्ष्य से श्रुत का अवलम्बन लिया है, वह अल्प काल में ही आत्मानुभव अवश्य करेगा। पहले विकल्प में यह निश्चय किया कि मैं पर से भिन्न हूँ, पुण्य-पाप भी मेरा स्वरूप नहीं है, मेरे शुद्ध स्वभाव के अतिरिक्त देव-गुरु-शास्त्र का भी अवलम्बन परमार्थतः नहीं है। मैं तो स्वाधीन ज्ञानस्वभाववाला हूँ; इस प्रकार जिसने निर्णय किया उसे अनुभव हुए बिना कदापि नहीं रह सकता। यहाँ प्रारम्भ ही ऐसे बलपूर्वक किया है कि पीछे हटने की बात ही नहीं है।

पुण्य-पाप मेरा स्वरूप नहीं है, मैं ज्ञायक हूँ; इस प्रकार जिसने निर्णयपूर्वक स्वीकार किया है, उसका परिणाम पुण्य-पाप की ओर से हटकर ज्ञायकस्वभाव की ओर गया है। उसे पुण्य-पाप के प्रति आदर नहीं रहा; इसलिए वह अल्प काल में ही पुण्य-पाप से रहित स्वभाव का निर्णय करके और उसमें स्थिरता करके, वीतराग होकर पूर्ण हो जाएगा। यहाँ पूर्ण की ही बात है। प्रारम्भ और पूर्णता के बीच कोई भेद रखा ही नहीं है। जो प्रारम्भ हुआ है, वह पूर्णता को लक्ष्य में लेकर ही हुआ है। सुनानेवाले और सुननेवाले दोनों

की पूर्णता ही है। जो पूर्ण स्वभाव की बात करते हैं, वे देव-शास्त्र-गुरु तो पवित्र ही हैं, उनके अवलम्बन से जिनने स्वीकार किया है, वे भी पूर्ण पवित्र हुए बिना कदापि नहीं रह सकते। पूर्ण को स्वीकार करके आया है तो पूर्ण अवश्य होगा; इस प्रकार उपादान-निमित्त की सन्धि साथ ही साथ है।

सम्यग्दर्शन होने से पूर्व :—

यहाँ आत्मानन्द को प्रगट करने की पात्रता का स्वरूप कहा जा रहा है। भाई! तुझे धर्म करना है न? तो तू अपने को पहिचान! सर्व प्रथम, सच्चा निर्णय करने की बात है। अरे! तू है कौन? क्या क्षणिक पुण्य-पाप का करनेवाला तू है? – नहीं, नहीं; तू तो ज्ञान का कर्ता, ज्ञानस्वभावी आत्मा है। तू पर का ग्रहण करनेवाला अथवा छोड़नेवाला नहीं है; तू तो मात्र ज्ञाता ही है – ऐसा निर्णय ही धर्म के प्रथम प्रारम्भ (सम्यग्दर्शन) का उपाय है। प्रारम्भ में; अर्थात्, सम्यग्दर्शन होने से पूर्व ऐसा निर्णय न करे तो वह पात्रता में ही नहीं है। मेरा सहजस्वभाव जानना है; इस प्रकार श्रुत के अवलम्बन से जो निर्णय करता है, वह पात्र जीव है। जिसे पात्रता प्रगट हो गयी, उसे अन्तरङ्ग अनुभव अवश्य होगा। सम्यग्दर्शन होने से पूर्व जिज्ञासु जीव, धर्म सन्मुख हुआ जीव, सत्समागम को प्राप्त हुआ, जीव श्रुतज्ञान के अवलम्बन से ज्ञानस्वभावी आत्मा का निर्णय करता है।

मैं ज्ञानस्वभावी जाननेवाला हूँ। कहीं भी राग-द्वेष करके ज्ञेय में अटक जाना मेरा स्वभाव नहीं है। चाहे जो हो, मैं तो मात्र उसका ज्ञाता हूँ, मेरा ज्ञातास्वभाव, पर का कुछ करनेवाला नहीं है। जैसे, मैं ज्ञानस्वभावी हूँ, वैसे ही जगत् के सब आत्मा ज्ञानस्वभावी हैं।

वे स्वयं अपने ज्ञानस्वभाव का निर्णय भूले हैं; इसलिए दुःखी हैं। यदि वे स्वयं निर्णय करें तो उनका दुःख दूर हो जाए। मैं किसी को बदलने में समर्थ नहीं हूँ, मैं परजीवों के दुःखों को दूर नहीं कर सकता, क्योंकि दुःख उन्होंने अपनी भूल से किया है; इसलिए वे यदि अपनी भूल को दूर करें तो उनका दुःख दूर हो सकता है। ज्ञान का स्वभाव किसी पर के लक्ष्य से अटकना नहीं है। पहले जो श्रुतज्ञान का अवलम्बन बताया है, उसमें पात्रता आ चुकी है; अर्थात्, श्रुत के अवलम्बन से आत्मा का अव्यक्त निर्णय हो चुका है। तत्पश्चात् प्रगट अनुभव कैसे होता है ? वह अब कहते हैं।

सम्यग्दर्शन से पूर्व श्रुतज्ञान के अवलम्बन के बल से आत्मा के ज्ञानस्वभाव को अव्यक्तरूप से लक्ष्य में लिया है। अब, प्रगटरूप में लक्ष्य में लेते हैं, अनुभव करते हैं, आत्मसाक्षात्कार; अर्थात्, सम्यग्दर्शन करते हैं। वह कैसे ? उसकी बात यहाँ कहते हैं।

'पश्चात् आत्मा की प्रगट प्रसिद्धि के लिये परपदार्थ को प्रसिद्धि की कारण जो इन्द्रिय और मन के द्वारा प्रवर्तमान बुद्धियाँ हैं, उनको मर्यादा में लेकर जिसने मतिज्ञान तत्त्व को आत्मसन्मुख किया है...' अप्रगटरूप निर्णय हुआ था, वह अब प्रगटरूप कार्य को लाता है; जो निर्णय किया था, उसका फल प्रगट होता है।

यह ज्ञानस्वभावी आत्मा का निर्णय जगत् के सभी आत्माएँ कर सकते हैं। सभी आत्माएँ परिपूर्ण भगवान ही हैं; इसलिए सब अपने ज्ञानस्वभाव का निर्णय कर सकने में समर्थ हैं। जो आत्मा का हित करना चाहता है, उसे वह हो सकता है, किन्तु अनादि काल से अपनी परवाह नहीं की है। हे भाई! तू कौन सी वस्तु है ? यह जाने बिना तू क्या करेगा ? पहले इस ज्ञानस्वभावी आत्मा का

निर्णय करना चाहिए। यह निर्णय होने पर अव्यक्तरूप में आत्मा का लक्ष्य हुआ, फिर पर के लक्ष्य और विकल्प से हटकर स्व का लक्ष्य प्रगटरूप में, अनुभवरूप में कैसे करना चाहिए? वह बताते हैं - आत्मा की प्रगट प्रसिद्धि के लिये इन्द्रिय और मन से जो परलक्ष्य होता है, उसे बदलकर मतिज्ञान को स्व में एकाग्र करते हुए आत्मा का लक्ष्य होता है; अर्थात्, आत्मा की प्रगटरूप में प्रसिद्धि होती है। आत्मा का प्रगटरूप में अनुभव होना ही सम्यग्दर्शन है और वही धर्म है।

धर्म के लिए पहले क्या करना चाहिए? :—

प्रश्न - आत्मा के सम्बन्ध में कुछ समझ में न आये तो पुण्यरूप शुभभाव करना चाहिए या नहीं?

उत्तर - पहले स्वभाव को समझना ही धर्म है, धर्म के द्वारा ही संसार का अन्त होता है; शुभभाव से धर्म नहीं होता और धर्म के बिना संसार का अन्त नहीं होता। धर्म तो अपना स्वभाव है; इसलिए पहले स्वभाव को समझना चाहिए।

प्रश्न - स्वभाव समझ में न आये तो क्या करना चाहिए? समझने में देर लगे और एक-दो भव हो तो क्या अशुभभाव करके मर जाएँ?

उत्तर - पहले तो रुचि से प्रयत्न करनेवाले को यह बात समझ में न आये - ऐसा हो ही नहीं सकता। समझने में विलम्ब हो तो वहाँ समझने के लक्ष्य से अशुभभाव को दूर करके, शुभभाव तो सहज होते हैं परन्तु यह जान लेना चाहिए कि शुभभाव से धर्म नहीं होता। जब तक किसी भी जड़ वस्तु की क्रिया और राग की क्रिया

को जीव अपनी मानता है, तब तक वह यथार्थ समझ के मार्ग पर नहीं है।

सुख का मार्ग सच्ची समझ और विकार का फल जड़ है: —

यदि आत्मा की सच्ची रुचि हो तो समझ का मार्ग लिए बिना न रहे। सत्य चाहिए हो, सुख चाहिए हो तो यही मार्ग है। समझ में भले विलम्ब हो जाए, किन्तु मार्ग तो सच्ची समझ का ही लेना चाहिए न? सच्ची समझ का मार्ग ग्रहण करे तो सत्य समझ में आये बिना नहीं रहता है। यदि ऐसे मनुष्य अवतार में और सत्समागम के योग से भी सत्य नहीं समझे तो फिर सत्य समझने का ऐसा सुयोग मिलना दुर्लभ है। जिसे यह खबर नहीं है कि मैं कौन हूँ और यहीं स्वरूप को भूल जाता है, वह परभव में जहाँ जाएगा, वहाँ क्या करेगा? शान्ति कहाँ से लाएगा? आत्मा की प्रतीति के बिना कदाचित् शुभभाव किये हों तो भी उस शुभ का फल जड़ में जाता है; आत्मा में पुण्य का फल नहीं आता। जिसने आत्मा की परवाह नहीं की और यहीं जो मूढ़ हो गया है, उसने यदि शुभभाव किए भी तो रजकणों का बन्ध हुआ और उन रजकणों के फल में भी उसे रजकणों का ही संयोग मिलेगा। रजकणों का संयोग मिला तो उसमें आत्मा के लिए क्या है? आत्मा की शान्ति तो आत्मा में है, किन्तु उसकी परवाह तो की ही नहीं है।

असाध्य (जीवितमुर्दा) कौन है और शुद्धात्मा कौन है ? : —

जो जीव, यहीं जड़ के साथ एकत्वबुद्धि करके जड़ जैसा हो गया है, अपने को भूलकर संयोगदृष्टि से मरता है, असाध्यरूप वर्तता है; अर्थात्, जिसे चैतन्यस्वरूप का भान नहीं है, वह जीते-

www.vitragvani.com

जी ही असाध्य है। भले ही शरीर हिले-डुले और बोले, किन्तु यह जड़ की क्रिया है, उसका मालिक हुआ, किन्तु अन्तर में साध्य जो ज्ञानस्वरूप है, उसकी जिसे खबर नहीं है, वह असाध्य; अर्थात्, चलता मुर्दा है।

वस्तु का स्वभाव यथार्थरूप से सम्यक्दर्शनपूर्वक के ज्ञान से नहीं समझे तो जीव को स्वरूप का किञ्चित् लाभ नहीं है। सम्यग्दर्शन और ज्ञान से स्वरूप की पहचान और निर्णय करके जो स्थिर हुआ, उसे ही 'शुद्ध आत्मा' ऐसा नाम प्राप्त होता है, वही समयसार है और वही सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञान है। 'मैं शुद्ध हूँ' – ऐसा विकल्प छूटकर अकेला आत्मानुभव होता है, तभी सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान होता है; यह सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान कहीं आत्मा से पृथक् नहीं है; वे शुद्ध आत्मारूप ही हैं।

आत्मा से पृथक् नहीं हैं :—

जिसे सत्य की आवश्यकता हो –ऐसे जिज्ञासु समझदार जीव को यदि कोई असत्य कहे तो वह उस असत्य की हाँ नहीं करता, वह असत्य का स्वीकार नहीं करता। राग से स्वभाव का अनुभव होगा – ऐसी बात उसे नहीं जँचती। जिसे सत्स्वभाव चाहिए हो, वह स्वभाव से विरुद्ध भाव की हाँ नहीं करता, उन्हें अपना नहीं मानता। वस्तु का स्वरूप शुद्ध है, उसका बराबर निर्णय किया है और राग से भिन्न पड़कर ज्ञान स्वसन्मुख होने पर जो अभेद शुद्ध अनुभव हुआ, वही समयसार है और वही धर्म है। ऐसा धर्म किस प्रकार होता है ? धर्म करने के लिए प्रथम क्या करना चाहिए ? इस सम्बन्ध में यह कथन चल रहा है।

धर्म की रुचिवाले जीव कैसे होते हैं ? :—

धर्म के लिए सर्व प्रथम श्रुतज्ञान का अवलम्बन लेकर श्रवण-मनन से ज्ञानस्वभावी आत्मा का निश्चय करना कि 'मैं एक ज्ञानस्वभावी हूँ।' मेरे ज्ञानस्वभाव में ज्ञान के अतिरिक्त कुछ भी करने-धरने का स्वभाव नहीं है। इस प्रकार सत् समझने में जो काल व्यतीत होता है, वह भी अनन्त काल में नहीं किया हुआ, ऐसा अपूर्व अभ्यास है।

जीव को सत् की ओर की रुचि होती है; इसलिए वैराग्य जगता है और सम्पूर्ण संसार की रुचि उड़ जाती है। उसे चौरासी के अवतार का त्रास लगता है। 'अरे! यह त्रास क्यों? यह दु:ख कब तक? स्वरूप का भान नहीं है और प्रतिक्षण पराश्रयभाव में रचा-पचा रहना, यह भी कोई मनुष्य जीवन है? तिर्यञ्च इत्यादि के दु:खों की तो बात ही क्या, परन्तु इस मानव को भी ऐसा दु:खी जीवन और मरण के समय स्वरूप के भान बिना असाध्य होकर मरना!' नहीं; इससे छूटने का उपाय करूँ और शीघ्र आत्मा को इन दु:खों से मुक्त करूँ। इस प्रकार संसार का भय होने पर स्वरूप समझने की रुचि होती है। आत्मवस्तु को समझने के लिए जो समय व्यतीत होता है, वह ज्ञान की क्रिया है - सत् का मार्ग है।

जिज्ञासुओं को प्रथम ज्ञानस्वभावी आत्मा का निर्णय करना चाहिए। मैं एक ज्ञाता हूँ, मेरा स्वरूप ज्ञान है, वह जाननेवाला है, पुण्य-पाप कोई मेरे ज्ञान का स्वरूप नहीं हैं। पुण्य-पाप के भाव अथवा स्वर्ग-नरकादि कोई मेरा स्वभाव नहीं है। इस प्रकार श्रुतज्ञान के द्वारा आत्मा का निर्णय करना ही प्रथम उपाय है।

उपादान-निमित्त और कार्य-कारण :—

सच्चे श्रुतज्ञान के अवलम्बन के बिना और श्रुतज्ञान से ज्ञानस्वभावी आत्मा का निर्णय किये बिना, आत्मा अनुभव में नहीं आता। इसमें आत्मा का अनुभव करना, वह कार्य है। आत्मा का निर्णय, वह उपादानकारण है और श्रुत का अवलम्बन, वह निमित्त है। श्रुत के अवलम्बन से ज्ञानस्वभाव का जो निर्णय किया, उसका फल उस निर्णय के अनुसार अनुभव करना ही है। आत्मा का निर्णय, वह कारण है और आत्मा का अनुभव, वह कार्य है; इस प्रकार यहाँ कहा गया है। तात्पर्य यह है कि जो निर्णय करता है, उसे अनुभव होता ही है - ऐसी बात की है। कारण के सेवन अनुसार कार्य प्रगट होता ही है।

अन्तरङ्ग-अनुभव का उपाय अर्थात् ज्ञान की क्रिया :—

अब, आत्मा का निर्णय करने के पश्चात् उसका प्रगट अनुभव किस प्रकार करना - यह बतलाते हैं। निर्णय के अनुसार ज्ञान का आचरण, वह अनुभव है। प्रगट अनुभव में शान्ति का वेदन लाने के लिए; अर्थात्, आत्मा की प्रगट प्रसिद्धि के लिए परपदार्थ की प्रसिद्धि के कारण को छोड़ देना चाहिए। प्रथम, मैं ज्ञानानन्दस्वरूपी आत्मा हूँ - ऐसा निश्चय करने के बाद आत्मा के आनन्द का प्रगटरूप से भोग करने के लिए; अर्थात्, वेदन करने के लिए, निर्विकल्प अनुभव करने के लिए, परपदार्थ की प्रसिद्धि के कारणभूत जो इन्द्रिय और मन के द्वारा परलक्ष्य से प्रवर्तमान ज्ञान है, उसे स्वसन्मुख करना चाहिए। देव-शास्त्र-गुरु इत्यादि परपदार्थों का लक्ष्य तथा मन के अवलम्बन से प्रवर्तमान बुद्धि; अर्थात्, मतिज्ञान

को सङ्कोच कर; अर्थात्, मर्यादा में लाकर स्वसन्मुख करना चाहिए। यही अन्तर अनुभव का पन्थ है और यही सहज शीतलस्वरूप, अनाकुल स्वभाव की छाया में बैठने का द्वार है। पहले मैं ज्ञानस्वभावी आत्मा हूँ – ऐसा यथार्थ निर्णय करके, तत्पश्चात् आत्मा का प्रगट अनुभव करने के लिए परसन्मुख ढलते मति और श्रुतज्ञान को स्व तरफ एकाग्र करना। जो ज्ञान, विकल्प में अटकता था, उस ज्ञान को वहाँ से हटाकर स्वभावसन्मुख करना चाहिए। ज्ञान को आत्मसन्मुख करने से स्वभाव का अनुभव होता है।

ज्ञान में भव नहीं है :—

जिसने मन के अवलम्बन से प्रवर्तमान ज्ञान को मन से छुड़ाकर स्वसन्मुख किया है; अर्थात्, मतिज्ञान पर तरफ झुकता था, उसे मर्यादा में लेकर आत्मसन्मुख किया है, उसके ज्ञान में अनन्त संसार का नास्तिभाव और ज्ञानस्वभाव का अस्तिभाव है। ऐसी समझ और ऐसा ज्ञान करने में अनन्त पुरुषार्थ है। स्वभाव में भव नहीं है; इसलिए जिसके स्वभाव की ओर का पुरुषार्थ जागृत हुआ है, उसे भव की शङ्का नहीं रहती। जहाँ भव की शङ्का है, वहाँ सच्चा ज्ञान नहीं है और जहाँ सच्चा ज्ञान है, वहाँ भव की शङ्का नहीं है। इस प्रकार ज्ञान और भव की एक-दूसरे में नास्ति है।

पुरुषार्थ के द्वारा सत्समागम से अकेले ज्ञानस्वभावी आत्मा का निर्णय करने के पश्चात्, मैं अबन्ध हूँ या बन्धवाला हूँ; शुद्ध हूँ या अशुद्ध हूँ; त्रिकाल हूँ या क्षणिक हूँ? – इत्यादि जो वृत्तियाँ उत्पन्न होती है, उनमें भी अभी आत्मशान्ति नहीं है। वे वृत्तियाँ, आकुलतामय हैं, आत्मशान्ति की विरोधी हैं। नयपक्ष के अवलम्बन से होनेवाले मन सम्बन्धी अनेक प्रकार के विकल्पों को भी मर्यादा

www.vitragvani.com

में लाकर; अर्थात्, उन विकल्पों को रोकने के पुरुषार्थ द्वारा श्रुतज्ञान को भी आत्मसन्मुख करने से शुद्धात्मा का अनुभव होता है। इस प्रकार मति और श्रुतज्ञान को आत्मसन्मुख करना ही सम्यग्दर्शन की विधि है। इन्द्रिय और मन के अवलम्बन से मतिज्ञान परलक्ष्य में प्रवर्तता था उसे, और मन के अवलम्बन से श्रुतज्ञान अनेक प्रकार के नयपक्षों के विकल्प में अटकता था उसे; अर्थात्, परावलम्बन से प्रवर्तमान मतिज्ञान और श्रुतज्ञान को मर्यादा में लाकर अन्तर स्वभाव सन्मुख करके एक ज्ञानस्वभाव को पकड़कर; अर्थात्, लक्ष्य में लेकर निर्विकल्प अनुभव होकर तत्काल निजरस से ही प्रगट होनेवाले शुद्धात्मा का अनुभव करना, वह अनुभव ही सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है।

इस प्रकार अनुभव में आनेवाला शुद्धात्मा कैसा है? :—

शुद्धस्वभाव आदि-मध्य और अन्तरहित त्रिकाल एकरूप है, उसमें बन्ध-मोक्ष नहीं है, वह अनाकुल स्वरूप है। 'मैं शुद्ध हूँ या अशुद्ध हूँ?' - ऐसे विकल्प से होनेवाली आकुलता से रहित है। पुण्य-पाप के आश्रय का लक्ष्य छूटने से अकेला आत्मा ही अनुभव में आता है; केवल एक आत्मा में पुण्य-पाप के कोई भाव नहीं हैं। मानों कि सम्पूर्ण विश्व पर तैरता हो; अर्थात्, समस्त विभावों से पृथक् हो गया हो - ऐसा चैतन्यस्वभाव पृथक् अखण्ड प्रतिभासमय अनुभव आता है। आत्मा का स्वभाव पुण्य-पाप के ऊपर तैरता है; अर्थात्, उसमें एकमेक नहीं हो जाता, उसरूप नहीं हो जाता, परन्तु उनसे अलग का अलग रहता है तथा अनन्त है; अर्थात्, जिसके स्वभाव का कभी अन्त नहीं है; पुण्य-पाप तो अन्तवाले हैं, ज्ञानस्वभाव अनन्त है और विज्ञानघन है। अकेला ज्ञान का ही

www.vitragvani.com

पिण्ड है। अकेले ज्ञानपिण्ड में राग-द्वेष किञ्चित्मात्र भी नहीं हैं। अज्ञानभाव से राग का कर्ता होता था परन्तु स्वभावभाव से राग का कर्ता नहीं है। अखण्ड आत्मस्वभाव का निर्णय करने के बाद समस्त विभावभावों का लक्ष्य छोड़कर, जब यह आत्मा विज्ञानघन; अर्थात्, जिसमें कोई विकल्प प्रवेश नहीं कर सकता - ऐसे ज्ञान का घन पिण्डरूप परमात्मस्वरूप समयसार का अनुभव करता है, तब वह स्वयं सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानरूप है।

निश्चय और व्यवहार -सो कहते हैं ? :—

इसमें निश्चय-व्यवहार दोनों आ जाते हैं। अखण्ड विज्ञानघन -स्वरूप ज्ञानस्वभावी आत्मा, वह निश्चय है और परिणति को स्वभाव सन्मुख करना, वह व्यवहार है। मति-श्रुतज्ञान को स्व -सन्मुख झुकाने के पुरुषार्थरूपी जो पर्याय, वह व्यवहार है और अखण्ड आत्मस्वभाव, वह निश्चय है। जब मति-श्रुतज्ञान को स्व-सन्मुख करके आत्मा का अनुभव किया, उसी समय आत्मा सम्यक्रूप से दिखाई देता है और उसकी श्रद्धा हो जाती है - यह सम्यग्दर्शन प्रगट होने के समय की बात की है।

सम्यग्दर्शन होने पर क्या होता है ? :—

सम्यग्दर्शन होने पर स्वरस का अपूर्व आनन्द अनुभव में आता है। आत्मा का सहज आनन्द प्रगट होता है, आत्मिक आनन्द का उछाल आता है, अन्तर में आत्मशान्ति का वेदन होता है, आत्मा का सुख अन्तर में है, वह प्रगट अनुभव में आता है, इस अपूर्व सुख का मार्ग सम्यग्दर्शन ही है। 'मैं समयसार भगवान आत्मा हूँ' - ऐसा जो निर्विकल्प शान्तरस अनुभव में आता है,

www.vitragvani.com

वही समयसार और सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञान है। यहाँ तो सम्यग्दर्शन और आत्मा दोनों अभेद लिये हैं, आत्मा स्वयं सम्यग्दर्शनस्वरूप है।

बारम्बार ज्ञान में एकाग्रता का अभ्यास करना चाहिए :—

सर्व प्रथम, आत्मा का निर्णय करने के बाद अनुभव करने के लिए कहा है। सर्व प्रथम, 'मैं निश्चय ज्ञानस्वरूप हूँ, अन्य कोई रागादि मेरा स्वरूप नहीं है', ऐसा निर्णय करने के लिए सत्समागम में सच्चे श्रुतज्ञान को पहचानकर उसका परिचय करना चाहिए। सत्श्रुत के परिचय से ज्ञानस्वभावी आत्मा का निर्णय करने के बाद मति-श्रुतज्ञान को उस ज्ञानस्वभाव के सन्मुख करने का प्रयत्न करना चाहिए, निर्विकल्प होने का पुरुषार्थ करना चाहिए, यही सम्यक्त्व का मार्ग है। इसमें तो बारम्बार ज्ञान में एकाग्रता का अभ्यास ही करना है, इसमें बाहर में कुछ करना नहीं आया है परन्तु ज्ञान में ही समझ और एकाग्रता का प्रयत्न करना आया है। ज्ञान में अभ्यास करते-करते जहाँ एकाग्र हुआ, वहाँ उसी समय सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानरूप यह आत्मा प्रगट होता है, यही जन्म-मरण के अभाव का उपाय है।

आत्मा, अकेला ज्ञायकस्वभाव है, उसमें दूसरा कुछ करने का स्वभाव नहीं है। निर्विकल्प अनुभव होने से पूर्व ऐसा निश्चय करना चाहिए; इसके अलावा दूसरा कुछ माने तो उसे व्यवहार से भी आत्मा का निश्चय नहीं है। बाहर में दूसरे लाख उपाय करे, परन्तु ज्ञान नहीं होता, किन्तु ज्ञानस्वभाव की पकड़ से ही ज्ञान होता है। आत्मा की तरफ लक्ष्य और श्रद्धा के बिना सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान हुआ कहाँ से?

पहले देव-शास्त्र-गुरु के सेवन से अनेक प्रकार से श्रुतज्ञान जाने और उन सबमें से एक ज्ञानस्वभावी आत्मा को पहचाने, फिर उसका लक्ष्य करके प्रगट अनुभव करने के लिए मति-श्रुतज्ञान की बाहर झुकती हुई पर्यायों को स्वसन्मुख करने पर तत्काल निर्विकल्प निज स्वभावरस आनन्द का अनुभव होता है। परमात्मस्वरूप का दर्शन जिस समय करता है, उसी समय आत्मा स्वयं सम्यग्दर्शनरूप प्रगट होता है। जिसे आत्मा की प्रतीति आ गयी है, उसे बाद में विकल्प आवें, तब भी जो आत्मदर्शन हो गया है, उसका तो भान है; अर्थात्, आत्मानुभव के बाद विकल्प उत्पन्न पर सम्यग्दर्शन चला नहीं जाता। समयग्दर्शन, वह कोई वेष नहीं है परन्तु स्वानुभवरूप परिणमित आत्मा ही सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है।

सम्यग्दर्शन से ज्ञानस्वभावी आत्मा का अनुभव करने के बाद भी शुभभाव आते अवश्य हैं परन्तु आत्महित तो ज्ञानस्वभाव का अनुभव करने से ही होता है। जैसे-जैसे ज्ञानस्वभाव में एकाग्रता बढ़ती जाती है, वैसे-वैसे शुभाशुभभाव भी मिटते जाते हैं। बहिर्लक्ष्य से होनेवाला समस्त वेदन दुःखरूप है। अन्दर में आत्मा शान्तरस की मूर्ति है, उसके लक्ष्य से होनेवाला वेदन ही सुख है। सम्यग्दर्शन, वह आत्मा का गुण है और गुण कभी गुणी से पृथक् नहीं होता। एक अखण्ड प्रतिभासमय आत्मा का अनुभव ही सम्यग्दर्शन है।

अन्तिम अनुरोध :—

हे भव्य! यह आत्म-कल्याण का छोटे से छोटा; अर्थात्, जो सबसे हो सके - ऐसा उपाय है। दूसरे सब उपाय छोड़कर यही

www.vitragvani.com

करने योग्य है, हित का साधन लेशमात्र भी बाहर में नहीं है। मोक्षार्थी को सत्समागम में एक आत्मा का ही निश्चय करना चाहिए। वास्तविक तत्त्व की श्रद्धा किये बिना अन्तरस्वरूप का वेदन नहीं होता। पहले तो अन्तर से सत् का स्वीकार हुए बिना सत्स्वरूप का ज्ञान नहीं होता और सत्स्वरूप के ज्ञान बिना भव-बन्धन की बेड़ी नहीं टूटती और भव-बन्धन के अन्त बिना जीवन किस काम का? भव के अन्त की श्रद्धा बिना कदाचित् पुण्य करे तो उसका फल राजपद-देवपद हो, परन्तु उसमें आत्मा को क्या है? आत्मा के भान बिना तो वह पुण्य और देवपद इत्यादि सब धूलधानी ही हैं; उनमें आत्म की शान्ति का अंश भी नहीं है। इसलिए पहले श्रुतज्ञान के द्वारा ज्ञानस्वभाव का दृढ़ निश्चय करने पर प्रतीति में भव की शङ्का नहीं रहती और जितनी ज्ञान की दृढ़ता होती है, उतनी शान्ति बढ़ती जाती है।

भाई, प्रभु! तू कैसा है, तेरी प्रभुता की महिमा कैसी है, इसे तूने नहीं जाना है। तू अपनी प्रभुता के भान बिना बाहर में जिस-तिस के गीत गाया करता है, तो उसमें तुझे अपनी प्रभुता का लाभ नहीं है। तूने पर के गीत तो गाये परन्तु अपने गीत नहीं गाये। भगवान की प्रतिमा के सामने कहता है कि 'हे नाथ, हे भगवान! आप अनन्त ज्ञान के स्वामी हो।' वहाँ सामने से वैसी ही प्रतिध्वनि आती है कि 'हे नाथ, हे भगवान! आप अनन्त ज्ञान के स्वामी हो...' तात्पर्य यह है कि जैसा परमात्मा का स्वरूप है, वैसा ही तेरा स्वरूप है, उसे तू पहचान।

शुद्धात्मस्वरूप का वेदन कहो, ज्ञान कहो, श्रद्धा कहो, चारित्र

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com

कहो, अनुभव कहो या साक्षात्कार कहो – जो कहो वह यह एक आत्मा ही है। अधिक क्या कहा जाए, जो कुछ है, वह यह आत्मा ही है। उसे ही भिन्न-भिन्न नाम से कहा जाता है। केवलीपद, सिद्धपद अथवा साधुपद – यह सब एक आत्मा में ही समाहित होते हैं। समाधिमरण, आराधना, मोक्षमार्ग इत्यादि भी शुद्ध आत्मा में ही समाहित होते हैं – ऐसे आत्मस्वरूप की समझ ही सम्यग्दर्शन है और सम्यग्दर्शन ही समस्त धर्मों का मूल है।

(—समयसारजी गाथा, 144 के प्रवचन से)

सम्यग्दर्शन की महानता

यह सम्यग्दर्शन महा रत्न है; सर्वलोक के एक भूषणरूप है अर्थात् सम्यग्दर्शन सर्वलोक में अत्यन्त शोभायमान है और वही मोक्षपर्यन्त सुख देने में समर्थ है। *—ज्ञानार्णव अ० 6 गा० 53*

सम्यग्दर्शन से कर्म का क्षय

जो जीव, मिथ्यात्व को छोड़कर सम्यक्त्व को ध्याता है, वही सम्यग्दृष्टि होता है, और सम्यक्त्वरूपी परिणमन से वह जीव इन दुष्ट अष्ट-कर्मों का क्षय करता है। *—मोक्षपाहुड़ - 87*

सर्व धर्म का मूल है

ज्ञान और चारित्र का बीज सम्यग्दर्शन ही है, यम और प्रशमभावों का जीवन सम्यग्दर्शन ही है, और तप तथा स्वाध्याय का आधार भी सम्यग्दर्शन ही है। इस प्रकार आचार्यों ने कहा है।

—ज्ञानार्णव अ० 6 गा० 54

एकबार भी मिथ्यात्व का त्याग करे तो अवश्य मोक्ष हो जाए

प्रश्न — यह जीव, जैन का नामधारी त्यागी साधु अनन्त बार हुआ, फिर भी इसे अभी तक मोक्ष क्यों नहीं हुआ?

उत्तर — जैन का नामधारी त्यागी साधु अनन्त बार हुआ, यह बात ठीक है, किन्तु अन्तरङ्ग में मिथ्यात्वरूप महापाप का त्याग एकबार भी नहीं किया; इसलिए उसका संसार बना हुआ है, क्योंकि संसार का कारण मिथ्यात्व ही है।

प्रश्न — तो फिर त्यागी साधु हुआ उसका फल क्या?

उत्तर — बाह्य में जो परद्रव्य का त्याग हुआ, उसका फल आत्मा को नहीं होता, परन्तु 'मैं इस परद्रव्य को छोड़ूँ', यह माने तो ऐसी परद्रव्य की कर्तृत्वबुद्धि का महापाप आत्मा को होता है और उसका फल संसार ही है। **यदि कदाचित् कोई जीव बाहर से त्यागी न दिखायी दे, परन्तु यदि उसने सच्ची समझ के द्वारा अन्तरङ्ग में परद्रव्य की कर्तृत्वबुद्धि का अनन्त पाप त्याग दिया हो तो वह धर्मी है और उसके उस त्याग का फल मोक्ष है।** पहले के नामधारी साधु की अपेक्षा, दूसरा मिथ्यात्व का त्यागी अनन्त गुना उत्तम है। पहले को मिथ्यात्व का अत्याग होने से वह संसार में परिभ्रमण करेगा और दूसरे को मिथ्यात्व का त्याग होने से वह अल्प काल में अवश्य मोक्ष जायेगा।

प्रश्न — तब क्या हमें त्याग नहीं करना चाहिए?

उत्तर — इस प्रश्न का उत्तर उपरोक्त कथन में आ गया है। 'त्याग नहीं करना चाहिए' यह बात उपरोक्त कथन में कहीं भी नहीं है, प्रत्युत इस कथन में यह बताया है कि त्याग का फल मोक्ष और अत्याग का फल संसार, किन्तु त्याग किसका? मिथ्यात्व का या परवस्तु का? मिथ्यात्व के ही त्याग का फल मोक्ष है। परवस्तु का ग्रहण अथवा त्याग कोई कर ही नहीं सकता, तब फिर परवस्तु के त्याग का प्रश्न कहाँ से उठ सकता है? बाह्य में जो परद्रव्य का त्याग हुआ, उसका फल आत्मा को नहीं है। पहले यथार्थ ज्ञान के द्वारा परद्रव्य में कर्तृत्व की बुद्धि को छोड़कर, उस समय में ही अनन्त परद्रव्य के स्वामित्व का त्याग होता है। पर में कर्तृत्व की मान्यता का त्याग करने के बाद जिस-जिस प्रकार के रागभाव का त्याग करता है, उस-उस प्रकार के बाह्य निमित्त स्वतः ही दूर हो जाते हैं। बाह्य निमित्तों के दूर हो जाने का फल आत्मा को नहीं मिलता, किन्तु भीतर जो रागभाव का त्याग किया, उस त्याग का फल आत्मा को मिलता है।

इससे स्पष्टतया यह निश्चय होता है कि सर्व प्रथम 'कोई परद्रव्य मेरा नहीं है और मैं किसी परद्रव्य का कर्ता नहीं हूँ' —इस प्रकार दृष्टि में (अभिप्राय में, मान्यता में) सर्व परद्रव्य के स्वामित्व का त्याग हो जाना चाहिए; जब ऐसी दृष्टि होती है, तभी त्याग का प्रारम्भ होता है, अर्थात् सर्व प्रथम मिथ्यात्व का ही त्याग होता है। जब तक ऐसी दृष्टि नहीं होती और मिथ्यात्व का त्याग नहीं होता, तब तक किञ्चित्मात्र भी सच्चा त्याग नहीं होता; और सच्ची दृष्टिपूर्वक मिथ्यात्व का त्याग करने के बाद क्रमशः ज्यों-ज्यों स्वरूप की स्थिरता के द्वारा राग का त्याग करता है, त्यों-त्यों

उसके अनुसार बाह्य संयोग स्वयं छूटते जाते हैं। परद्रव्य में आत्मा का पुरुषार्थ नहीं चलता; इसलिए परद्रव्य का ग्रहण-त्याग आत्मा के नहीं है; किन्तु अपने भाव पर अपना पुरुषार्थ चल सकता है और अपने भाव का ही फल आत्मा को है।

ज्ञानी कहते है कि सर्व प्रथम पुरुषार्थ के द्वारा यथार्थ ज्ञान करके मिथ्यात्व भाव को छोड़ो, यही मोक्ष का कारण है।

आत्मा का अनुभव हो तब....

जब निज आतम अनुभव आवे...
तब ओर कछु न सुहावे.... जब०
रस नीरस हो जात तत्क्षण......
अक्ष-विषय नहीं भावे.... जब०
गोष्ठी कथा कुतूहल विघटे, पुद्गल प्रीति नशावे...
राग-द्वेष जुग चपल पक्षयुत मनपक्षी मर जावे.... जब०
ज्ञानानन्द सुधारस उमगे, घट अंतर न समावे...
'भागचन्द' ऐसे अनुभव को हाथ जोरि शिर नांवे.... जब०

अन्तर्मुख प्रयत्न द्वारा जीव को जब आत्मानुभव होता है, तब उसे दूसरा कुछ नहीं सुहाता; अनुभव रस के समक्ष अन्य सब रस तत्क्षण निरस हो जाते हैं, इन्द्रिय-विषय रुचिकर नहीं होते; हास्य कथा और कौतूहल शमन हो जाते हैं। पुद्गल की प्रीति नष्ट होती है। राग-द्वेषरूप चपल पंखवाला मन पक्षी मर जाता है, अर्थात् मन का आलम्बन छूट जाता है। इस अनुभवदशा में ज्ञान और आनन्दरूपी सुधारस ऐसा उल्लसित होता है कि अन्तर घट में समाता नहीं है – ऐसे आत्म-अनुभव का और अनुभवी सन्त का बहुमान करते हुए कवि भागचन्दजी उन्हें हाथ जोड़कर सिर नवाते हैं।

अपूर्व पुरुषार्थ

जिसने सम्यग्दर्शन प्रगट करने का पूर्व में कभी नहीं किया, ऐसा — अनन्त सम्यक् पुरुषार्थ करके सम्यग्दर्शन प्रगट किया है और इस प्रकार सम्पूर्ण स्वरूप का साधक हुआ है, वह जीव किसी भी संयोग में भय से, लज्जा से, लालच से अथवा किसी भी कारण से असत् को पोषण नहीं देता..... इसके लिए कदाचित् किसी समय देह छूटने तक की भी प्रतिकूलता आ जाए तो भी वह सत् से च्युत नहीं होता; असत् का कभी आदर नहीं करता। स्वरूप के साधक निःशङ्क और निडर होते हैं। सत् स्वरूप की श्रद्धा के बल में और सत् के माहात्म्य के निकट उन्हें किसी प्रकार की प्रतिकूलता है ही नहीं। यदि सत् से किञ्चित्मात्र च्युत हों तो उन्हें प्रतिकूलता आयी कहलाये, परन्तु जो प्रतिक्षण सत् में विशेष-विशेष दृढ़ता कर रहे हैं, उन्हें तो अपने असीम पुरुषार्थ के निकट जगत में कोई भी प्रतिकूलता ही नहीं है। वे तो परिपूर्ण सत् स्वरूप के साथ अभेद हो गये हैं। उन्हें डिगाने के लिये त्रिलोक में कौन समर्थ है? अहो! धन्य है! ऐसे स्वरूप के साधकों को!!

श्रद्धा-ज्ञान और परम चारित्र की भिन्न-भिन्न अपेक्षायें

सम्यग्दर्शन की परम महिमा है। दृष्टि की महिमा बताने के लिये सम्यग्दृष्टि के भोग को भी निर्जरा का कारण कहा है। समयसार, गाथा 193 में कहा है कि सम्यग्दृष्टि जीव, जिन इन्द्रियों के द्वारा चेतन तथा अचेतन द्रव्य का उपभोग करता है, वह सब निर्जरा का निमित्त है और उसी में मोक्ष अधिकार में छट्ठे गुणस्थान में मुनि के जो प्रतिक्रमणादि की शुभवृत्ति उद्भुत होती है, उसे विष कुम्भ कहा है। सम्यग्दृष्टि की अशुभभावना को निर्जरा का कारण और मुनि की शुभभावना को विष कहा है। —इसका समन्वय किस तरह हो सकता है ?

जहाँ सम्यग्दृष्टि के भोग को निर्जरा का कारण कहा है, वहाँ यह कहने का तात्पर्य नहीं है कि भोग अच्छे हैं, किन्तु वहाँ दृष्टि की महिमा बताई है '**अबन्धस्वभाव की दृष्टि का बल, बन्ध को स्वीकार नहीं करता**', उसकी महिमा बताई गयी है, अर्थात् दृष्टि की अपेक्षा से वह बात कही है। जहाँ मुनि की व्रतादि की शुभभावना को विष कहा है, वहाँ चारित्र की अपेक्षा से कथन है। हे मुनि ! तूने शुद्धात्म-चारित्र अङ्गीकार किया है, परम केवलज्ञान की उत्कृष्ट साधकदशा प्राप्त की है और अब जो व्रतादि की वृत्ति उत्पन्न होती है, वह तेरे शुद्धात्म-चारित्र को और केवलज्ञान को रोकनेवाली है; इसलिए वह विष है।

www.vitragvani.com

सम्यग्दृष्टि के स्वभावदृष्टि का जो बल है, वह निर्जरा का कारण है और वह दृष्टि में बन्ध को अपना स्वरूप नहीं मानता, स्वयं राग का कर्ता नहीं होता; इसलिए उसे अबन्ध कहा है, परन्तु चारित्र की अपेक्षा से तो उसके बन्धन है। यदि भोग से निर्जरा होती हो तो अधिक से अधिक भोग निर्जरा होनी चाहिए; किन्तु ऐसा तो नहीं होता। सम्यग्दृष्टि के जो रागवृत्ति उत्पन्न होती है, उसे दृष्टि की अपेक्षा से वह अपनी नहीं मानता। ज्ञान की अपेक्षा से वह यह जानता है कि 'अपने पुरुषार्थ की अशक्ति के कारण राग होता है' और चारित्र की अपेक्षा से उस राग को विष मानता है, दुःख-दुःख मालूम होता है। इस प्रकार दर्शन-ज्ञान और चारित्र में से जब दर्शन की मुख्यता से बात चल रही हो, तब सम्यग्दृष्टि के भोग को भी निर्जरा का कारण कहा जाता है। स्वभावदृष्टि के बल से प्रति-समय उसकी पर्याय निर्मल होती जाती है, अर्थात् वह प्रतिक्षण मुक्त ही होता जाता है। जो राग होता है, उसे जानता तो है, किन्तु स्वभाव में उसे अस्तिरूप नहीं मानता और इस मान्यता के बल पर ही राग का सर्वथा अभाव करता है; इसलिए सच्ची दृष्टि की अपार महिमा है।

सच्ची श्रद्धा होने पर भी जो राग होता है, वह राग, चारित्र को हानि पहुँचाता है, परन्तु सच्ची श्रद्धा को हानि नहीं करता; इसलिए श्रद्धा की अपेक्षा से तो सम्यग्दृष्टि के जो राग होता है, वह बन्ध का कारण नहीं, किन्तु निर्जरा का ही कारण है — ऐसा कहा जाता है, किन्तु श्रद्धा के साथ चारित्र की अपेक्षा को भूल नहीं जाना चाहिए।

जब चारित्र की अपेक्षा से छठे गुणस्थानवर्ती मुनि की शुभवृत्ति को भी विष कहा है, तब फिर सम्यग्दृष्टि के भोग के अशुभभाव

www.vitragvani.com

की तो बात ही क्या है ? अहो ! परम शुद्धस्वभाव के भान में मुनि की शुभवृत्ति को भी जो विष मानता है, वह अशुभभाव को कैसे भला मान सकता है ? जो स्वभाव के भान में, शुभवृत्ति को भी विष मानता है, वह जीव, स्वभाव के बल से शुभवृत्ति को तोड़कर पूर्ण शुद्धता प्रगट करेगा, परन्तु वह अशुभ को तो कदापि आदरणीय नहीं मानेगा।

सम्यग्दृष्टि जीव, श्रद्धा की अपेक्षा से तो अपने को सम्पूर्ण परमात्मा ही मानते हैं, तथापि चारित्र की अपेक्षाा से अपूर्ण पर्याय होने से तृणतुल्य मानने हैं, अर्थात् वह यह जानकर कि अभी अनन्त अपूर्णता विद्यमान है, स्वभाव की स्थिरता के प्रयत्न से उसे टालना चाहता है। ज्ञान की अपेक्षा से जितना राग है, उसका सम्यग्दृष्टि ज्ञाता है, किन्तु राग को निर्जरा अथवा मोक्ष का कारण नहीं मानता और ज्यों-ज्यों पर्याय की शुद्धता बढ़ाने पर, राग दूर होता जाता है, त्यो-त्यों उसका ज्ञान करता है। इस प्रकार श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र -इन तीनों की अपेक्षा से इस स्वरूप को समझना चाहिए।

अमृत पान करो!

श्री आचार्यदेव कहते हैं कि हे भव्य जीवों! तुम इस सम्यग्दर्शनरूपी अमृत को पियो! यह सम्यग्दर्शन अनुपम सुख का भण्डार है — सर्व कल्याण का बीज है और संसार समुद्र से पार उतरने के लिए जहाज है; एकमात्र भव्य जीव ही उसे प्राप्त कर सकते हैं। पापरूपी वृक्ष को काटने के लिए यह कुल्हाड़ी के समान है। पवित्र तीर्थों में यही एक पवित्र तीर्थ है और मिथ्यात्व का नाशक है।

—ज्ञानाणर्व अ० 6 श्लोक 59

सम्यग्दर्शन-धर्म

सम्यग्दर्शन क्या है और उसका अवलम्बन क्या है ?

सम्यग्दर्शन अपने आत्मा के श्रद्धागुण की निर्विकारी पर्याय है। अखण्ड आत्मा के लक्ष्य से सम्यग्दर्शन प्रगट होता है। सम्यग्दर्शन को किसी विकल्प का अवलम्बन नहीं है, किन्तु निर्विकल्प स्वभाव के अवलम्बन से सम्यग्दर्शन प्रगट होता है। यह सम्यग्दर्शन ही आत्मा के सर्व सुख का कारण है। 'मैं ज्ञानस्वरूप आत्मा हूँ, बन्धरहित हूँ' —ऐसा विकल्प करना सो, वह भी शुभराग है, उस शुभराग का अवलम्बन भी सम्यग्दर्शन के नहीं है। उस शुभविकल्प को उल्लंघन करने पर सम्यग्दर्शन प्रगट होता है। सम्यग्दर्शन स्वयं राग और विकल्परहित निर्मल गुण है, उसे किसी विकार का अवलम्बन नहीं है, किन्तु समूचे आत्मा का अवलम्बन है, वह समूचे आत्मा को स्वीकार करता है।

एक बार विकल्परहित होकर अखण्ड ज्ञायकस्वभाव को लक्ष्य में लिया कि सम्यक् प्रतीति हुई। अखण्ड स्वभाव का लक्ष्य ही स्वरूप की सिद्धि के लिये कार्यकारी है। अखण्ड सत्यस्वरूप को जाने बिना, श्रद्धा किये बिना 'मैं ज्ञानस्वरूप आत्मा हूँ, अबद्ध हूँ' इत्यादि विकल्प भी स्वरूप की शुद्धि के लिये कार्यकारी नहीं हैं। एक बार अखण्ड ज्ञायकस्वभाव का लक्ष्य करने के बाद जो वृत्तियाँ उठती हैं, वे वृत्तियाँ अस्थिरता का कार्य करती हैं, परन्तु वे स्वरूप को रोकने के लिये समर्थ नहीं हैं, क्योंकि श्रद्धा में तो वृत्ति

-विकल्परहित स्वरूप है; इसलिए जो वृत्ति उठती है, वह श्रद्धा को नहीं बदल सकती है।

जो विकल्प में ही अटक जाता है, वह मिथ्यादृष्टि है। विकल्परहित होकर अभेद का अनुभव करना, वह सम्यग्दर्शन है और यही समययार है। यही बात निम्नलिखित गाथा में कही है -

कम्मं बद्धमबद्धं जीवे एवं तु जाण णय पक्खं।
पक्खातिक्वंतो पुण भण्णदि जो सो समयसारो॥
॥ 42 ॥ समयसार

'आत्मा कर्म से बद्ध है या अबद्ध' — इस प्रकार दो भेदों के विचार में लगना, वह नय का पक्ष है। 'मैं आत्मा हूँ, पर से भिन्न हूँ;' इस प्रकार का विकल्प भी राग है। इस राग की वृत्ति को — 'नय के पक्ष को' —उल्लंघन करे तो सम्यग्दर्शन प्रगट हो।

'मैं बँधा हुआ हूँ अथवा मैं बन्धरहित मुक्त हूँ' इस प्रकार की विचारश्रेणी को उल्लंघन करके, जो आत्मा का अनुभव करता है, वह सो सम्यग्दृष्टि है और वही समयसार अर्थात् शुद्धात्मा है। मैं अबन्ध हूँ; बन्ध मेरा स्वरूप नहीं है; इस प्रकार के भङ्ग की विचारश्रेणी के कार्य में जो लगता है, वह अज्ञानी है और उस भङ्ग के विचार को उल्लंघन करके अभङ्गस्वरूप को स्पर्श करना (अनुभव करना), वह प्रथम आत्मधर्म, अर्थात् सम्यग्दर्शन है। मैं पराश्रयरहित अबन्ध, शुद्ध हूँ —ऐसे निश्चयनय के पक्ष का जो विकल्प है, वह राग है और उस राग में जो अटक जाता है, (राग को ही सम्यग्दर्शन मान लें; किन्तु रागरहित स्वरूप का अनुभव न करे), वह मिथ्यादृष्टि है।

भेद का विकल्प उठता है, तथापि उससे सम्यग्दर्शन नहीं होता

अनादि काल से आत्मस्वरूप का अनुभव नहीं है, परिचय नहीं है; इसलिए आत्मानुभव करने से पूर्व तत्सम्बन्धी विकल्प उठे बिना नहीं रहते। अनादि काल से आत्मा का अनुभव नहीं है; इसलिए वृत्तियों का उत्थान होता है कि – मैं आत्मा, कर्म के सम्बन्ध से युक्त हूँ अथवा कर्म के सम्बन्ध से रहित हूँ; इस प्रकार दो नयों के दो विकल्प उठते हैं, परन्तु 'कर्म के सम्बन्ध से युक्त हूँ अथवा कर्म के सम्बन्ध से रहित हूँ, अर्थात् बद्ध हूँ या अबद्ध हूँ' —ऐसे दो प्रकार के भेद का भी एकस्वरूप में कहाँ अवकाश है? स्वरूप तो नयपक्ष की अपेक्षाओं से परे हैं। एक प्रकार के स्वरूप में दो प्रकार की अपेक्षायें नहीं हैं। मैं शुभाशुभभाव से रहित हूँ; इस प्रकार के विचार में लगना भी एक पक्ष है, इससे भी उस पार स्वरूप है। **स्वरूप तो पक्षतिक्रान्त है, यही सम्यग्दर्शन का विषय है, अर्थात् उसी के लक्ष्य से सम्यग्दर्शन प्रगट होता है। इसके अतिरिक्त सम्यग्दर्शन का दूसरा कोई उपाय नहीं है।**

सम्यग्दर्शन का स्वरूप क्या है? देह की किसी क्रिया से सम्यग्दर्शन नहीं होता; जड़कर्मों से नहीं होता; अशुभराग अथवा शुभराग के लक्ष्य से भी सम्यग्दर्शन नहीं होता और 'मैं पुण्य-पाप के परिणामों से रहित ज्ञायकस्वरूप हूँ'— ऐसा विचार भी स्वरूप का अनुभव कराने के लिये समर्थ नहीं है। 'मैं ज्ञायक हूँ', इस प्रकार के विचार में जो अटका, सो वह भेद के विचार में अटक गया, किन्तु स्वरूप तो ज्ञाता-दृष्टा है, उसका अनुभव ही सम्यग्दर्शन है; भेद के विचार में अटक जाना, सम्यग्दर्शन का स्वरूप नहीं है।

जो वस्तु है, वह अपने आप परिपूर्ण स्वभाव से भरी हुई है। आत्मा का स्वभाव पर की अपेक्षा से रहित एकरूप है। कर्मों के सम्बन्ध से युक्त हूँ अथवा कर्मों के सम्बन्ध से रहित हूँ, इस प्रकार की अपेक्षाओं से उस स्वभाव का लक्ष्य नहीं होता। यद्यपि आत्मस्वभाव तो अबन्ध ही है, परन्तु 'मैं अबन्ध हूँ' इस प्रकार के विकल्प को भी छोड़कर, निर्विकल्प ज्ञाता-दृष्टा निरपेक्ष स्वभाव का लक्ष्य करते ही सम्यग्दर्शन प्रगट होता है।

हे प्रभु ! तेरी प्रभुता की महिमा अन्तरङ्ग में परिपूर्ण है। अनादि काल से उसकी सम्यक् प्रतीति के बिना उसका अनुभव नहीं होता। अनादि काल से पर-लक्ष्य किया है, किन्तु स्वभाव का लक्ष्य नहीं किया है। शरीरादि में तेरा सुख नहीं है, शुभराग में तेरा सुख नहीं है और 'शुभरागरहित मेरा स्वरूप है', इस प्रकार के भेदविचार में भी तेरा सुख नहीं है; इसलिए उस भेद के विचार में अटक जाना भी अज्ञानी का कार्य है और उस नयपक्ष के भेद का लक्ष्य छोड़कर अभेद ज्ञातास्वभाव का लक्ष्य करना, वह सम्यग्दर्शन है और उसी में सुख है। अभेदस्वभाव का लक्ष्य कहो, ज्ञातास्वरूप का अनुभव कहो, सुख कहो, धर्म कहो अथवा सम्यग्दर्शन कहो —वह सब यही है।

विकल्प रखकर स्वरूप का अनुभव नहीं हो सकता। अखण्डानन्द अभेद आत्मा का लक्ष्य, नय के द्वारा नहीं होता। कोई किसी महल में जाने के लिए चाहे जितनी तेजी से मोटर दौड़ाये, किन्तु वह महल के दरवाजे तक ही जा सकती है, मोटर के साथ महल के अन्दर कमरे में नहीं घुसा जा सकता। मोटर चाहे जहाँ तक भीतर ले जाए; किन्तु अन्त में तो मोटर से उतरकर स्वयं ही

भीतर जाना पड़ता है; इसी प्रकार नयपक्ष के विकल्पों वाली मोटर चाहे जितनी दौड़ाये —'मैं ज्ञायक हूँ, अभेद हूँ, शुद्ध हूँ' —ऐसे विकल्प करे तो भी स्वरूप के आँगन तक ही जाया जा सकता है, किन्तु स्वरूपानुभव करते समय तो वे सब विकल्प छोड़ देने ही पड़ते हैं। विकल्प रखकर स्वरूपानुभव नहीं हो सकता। नयपक्ष का ज्ञान उस स्वरूप के आँगन में आने के लिये आवययक है।

'मैं स्वाधीन ज्ञानस्वरूपी आत्मा हूँ, कर्म जड़ हैं, जड़कर्म मेरे स्वरूप को नहीं रोक सकते, मैं विकार करूँ तो कर्मों को निमित्त कहा जा सकता है; किन्तु कर्म मुझे विकार नहीं कराते, क्योंकि दोनों द्रव्य भिन्न हैं; वे कोई एक-दूसरे का कुछ नहीं करते, मैं जड़ का कुछ नहीं करता और जड़ मेरा कुछ नहीं करता, जो राग-द्वेष होता है, उसे कर्म नहीं कराता तथा वह परवस्तु में नहीं होता, किन्तु मेरी अवस्था में होता है। वह राग-द्वेष मेरा स्वभाव नहीं है।

निश्चय से मेरा स्वभाव, रागरहित ज्ञानस्वरूप है,' इस प्रकार सभी पहलुओं का (नयों का) ज्ञान पहले करना चाहिए, किन्तु जब तक इतना करता है, तब तक भी भेद का लक्ष्य है। भेद के लक्ष्य से अभेद आत्मस्वरूप का अनुभव नहीं हो सकता, तथापि पहले उन भेदों को जानना चाहिए, जब इतना जान ले, तब समझना चाहिए कि वह स्वरूप के आँगन तक आया है। बाद में जब अभेद का लक्ष्य करता है, तब भेद का लक्ष्य छूट जाता है और स्वरूप का अनुभव होता है, अर्थात् अपूर्व सम्यग्दर्शन प्रगट होता है। **इस प्रकार यद्यपि स्वरूपोन्मुख होने से पूर्व नयपक्ष के विचार होते तो हैं, परन्तु वे नयपक्ष के कोई भी विचार स्वरूपानुभव में सहायक तक नहीं होते।**

www.vitragvani.com

सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान का सम्बन्ध किसके साथ है ? :—

सम्यग्दर्शन निर्विकल्प सामान्य गुण है, उसका मात्र निश्चय, अखण्ड स्वभाव के साथ ही सम्बन्ध है, अखण्ड द्रव्य जो भङ्ग-भेद रहित है, वही सम्यग्दर्शन को मान्य है। सम्यग्दर्शन, पर्याय को स्वीकार नहीं करता, किन्तु सम्यग्दर्शन के साथ जो सम्यग्ज्ञान रहता है, उसका सम्बन्ध निश्चय-व्यवहार दोनों के साथ है, अर्थात् निश्चय-अखण्ड स्वभाव को तथा व्यवहार में पर्याय के जो भङ्ग-भेद होते हैं, उन सबको सम्यग्ज्ञान जान लेता है।

सम्यग्दर्शन एक निर्मल पर्याय है, किन्तु सम्यग्दर्शन स्वयं अपने को यह नहीं जानता कि मैं एक निर्मल पर्याय हूँ। सम्यग्दर्शन का एक ही विषय अखण्ड द्रव्य है; पर्याय, सम्यग्दर्शन का विषय नहीं है।

प्रश्न — सम्यग्दर्शन का विषय अखण्ड है और वह पर्याय को स्वीकार नहीं करता, तब फिर सम्यग्दर्शन के समय पर्याय कहाँ चली गयी ? सम्यग्दर्शन स्वयं पर्याय है, क्या पर्याय द्रव्य से भिन्न हो गई ?

उत्तर — सम्यग्दर्शन का विषय तो अखण्ड द्रव्य ही है। सम्यग्दर्शन के विषय में द्रव्य-गुण-पर्याय का भेद नहीं है। द्रव्य-गुण-पर्याय से अभिन्न वस्तु ही सम्यग्दर्शन को मान्य है (अभेद वस्तु का लक्ष्य करने पर जो निर्मलपर्याय प्रगट होती है, वह सामान्य वस्तु के साथ अभेद हो जाती है।) सम्यग्दर्शनरूप जो पर्याय है, उसे भी सम्यग्दर्शन स्वीकार नहीं करता। एक समय में

अभेद परिपूर्ण द्रव्य ही सम्यग्दर्शन को मान्य है; मात्र आत्मा को सम्यग्दर्शन तो प्रतीति में लेता है, किन्तु सम्यग्दर्शन के साथ प्रगट होनेवाला सम्यग्ज्ञान, सामान्य-विशेष सबको जानता है। सम्यग्ज्ञान, पर्याय को और निमित्त को भी जानता है, सम्यग्दर्शन को भी जाननेवाला सम्यग्ज्ञान ही है।

श्रद्धा और ज्ञान कब सम्यक् हुए ? :—

उदय, उपशम, क्षयोपशम अथवा क्षायिकभाव इत्यादि कोई भी सम्यग्दर्शन का विषय नहीं हैं, क्योंकि वे सब पर्यायें हैं। सम्यग्दर्शन का विषय परिपूर्ण द्रव्य है। पर्याय को सम्यग्दर्शन स्वीकार नहीं करता, मात्र वस्तु का जब लक्ष्य किया, तब श्रद्धा सम्यक् हुई, परन्तु ज्ञान सम्यक् कब हुआ? ज्ञान का स्वभाव सामान्य -विशेष सबको जानना है, जब ज्ञान ने सारे द्रव्य को, प्रगट पर्याय को और विकार को तदवस्थ (यथार्थ) जानकर इस प्रकार का विवेक किया कि 'जो परिपूर्ण स्वभाव है, सो मैं हूँ और जो विकार है, सो मैं नहीं हूँ', तब वह सम्यक् हुआ। सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शनरूप प्रगट पर्याय को, सम्यग्दर्शन की विषयभूत परिपूर्ण वस्तु को तथा अवस्था की कमी को यथार्थ जानता है।

ज्ञान में अवस्था की स्वीकृति है। इस प्रकार सम्यग्दर्शन तो एक निश्चय को ही (अभेदस्वरूप को ही) स्वीकार करता है और सम्यग्दर्शन का अविनाभावी (साथ ही रहनेवाला) सम्यग्ज्ञान, निश्चय और व्यवहार दोनों को बराबर जानकर विवेक करता है। यदि निश्चय-व्यवहार दोनों को न जाने तो ज्ञान प्रमाण (सम्यक्) नहीं हो सकता। यदि व्यवहार का लक्ष्य करे तो दृष्टि खोटी

(विपरीत) ठहरती है और जो व्यवहार को जाने ही नहीं तो ज्ञान मिथ्या ठहरता है। ज्ञान, निश्चय-व्यवहार का विवेक करता है; इसलिए वह सम्यक् है (समीचीन है) और दृष्टि, व्यवहार के लक्ष्य को छोड़कर निश्चय को स्वीकार करे तो सम्यक् है।

सम्यग्दर्शन का विषय क्या है ? और मोक्ष का परमार्थ कारण कौन है ? :—

सम्यग्दर्शन के विषय में मोक्षपर्याय और द्रव्य से भेद ही नहीं है, द्रव्य ही परिपूर्ण है, वह सम्यग्दर्शन को मान्य है। बन्ध-मोक्ष भी सम्यग्दर्शन को मान्य नहीं। बन्ध-मोक्ष की पर्याय, साधकदशा का भङ्गभेद-इन सभी को सम्यग्ज्ञान जानता है।

सम्यग्दर्शन का विषय परिपूर्ण द्रव्य है, वही मोक्ष का परमार्थ कारण है। पञ्च महाव्रतादि को अथवा विकल्प को मोक्ष का कारण कहना, सो स्थूल व्यवहार है और सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप साधक अवस्था को मोक्ष का कारण कहना भी व्यवहार है, क्योंकि उस साधक अवस्था का भी जब अभाव होता है, तब मोक्षदशा प्रगट होती है, अर्थात् वह अभावरूप कारण है; इसलिए व्यवहार है।

त्रिकाल अखण्ड वस्तु ही निश्चय मोक्ष का कारण है, किन्तु परमार्थतः तो वस्तु में कारण-कार्य का भेद भी नहीं है; कार्य-कारण का भेद भी व्यवहार है। एक अखण्ड वस्तु में कार्य-कारण के भेद के विचार से विकल्प होता है; इसलिए वह भी व्यवहार है, तथापि व्यवहार से भी कार्य-कारण भेद है अवश्य। यदि-कार्य-कारण भेद सर्वथा न हो तो मोक्षदशा को प्रगट करने के लिए भी नहीं कहा जा सकता। इसलिए अवस्था में साधक-साध्य का भेद

है, परन्तु अभेद के लक्ष्य के समय व्यवहार का लक्ष्य नहीं होता, क्योंकि व्यवहार के लक्ष्य में भेद होता है और भेद के लक्ष्य में परमार्थ-अभेद स्वरूप लक्ष्य में नहीं आता; इसलिए सम्यग्दर्शन के लक्ष्य में भेद नहीं होता है, एकरूप अभेद वस्तु ही सम्यग्दर्शन का विषय है।

सम्यग्दर्शन ही शान्ति का उपाय है। :—

अनादि से आत्मा के अखण्डरस को सम्यग्दर्शनपूर्वक नहीं जाना; इसलिए पर में और विकल्प में जीव, रस को मान रहा है, परन्तु मैं अखण्ड एकरूप स्वभाव हूँ, उसी में मेरा रस है। पर में कहीं भी मेरा रस नहीं है; इस प्रकार स्वभावदृष्टि के बल से एकबार सबको नीरस बना दे। जो शुभ विकल्प उठते हैं, वे भी मेरी शान्ति के साधक नहीं हैं। मेरी शान्ति मेरे स्वरूप में है; इस प्रकार स्वरूप के रसानुभव में समस्त संसार को नीरस बना दे तो ही तुझे सहजानन्द स्वरूप के अमृतरस की अपूर्व शान्ति का अनुभव प्रगट होगा, उसका उपाय सम्यग्दर्शन ही है।

सम्यग्दर्शन से ही संसार का अभाव :—

अनन्त काल से अनन्त जीव संसार में परिभ्रमण कर रहे हैं और अनन्त काल में अनन्त जीव सम्यग्दर्शन के द्वारा पूर्ण स्वरूप की प्रतीति करके मुक्ति को प्राप्त हुए हैं। इस जीव ने संसार-पक्ष तो (व्यवहार का पक्ष) अनादि से ग्रहण किया है, परन्तु सिद्धपरमात्मा का पक्ष कभी ग्रहण नहीं किया। अब अपूर्व रुचि से निःसन्देह बनकर सिद्ध का पक्ष करके, अपने निश्चय (शाश्वत) सिद्धस्वरूप को जानकर, संसार के अभाव करने का अवसर आया है और उसका उपाय एकमात्र सम्यग्दर्शन ही है।

हे जीवों! मिथ्यात्व के महापाप को छोड़ो...!

'मिथ्यात्व के समान अन्य कोई पाप नहीं है, मिथ्यात्व का सद्भाव रहते हुए, अन्य अनेक उपाय करने पर भी मोक्ष नहीं होता, इसलिए प्रत्येक उपायों के द्वारा सब तरह से इस मिथ्यात्व का नाश करना चाहिए।'

(—मोक्षमार्गप्रकाशक, अध्याय 7 पृष्ठ-270)

'यह जीव अनादि काल से मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप परिणमन कर रहा है और इसी परिणमन के द्वारा संसार में अनेक प्रकार के दु:ख उत्पन्न करनेवाले कर्मों का सम्बन्ध होता है। यही भाव सर्वदु:खों का बीज है, अन्य कोई नहीं; इसलिए हे भव्य जीवो! यदि तुम दु:खों से मुक्त होना चाहते हो तो सम्यग्दर्शनादि के द्वारा मिथ्यादर्शनादिक विभावों का अभाव करना ही अपना कार्य है। इस कार्य को करने से, तुम्हारा परम कल्याण होगा'।

(—मोक्षमार्गप्रकाशक अध्याय 4 पृष्ठ-98)

इस मोक्षमार्ग प्रकाशक में अनेक प्रकार से मिथ्यादृष्टियों के स्वरूप-निरुपण करने का हेतु यह है कि मिथ्यात्व के स्वरूप को समझकर, यदि अपने में वह महान दोष हो तो उसे दूर किया जाए। स्वयं अपने दोषों को दूर करके सम्यक्त्व ग्रहण किया जाए। यदि अन्य जीव में वह दोष हो तो उसे देखकर उन जीवों पर कषाय नहीं करना चाहिए।

www.vitragvani.com

दूसरे के प्रति कषाय करने के लिए यह नहीं कहा गया है। हाँ! यह सच है कि यदि दूसरों में मिथ्यात्वादिक दोष हों तो उनका आदर-विनय न किया जाए, किन्तु उन पर द्वेष करने को भी नहीं कहा है। यदि अपने में मिथ्यात्व हो तो उसका नाश करने के लिये ही यहाँ पर मिथ्यात्व का स्वरूप बताया गया है, क्योंकि अनन्त जन्म-मरण का मूलकारण मिथ्यात्व ही है। क्रोध, मान, माया, लोभ अथवा हिंसा, झूठ, चोरी इत्यादि कोई भी अनन्त संसार का कारण नहीं है; इसलिए वास्तव में वे महापाप नहीं है; किन्तु विपरीत मान्यता ही अनन्त अवतारों के प्रगट होने की जड़ है, इसलिए वही महापाप है, उसी में समस्त पाप समा जाते हैं। जगत में मिथ्यात्व के समान अन्य कोई पाप नहीं है; विपरीत मान्यता में अपने स्वभाव की अनन्त हिंसा है। कुदेवादि को मानने में तो गृहीतमिथ्यात्व का अत्यन्त स्थूल महापाप है।

कोई लड़ाई में करोड़ों मनुष्यों के संहार करने के लिये खड़ा हो, उसके पाप की अपेक्षा एक क्षण के मिथ्यात्व-सेवन का पाप अनन्तगुणा अधिक है। सम्यक्त्वी लड़ाई में खड़ा हो, तथापि उसके मिथ्यात्व का सेवन नहीं है; इसलिए उस समय भी उसके अनन्त संसार के कारणरूप बन्धन का अभाव ही है। सम्यग्दर्शन के होते ही 41 प्रकार के कर्मों का तो बन्ध होता ही नहीं है। मिथ्यात्व का सेवन करनेवाला महापापी है।

जो मिथ्यात्व का सेवन करता है और शरीरादि की क्रिया को अपने आधीन मानता है, वह जीव, त्यागी होकर भी यदि कोमल पीछी से परजीव का यतन कर रहा है तो भी उस समय भी अनन्त संसार का बन्ध ही होता है और उसके समस्त प्रकृतियाँ बँधती हैं

और शरीर की कोई क्रिया अथवा एक विकल्प भी मेरा स्वरूप नहीं है, मैं उसका कर्ता नहीं हूँ; इस प्रकार की प्रतीति के द्वारा जिसने मिथ्यात्व का नाश करके सम्यग्दर्शन प्रगट कर लिया है, वह जीव लड़ाई में हो अथवा विषय-सेवन कर रहा हो, तथापि उस समय उसके संसार की वृद्धि नहीं होती और 41 प्रकृतियों के बन्ध का अभाव ही है। इस जगत् में मिथ्यात्वरूपी विपरीत मान्यता के समान दूसरा कोई पाप नहीं है।

आत्मा का भान करके से अपूर्व सम्यग्दर्शन प्रगट होता है। इस सम्यग्दर्शन से युक्त जीव, लड़ाई में होने पर भी अल्प पाप का बन्ध करता है और वह पाप उसके संसार की वृद्धि नहीं कर सकता, क्योंकि उसके मिथ्यात्व का अनन्त पाप दूर हो गया है और आत्मा के अभान में मिथ्यादृष्टि जीव, पुण्यादि की क्रिया को अपना स्वरूप मानता है, तब वह भले ही परजीव का यतन कर रहा हो, तथापि उस समय उसे लड़ाई-लड़ते हुए और विषय-भोग करते हुए सम्यग्दृष्टि जीव की अपेक्षा अनन्तगुणा पाप मिथ्यात्व का है। मिथ्यात्व का ऐसा महान पाप है। सम्यग्दृष्टि जीव अल्प काल में ही मोक्षदशा को प्राप्त कर लेगा- ऐसा महान धर्म सम्यग्दर्शन में है।

जगत् के जीव, सम्यग्दर्शन और मिथ्यादर्शन के स्वरूप को ही नहीं समझे हैं। वे पाप का माप बाहर के संयोगों से निकालते हैं, किन्तु वास्तविक पाप—त्रिकाल महापाप—तो एक समय के विपरीत अभिप्राय में है। उस मिथ्यात्व का पाप जगत् के ध्यान में ही आता। अपूर्व आत्मप्रतीति के प्रगट होने पर, अनन्त संसार का अभाव हो जाता है तथा अभिप्राय में सर्व पाप दूर हो जाते हैं। यह सम्यग्दर्शन क्या वस्तु है, इसे जगत् के जीवों ने सुना तक नहीं है।

मिथ्यात्वरूपी महान पाप के रहते हुए, अनन्त व्रत करे, तप करे, देवदर्शन, भक्ति, पूजा-इत्यादि सबकुछ करे और देशसेवा के भाव करे, तथापि उसका संसार किञ्चित्मात्र भी दूर नहीं होता। एक सम्यग्दर्शन (आत्मस्वरूप की सच्ची पहिचान) के उपाय के अतिरिक्त अन्य जो अनन्त उपाय हैं, वे सब उपाय करने पर भी, मिथ्यात्व को दूर किए बिना धर्म का अंश भी प्रगट नहीं होता और एक भी जन्म-मरण दूर नहीं होता; इसलिए यथार्थ तत्त्वविचाररूप उपाय के द्वारा सर्व प्रथम मिथ्यात्व का नाश करके, शीघ्र ही सम्यक्त्व को प्राप्त कर लेना आवश्यक है। सम्यक्त्व का उपाय ही सर्व प्रथम कर्त्तव्य है।

यह विशेष ध्यान में रखना चाहिए कि कोई भी शुभभाव की क्रिया अथवा व्रत, तप, इत्यादि सम्यक्त्व को प्रगट करने का उपाय नहीं है, किन्तु अपने आत्मस्वरूप का ज्ञान और अपने आत्मा की रुचि तथा लक्ष्यपूर्वक सत्समागम ही उसका उपाय है; दूसरा कोई उपाय नहीं है। 'मैं पर का कुछ कर सकता हूँ और पर मेरा कर सकता है तथा पुण्य के करते-करते धर्म होता है; इस प्रकार की मिथ्यात्व की विपरीतमान्यता में एक क्षणभर में अनन्त हिंसा है, अनन्त असत्य है, अनन्त चोरी है, अनन्त अब्रह्मचर्य (व्यभिचार) है और अनन्त परिग्रह है। एक मिथ्यात्व में एक ही साथ जगत् के अनन्त पापों का सेवन है।'

1. मैं परद्रव्य का कुछ कर सकता हूँ —इसका अर्थ यह है कि जगत् में जो अनन्त परद्रव्य हैं, उन सबको पराधीन माना है; और पर को मेरा कुछ कर सकता है। —इसका अर्थ यह है कि स्वभाव को पराधीन माना है। इस मान्यता में जगत् के अनन्त पदार्थों की

www.vitragvani.com

और अपने अनन्त स्वभाव की स्वाधीनता की हत्या की गयी है; इसलिए उसमें अनन्त हिंसा का महान पाप होता है।

2. जगत् के समस्त पदार्थ स्वाधीन हैं, उसकी जगह उन सबको पराधीन—विपरीतस्वरूप माना तथा जो अपना स्वरूप नहीं है, उसे अपना स्वरूप माना, इस मान्यता में अनन्त असत् (असत्य) सेवन का महापाप है।

3. पुण्य का विकल्प अथवा किसी भी परवस्तु को जिसने अपना माना है, उसने त्रिकाल की परवस्तुओं और विकारभाव को अपना स्वरूप मानकर अनन्त चोरी का महापाप किया है।

4. एक द्रव्य दूसरे का कुछ कर सकता है, ऐसा माननेवाले ने स्वद्रव्य—परद्रव्य को भिन्न न रखकर, उन दोनों के बीच व्यभिचार करके दोनों में एकत्व माना है और ऐसे अनन्त परद्रव्यों के साथ एकतारूप व्यभिचार किया है, यही अनन्त मैथुनसेवन का महापाप है।

5. एक रजकण भी अपना नहीं है, ऐसा होने पर भी, जीव, 'मैं उसका कुछ कर सकता हूँ', इस प्रकार मानता है, वह परद्रव्य को अपना मानता है। जो जगत् के परपदार्थ हैं, उन्हें अपना मानता है; इसलिए इस मान्यता में अनन्त परिग्रह का महापाप है।

इस प्रकार जगत् के सर्व महापाप एक मिथ्यात्व में ही समाविष्ट हो जाते हैं; इसलिए जगत् का सबसे महापाप मिथ्यात्व ही है और सम्यग्दर्शन के होने पर, ऊपर के समस्त महापापों का अभाव हो जाता है; इसलिए जगत् का सर्व प्रथम धर्म सम्यक्त्व ही है; अत: हे जीवो! यदि तुम महापाप से बचना चाहते हो तो मिथ्यात्व को छोड़ो और सम्यक्त्व को प्रगट करो!...

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

दर्शनाचार और चारित्राचार

वस्तु और सत्ता में कथंचित् अन्यत्व है; सम्पूर्ण वस्तु एक ही गुण के बराबर नहीं है तथा एक गुण सम्पूर्ण वस्तुरूप नहीं है। वस्तु में कथंचित् गुण-गुणी भेद है; इसलिए वस्तु का प्रत्येक गुण स्वतन्त्र हैं। श्रद्धा और चारित्रगुण भिन्न-भिन्न हैं। चारित्रगुण में कषाय मन्द होने से श्रद्धागुण में कोई लाभ होता हो, बात नहीं है क्योंकि श्रद्धागुण और चारित्रगुण में अन्यत्व—भेद है। कषाय की मन्दता करना, सो चारित्रगुण की विकारी क्रिया है। श्रद्धा और चारित्रगुण में अन्यत्वभेद है, इसलिए चारित्र के विकार की मन्दता, सम्यक्श्रद्धा का उपाय नहीं, किन्तु **परिपूर्ण द्रव्यस्वभाव की रुचि करना ही श्रद्धा का कारण है।**

श्रद्धागुण के सुधर जाने पर भी चारित्रगुण नहीं सुधर जाता, क्योंकि श्रद्धा और चारित्रगुण भिन्न हैं। राग के कम होने से अथवा चारित्रगुण के आचार से जो जीव, सम्यक्श्रद्धा का माप करना चाहते हैं, वे मिथ्यादृष्टि हैं, उन्हें वस्तुस्वरूप के गुण-भेद की खबर नहीं है, क्योंकि सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र के आचार भिन्न-भिन्न हैं।

बहुत कषाय के होने पर भी सम्यग्दर्शन हो सकता है और एक भवावतारी हो सकता है तथा अत्यन्त मन्दकषाय होने पर भी यह हो सकता है कि सम्यग्दर्शन न हो और अनन्त संसारी हो। अज्ञानी जीव, चारित्र के विकार को मन्द करता है, किन्तु उसे श्रद्धा के

www.vitragvani.com

स्वरूप की खबर नहीं होती। पहले यथार्थ श्रद्धा के प्रगट हुए बिना कदापि भव का अन्त नहीं होता। सच्ची श्रद्धा के बिना सम्यक्चारित्र का अंश भी प्रगट नहीं होता।

ज्ञानी के विशेष चारित्र न हो तो, तथापि वस्तुस्वरूप की प्रतीति होने से दर्शनाचार में वह निःशङ्क होता है। मेरे स्वभाव में राग का अंश भी नहीं है, मैं ज्ञानस्वभावी ज्ञाता ही हूँ - जिसने ऐसी प्रतीति की है, उसके चारित्रदशा न होने पर भी, दर्शनाचार सुधर गया है। उसे श्रद्धा में कदापि शङ्का नहीं होती। ज्ञानी को ऐसी शङ्का उत्पन्न नहीं होती कि 'राग होने से मेरे सम्यग्दर्शन में कहीं दोष तो नहीं आ जाएगा।' ज्ञानी कि ऐसी शङ्का हो ही नहीं सकती, क्योंकि वह जानता है कि जो राग होता है, वह चारित्र का दोष है किन्तु चारित्र के दोष से श्रद्धागुण में मलिनता नहीं आ जाती। हाँ! जो राग होता है, उसे यदि अपना स्वरूप माने अथवा पर में सुखबुद्धि माने तो उसका श्रद्धा में दोष आता है। यदि सच्ची प्रतीति की भूमिका में अशुभराग हो जाए तो उसका भी निषेध करता है और जानता है कि यह दोष, चारित्र का है; वह मेरी श्रद्धा को हानि पहुँचाने में समर्थ नहीं है — ऐसा दर्शनाचार का अपूर्व सामर्थ्य है।

दर्शनाचार (सम्यग्दर्शन) ही सर्व प्रथम पवित्र धर्म है। अनन्त परद्रव्यों के काम में मैं कुछ निमित्त भी नहीं हो सकता, अर्थात् पर से तो भिन्न ज्ञाता ही हूँ और आसक्ति का जो राग-द्वेष है, वह भी मेरा स्वरूप नहीं है, वह मेरे श्रद्धास्वरूप को हानि पहुँचाने में समर्थ नहीं है - ऐसा दर्शनाचार की प्रतीति का जो बल है, वह अल्प काल में मोक्ष देनेवाला है। अनन्त भव का नाश करके एक भवावतारी बना देने की शक्ति दर्शनाचार में है। दर्शनाचार की प्रतीति को प्रगट

किये बिना राग को कम करने अनन्त बार बाह्य चारित्राचार का पालन करने पर भी, दर्शनाचार के अभाव में उसके अनन्त भव दूर नहीं हो सकते। पहले दर्शनाचार के हुए बिना कदापि धर्म नहीं हो सकता।

श्रद्धा में पर से भिन्न निवृत्तस्वरूप को मान लेने से ही समस्त रागादि की प्रवृत्ति और संयोग छूट ही जाते हों, यह बात नहीं है क्योंकि श्रद्धागुण और चारित्रगुण में भिन्नता है; इसलिए श्रद्धागुण की निर्मलता प्रगट होने पर भी, चारित्रगुण में अशुद्धता भी रहती है।

यदि द्रव्य को सर्वथा एक श्रद्धागुणरूप ही माना जाए तो श्रद्धागुण के निर्मल होने पर सारा द्रव्य सम्पूर्ण शुद्ध ही हो जाना चाहिए, किन्तु श्रद्धागुण और आत्मा में सर्वथा एकत्व / अभेदभाव नहीं है; इसलिए श्रद्धागुण और चारित्रगुण के विकास में क्रम बन जाता है। ऐसा होने पर भी, गुण और द्रव्य के प्रदेशभेद न मानें; श्रद्धा और आत्मा, प्रदेश की अपेक्षा से तो एक ही हैं।

गुण और द्रव्य में अन्यत्व / भेद होने पर भी प्रदेशभेद नहीं है। वस्तु में एक ही गुण नहीं, किन्तु अनन्त गुण हैं और उनमें अन्यत्व नाम का भेद है; इसलिए श्रद्धा के होने पर तत्काल ही केवलज्ञान नहीं होता। यदि श्रद्धा होते ही तत्काल ही सम्पूर्ण केवलज्ञान हो जाये तो वस्तु के अनन्त गुण ही सिद्ध नहीं हो सकेंगे। यहाँ आम का दृष्टान्त देकर अन्यत्व/भेद का स्वरूप समझाते हैं —आम में रङ्ग और रसगुण भिन्न-भिन्न हैं; रङ्गगुण हरीदशा को बदलकर पीलीदशा रूप होता है, तथापि रस तो खट्टा ही है तथा रस गुण बदलकर मीठा हो जाता है, तथापि आम का रङ्ग हरा ही रहता है, क्योंकि रङ्ग और रसगुण भिन्न-भिन्न हैं। इस प्रकार वस्तु में

दर्शनगुण के विकसित होने पर भी, चारित्रगुण विकसित नहीं भी होता है, परन्तु ऐसा नहीं हो सकता कि चारित्रगुण विकसित हो और दर्शनगुण विकसित न हो। स्मरण रहे कि सम्यग्दर्शन के बिना कदापि सम्यक्चारित्र नहीं हो सकता।

प्रश्न — जबकि श्रद्धा और चारित्र दोनों गुण स्वतन्त्र हैं, तब ऐसा क्यों होता है ?

उत्तर — यह सच है कि गुण स्वतन्त्र हैं, परन्तु श्रद्धागुण से चारित्रगुण उच्च प्रकार का है, श्रद्धा की अपेक्षा चारित्र में विशेष पुरुषार्थ की आवश्यकता है और श्रद्धा की अपेक्षा चारित्र विशेष पूज्य है, इसलिए पहले श्रद्धा के विकसित हुए बिना चारित्रगुण विकसित हो ही नहीं सकता। जिसमें श्रद्धागुण के लिये अल्प पुरुषार्थ न हो, उसमें चारित्रगुण के लिए अत्यधिक पुरुषार्थ कहाँ से हो सकता है ? पहले सम्यक्श्रद्धा को प्रगट करने का पुरुषार्थ करने के बाद, विशेष पुरुषार्थ करने पर चारित्रदशा प्रगट होती है।

श्रद्धा की अपेक्षा चारित्र का पुरुषार्थ विशेष है, इसलिए पहले श्रद्धा होती है, उसके बाद चारित्र होता है। इसलिए पहले श्रद्धा प्रगट होती है और फिर चारित्र का विकास होता है। श्रद्धा की अपेक्षा चारित्र का पुरुषार्थ विशेष है, इसलिए पहले श्रद्धा होती है, उसके बाद चारित्र होता है। इसलिए पहले श्रद्धा प्रगट होती है और फिर चारित्र का विकास होता है। श्रद्धागुण की क्षायिकश्रद्धारूप पर्याय होने पर भी, ज्ञान और चारित्र में अपूर्णता होती है, इससे सिद्ध हुआ कि वस्तु में अनन्त गुण हैं और वे सब स्वतन्त्र हैं, यही गुणों में अन्यत्व/भेद है।

www.vitragvani.com

ज्ञानी के चारित्रदोष के कारण राग-द्वेष होता है, तथापि उसे अन्तरङ्ग से निरन्तर यह समाधान बना रहता है कि यह राग-द्वेष, परवस्तु के परिणमन के कारण नहीं, किन्तु मेरे दोष से होते हैं, तथापि वह मेरा स्वरूप नहीं है। मेरी पर्याय में राग-द्वेष होने से पर में कोई परिवर्तन नहीं होता —ऐसी प्रतीति होने से ज्ञानी के राग-द्वेष का स्वामित्व नहीं रहता और ज्ञातृत्व का अपूर्व निराकुल सन्तोष हो जाता है। केवलज्ञान होने पर भी, अरहन्त भगवान के प्रदेशत्वगुण की और उर्ध्वगमनस्वभाव की निर्मलता नहीं है; इसीलिए वे संसार में हैं। अघातिया कर्मों की सत्ता के कारण अरहन्त भगवान के संसार हो, यह बात नहीं है, किन्तु अन्यत्व नामक भेद होने के कारण अभी प्रदेशत्व आदि गुण का विकार है, इसीलिए वे संसार में हैं।

जैसे - सम्यग्दर्शन होने पर चारित्र नहीं हुआ तो वहाँ अपने चारित्रगुण की पर्याय में दोष है, श्रद्धा में दोष नहीं। चारित्रसम्बन्धी दोष अपने पुरुषार्थ की कमजोरी के कारण है, कर्म के कारण वह दोष नहीं है; इसी प्रकार केवलज्ञान के होने पर भी, प्रदेशत्वसत्ता और योगसत्ता में जो विकार रहता है, उसका कारण यह है कि समस्त गुणों में अन्यत्व नामक भेद है। प्रत्येक पर्याय की सत्ता स्वतन्त्र है। यह गाथा द्रव्य-गुण-पर्याय की स्वतन्त्र सत्ता को जैसा का तैसा बतलाती है, क्योंकि यह ज्ञेय-अधिकार है; इसलिए प्रत्येक पदार्थ और गुण की सत्ता की स्वतन्त्रता की प्रतीति कराता है। यदि प्रत्येक गुणसत्ता और पर्यायसत्ता के अस्तित्व को ज्यों का त्यों जाने तो ज्ञान सच्चा है। निर्विकारीपर्याय अथवा विकारीपर्याय भी स्वतन्त्र पर्यायसत्ता है। उसे ज्यों का त्यों जानना चाहिए। जीव

जो विकार भी पर्याय में स्वतन्त्ररूप से करता है, उसमें भी अपनी पर्याय का दोष कारण है। प्रत्येक द्रव्य-गुण-पर्याय की सत्ता स्वतन्त्र है, तब फिर कर्म की सत्ता, आत्मा की सत्ता में क्या कर सकती है ? कर्म और आत्मा की सत्ता में तो प्रदेशभेद स्पष्ट है, दो वस्तुओं में सर्वथा पृथक्त्व भेद है।

यहाँ यह बताया गया है कि एक गुण के साथ दूसरे गुण का पृथक्त्व भेद न होने पर भी, उनमें अन्यत्व भेद है; इसलिए एक गुण की सत्ता में दूसरे गुण की सत्ता नहीं है। इस प्रकार यह गाथा स्व में ही अभेदत्व और भेदत्व बतलाती है। प्रदेशभेद न होने से अभेद है और गुण-गुणी की अपेक्षा से भेद है। कोई भी दो वस्तुयें लीजिये, उन दोनों में प्रदेशत्वभेद है, किन्तु एक वस्तु में जो अनन्त गुण हैं, उन गुणों में एक दूसरे के साथ अन्यत्व भेद है, किन्तु पृथक्त्व-भेद नहीं है।

इन दो प्रकार के भेदों के स्वरूप को समझ लेने पर, अनन्त परद्रव्यों का अहंकार दूर हो जाता है और पराश्रयबुद्धि दूर होकर स्वभाव की दृढ़ता हो जाती है तथा सच्ची श्रद्धा होने पर, समस्त गुणों को स्वतन्त्र मान लिया जाता है, पश्चात् समस्त गुण शुद्ध हैं —ऐसी प्रतीतिपूर्वक, जो विकार होता है, उसका भी मात्र ज्ञाता ही रहता है, अर्थात् उस जीव को विकार और भव के नाश की प्रतीति हो गयी है। समझ का यही अपूर्व लाभ है। ज्ञेय अधिकार में द्रव्य-गुण -पर्याय का वर्णन है, प्रत्येक गुण-पर्याय ज्ञेय हैं, अर्थात् अपने समस्त गुण-पर्याय का और अभेद स्वद्रव्य का ज्ञाता हो गया, यही सम्यग्दर्शन-धर्म है।

कौन सम्यग्दृष्टि है?

शुद्धनय फल के स्थान पर है, इससे जो शुद्धनय का आश्रय करते हैं, वे सम्यक्-अवलोकन करने से सम्यग्दृष्टि हैं परन्तु दूसरे (जो अशुद्धनय का आश्रय करते हैं वे) सम्यग्दृष्टि नहीं है। इसलिए कर्म से भिन्न आत्मा को देखनेवालों को व्यवहारनय अनुसरण करनेयोग्य नहीं है।

(—श्री अमृतचन्द्राचार्यदेवकृत टीका, समयसार-गाथा 11)

'यहाँ ऐसा समझना चाहिए कि जिनवाणी स्याद्वादरूप है, प्रयोजनवश नय को मुख्य-गौण करके कहती है। प्राणियों को भेदरूप व्यवहार का पक्ष तो अनादि काल से ही है और जिनवाणी में व्यवहार का उपदेश, शुद्धनय का हस्तावलम्ब समझकर बहुत किया है, किन्तु उसका फल संसार ही है। शुद्धनय का पक्ष तो कभी आया ही नहीं और इसका उपदेश भी विरल है— कहीं-कहीं है, इससे उपकारी श्रीगुरु ने शुद्धनय के ग्रहण का फल मोक्ष जानकर इसका उपदेश प्रधानता से (मुख्यता से) दिया है कि — शुद्धनय भूतार्थ है, सत्यार्थ है, इसका आश्रय करने से सम्यग्दृष्टि हुआ जा सकता है, इसे जाने बिना जहाँ तक जीव, व्यवहार में मग्न है, वहाँ तक आत्मा के श्रद्धा-ज्ञानरूप निश्चय सम्यक्त्व नहीं हो सकता।' इस प्रकार आशय समझना।

(—समयसार, गाथा 11 का भावार्थ)

सम्यग्दृष्टि का वर्णन

सज्जन सम्यग्दृष्टि की प्रशंसा करते हुए पण्डित श्री बनारसीदासजी नाटक-समयसार में कहते हैं कि —

भेदविज्ञान जग्यौ जिन्हके घट,
सीतल चित्त भयौ जिम चन्दन।
केलि करै शिव मारगमें,
जग माँहि जिनेश्वर के लघु नन्दन।
सत्यस्वरूप सदा जिन्हकै,
प्रगट्यौ अवदात मिथ्यात-निकंदन।
सांतदसा तिन्हींकी पहिचानि,
करै कर जोरि बनारसि वंदन॥

(—नाटक समयसार, मङ्गलाचरण, छन्द-6)

अर्थ — जिनके अन्तर में भेदविज्ञान का प्रकाश प्रगट हुआ है, जिनका हृदय चन्दन के समान शीतल हुआ है, जो मोक्षमार्ग में केलिक्रीड़ा करते हैं और इस जगत में जो जिनेश्वर के लघुनन्दन (युवराज) हैं और सम्यग्दर्शन द्वारा जिनके आत्मा में सत्यस्वरूप प्रकाशमान हुआ है, जिन्होंने मिथ्यात्व का निकंदन कर दिया है — ऐसे सम्यग्दृष्टि भव्य आत्मा की शान्ति को देखकर पण्डित बनारसीदासजी उन्हें हाथ जोड़कर नमस्कार करते हैं।

मिथ्यादृष्टि का वर्णन

धरम न जानत बखानत भरमरूप,
ठौर ठौर ठानत लड़ाई पच्छपात की।
भूल्यो अभिमान मैं न पाँव धरै धरनी मैं,
हिरदेमैं करनी विचारे उतपात की।
फिरै डाँवाडोलसौ करम के कलोलिनिमैं,
ह्वै रही अवस्था सु बघूलेकैसे पातकी।
जाकी छाती ताती कारी कुटिल कुवाती भारी,
ऐसौ ब्रह्मघाती है मिथ्याती महापातकी॥

(— कविवर बनारसीदास नाटक-समयसार, मङ्गलाचरण छन्द-9)

अर्थ — जो स्वयं किञ्चित्मात्र धर्म को नहीं जानता और धर्मस्वरूप का भ्रमरूप व्याख्यान (वर्णन) करता है, धर्म के नाम पर प्रत्येक प्रसङ्ग पर पक्षपात से लड़ाई किया करता है और जो अभिमान में मस्त होकर भानभूला है और धरती पर पैर नहीं रखता, अर्थात् अपने को महान समझता है, जो प्रति समय अपने हृदय में उत्पाद की करणी का ही विचार करता है, तूफान में पड़े हुए पत्ते की भाँति जिसकी अवस्था शुभाशुभकर्मों की तरङ्गों में डाँवाडोल हो रही है, कुटिल पाप की अग्नि से जिसका अन्तर तप्त हो रहा है — ऐसा महादुष्ट, कुटिल, अपने आत्मस्वरूप का घात करनेवाला मिथ्यादृष्टि महा पातकी है।

सम्यग्दर्शन की रीति

(— प्रवचनसार, गाथा - 80)

(1) यह प्रवचनसार की 80वीं गाथा चल रही है। आत्मा में अनादि काल से जो मिथ्यात्वभाव है, अधर्म है, उस मिथ्यात्वभाव को दूर करके सम्यग्दर्शन कैसे प्रगट हो —उसके उपाय का इस गाथा में वर्णन किया है। इस आत्मा का स्वभाव अरहन्त भगवान जैसा ही पुण्य-पापरहित है। आत्मा के स्वभाव से च्युत होकर जो पुण्य-पाप होते हैं, उन्हें अपना स्वरूप मानना, वह मिथ्यात्व है। शरीर-मन-वाणी, आत्मा के आधीन हैं और उनकी क्रिया आत्मा कर सकता है — ऐसा मानना, यह मिथ्यात्व है तथा आत्मा, शरीर-मन-वाणी के आधीन है और उनकी क्रिया से आत्मा को धर्म होता है — ऐसा मानना भी मिथ्यात्व है, भ्रम है और अनन्त संसार में परिभ्रमण का कारण है। उस मिथ्यात्व का नाश किए बिना धर्म नहीं होता। उस मिथ्यात्व को नष्ट करने का उपाय यहाँ बतलाते हैं।

(2) जो जीव, भगवान अरहन्त के आत्मा को द्रव्य-गुण-पर्यायरूप से बराबर जानते हैं, वे जीव वास्तव में अपने आत्मा को जानते हैं और उनका मिथ्यात्वरूप भ्रम अवश्य ही नाश को प्राप्त होता है तथा शुद्ध सम्यक्त्व प्रगट होता है — यह धर्म का उपाय है।

अरहन्त के आत्मा का नित्य एकरूप रहनेवाला स्वभाव कैसा है, उनके ज्ञानादि गुण कैसे है और उनकी रागरहित केवलज्ञान पर्याय कैसी है —उसे जो जानता है, वह जीव, अरहन्त जैसे अपने

www.vitragvani.com

आत्मा के द्रव्य-गुण-पर्याय को पहिचानकर, पश्चात् अभेद आत्मा की अन्तर्दृष्टि करके मिथ्यात्व को दूर करता है और सम्यग्दर्शन प्रगट करता है — यह 80वीं गाथा का संक्षिप्त सार है।

(3) आज माङ्गलिक प्रसङ्ग है और गाथा भी अलौकिक आयी है। यह गाथा 80वीं है। 80वीं अर्थात् आठ और शून्य। आठ कर्मों का अभाव करके सिद्धदशा कैसे हो - उसकी इसमें बात है।

(4) अरहन्त भगवान का आत्मा भी पहले अज्ञानदशा में था और संसार में परिभ्रमण करता था, फिर आत्मा का भान करके मोह का क्षय किया और अरहन्तदशा प्रगट हुई। पहले अज्ञानदशा में भी वही आत्मा था और इस समय अरहन्तदशा में भी आत्मा वही है — इस प्रकार आत्मा त्रिकाल रहता है, वह द्रव्य है; आत्मा में ज्ञानादि अनन्त गुण एक साथ विद्यमान हैं, वह गुण है; और अरहन्त को अनन्त केवलज्ञान, केवलदर्शन अनन्त सुख और वीर्य प्रगट हुए हैं, वह उनकी पर्याय है; उनके राग-द्वेष या अपूर्णता किञ्चित् भी नहीं रहे हैं; इस प्रकार अरहन्त भगवान के द्रव्य-गुण-पर्याय को जो जीव जानते हैं, वे अपने आत्मा को भी वैसा ही मानते हैं, क्योंकि यह आत्मा भी अरहन्त की जाति का है। जैसे अरहन्त के आत्मा का स्वभाव है, वैसा ही इस आत्मा का स्वभाव है, निश्चय से उसमें कुछ भी अन्तर नहीं है।

इससे पहले अरहन्त के आत्मा को जानने से अरहन्त समान अपने आत्मा को भी जीव मन द्वारा-विकल्प से जान लेता है और फिर अन्तरोन्मुख होकर गुण-पर्यायों से अभेदरूप एक आत्मस्वभाव का अनुभव करता है, तब द्रव्य-पर्याय की एकता होने से वह जीव चिन्मात्रभाव को प्राप्त करता है, उस समय मोह का कोई आश्रय न

रहने से वह अवश्य ही नष्ट हो जाता है और जीव को सम्यग्दर्शन प्रगट होता है, वह अपूर्व है। सम्यग्दर्शन के बिना तीन काल में धर्म नहीं होता।

(5) जैसा अरहन्त भगवान का आत्मा है, वैसा ही यह आत्मा है। उसमें जो चेतन है, वह द्रव्य है। चेतन अर्थात् आत्मा है, वह द्रव्य है। चैतन्य का उसका गुण है। चैतन्य, अर्थात् ज्ञान-दर्शन, वह आत्मा का गुण है और उस चैतन्य की ग्रन्थियाँ, अर्थात् ज्ञान-दर्शन की अवस्थाएँ —ज्ञान-दर्शन का परिणमन—वह आत्मा की पर्यायें हैं। इसके अतिरिक्त कोई रागादि भाव या शरीर-मन-वाणी की क्रियाएँ, वे वास्तव में चैतन्य का परिणमन नहीं हैं, इसलिए वे आत्मा की पर्यायें नहीं हैं, आत्मा का स्वरूप नहीं है। जिस अज्ञानी को, अरहन्त जैसे अपने द्रव्य-गुण-पर्याय की खबर नहीं है, वह रागादि को और शरीरादि की क्रिया को अपना मानता है।'मैं तो चैतन्य द्रव्य हूँ, मुझमें चैतन्य गुण है और मुझमें प्रतिक्षण चैतन्य की अवस्था होती है — वह मेरा स्वरूप है, इसके अतिरिक्त जो रागादिभाव होते हैं, वे मेरा सच्चा स्वरूप नहीं है और जड़ की क्रिया तो मुझमें नहीं है'— इस प्रकार जो अरहन्त जैसे अपने आत्मा को मन से भलीभाँति जान लेता है, वह जीव आत्मस्वभाव के आँगन में आया है। यहाँ जो जीव, स्वभाव के आँगन में आ गया, वह अवश्य ही उसमें प्रवेश करता है — ऐसी ही शैली है। आत्मा के स्वभाव की निर्विकल्प प्रतीति और अनुभव, वह सम्यक्त्व है, वह अपूर्व धर्म है। वह सम्यग्दर्शन प्रगट करने के लिये जीव प्रथम तो अपने आत्मा को मन द्वारा समझ लेता है। कैसा समझता है? मेरा स्वभाव द्रव्य-गुण-पर्याय से अरहन्त जैसा ही है। जैसे

अरहन्त के त्रिकाल द्रव्य-गुण हैं, वैसे ही द्रव्य-गुण मुझमें हैं। अरहन्त की पर्याय में राग-द्वेष नहीं हैं और मेरी पर्याय में राग-द्वेष होते हैं, वह मेर स्वरूप नहीं है — इस प्रकार जिसने अपने आत्मा को राग-द्वेष रहित परिपूर्ण स्वभाववाला निश्चित किया, वह जीव, सम्यग्दर्शन प्रगट होने के आँगन में खड़ा है। अभी तो उससे मन के अवलम्बन द्वारा स्वभाव का निर्णय किया है, इससे आँगन कहा है। मन का अवलम्बन छोड़कर सीधा स्वभाव का अनुभव करेगा, वह साक्षात् सम्यग्दर्शन है। भले ही पहले मन का अवलम्बन है परन्तु निर्णय में तो 'अरहन्त जैसा मेरा स्वभाव है'— ऐसा निश्चित किया है। 'मैं रागी-द्वेषी हूँ, मैं अपूर्ण हूँ, मैं शरीर की क्रिया करता हूँ' — ऐसा निश्चित नहीं किया है, इसलिए उसे सम्यग्दर्शन का आँगन कहा है।

(6) यह गाथा बहुत उच्च है, इस एक ही गाथा में हजारों शास्त्रों का सार आ जाता है। क्षायिक सम्यग्दृष्टि होकर केवलज्ञान प्राप्त करे — ऐसी इस गाथा में बात है। श्रेणिक राजा इस समय नरक में हैं, उन्हें क्षायिक सम्यग्दर्शन है। इस गाथा के कथानुसार अरहन्त जैसे अपने आत्मा का भान है। भरत चक्रवती को छह खण्ड का राज्य था; तथापि क्षायिक सम्यग्दर्शन था, अरहन्त जैसे अपने आत्मस्वभाव का भान एक क्षण भी च्युत नहीं होता था। ऐसा सम्यग्दर्शन कैसे प्रगट को—उसकी यह बात है।

(7) अरहन्त जैसे अपने आत्मा को पहले तो जीव, मन द्वारा जान लेता है। मैं चेतन ज्ञाता-दृष्टा हूँ और यह जो जानने की पर्याय होती है, वह मैं हूँ; रागादि होते हैं, वह मेरे ज्ञान का स्वरूप नहीं है— इस प्रकार स्वसन्मुख होकर मन द्वारा जिसने अपने आत्मा

को जाना, वह जीव, आत्मा के सम्यग्दर्शन के आँगन में आया है। किसी बाह्य पदार्थ से आत्मा को पहिचानना, वह अज्ञान है। आत्मा लखपति या करोड़पति नहीं है, लक्ष्मी तो जड़ है, उसका स्वामी आत्मा नहीं है; आत्मा तो अनन्तपति है, अपने अनन्त गुणों का स्वामी है। अरहन्त भगवान को तेरहवें गुणस्थान में जो केवलज्ञानादिदशा प्रगट हुई– वह सब मेरा स्वरूप है और भगवान के राग-द्वेष तथा अपूर्ण ज्ञान दूर हो गये, वह आत्मा का स्वरूप नहीं था, इसी से दूर हो गये हैं; इसलिए वे रागादि मेरे स्वरूप में नहीं है। मेरे स्वरूप में राग-द्वेष आस्रव नहीं हैं, अपूर्णता नहीं है। आत्मा की पूर्ण निर्मल रागरहित परिणति ही मेरी पर्याय का स्वरूप है – इतना समझा, तब जीव सम्यग्दर्शन के लिए पात्र हुआ है, इतना समझनेवाले का मोहभाव मन्द हो गया है और कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र की मान्यता तो छूट ही गई है।

(8) तीन लोक के नाथ श्री तीर्थङ्कर भगवान कहते हैं कि मेरा और तेरा आत्मा एक ही जाति का है, दोनों की एक ही जाति है। जैसा मेरा स्वभाव है, वैसा ही तेरा स्वभाव है। केवलज्ञानदशा प्रगट हुई, वह बाहर से नहीं प्रगटी है, परन्तु आत्मा में शक्ति है, उसी में से प्रगट हुई है। तेरे आत्मा में भी वैसी ही परिपूर्ण शक्ति है। अपने आत्मा की शक्ति अरहन्त जैसी है, उसे जो जीव पहचान ले, उसका मोह नष्ट हुए बिना नहीं रहता।

जैसे मोर के छोटे से अण्डे में साढ़े तीन हाथ का मोर होने का स्वभाव भरा है; इसलिए उसमें से मोर होता है। मोर होने की शक्ति मोरनी में से नहीं आयी और अण्डे के ऊपरवाले छिलके में से भी नहीं आयी है, परन्तु अण्डे के भीतर भरे हुए रस में वह शक्ति है;

उसी प्रकार आत्मा में केवलज्ञान प्रगट होने की शक्ति है, उसमें से केवलज्ञान का विकास होता है। शरीर-मन-वाणी या देव-गुरु-शास्त्र तो (मोरनी की भाँति) परवस्तु हैं, उनमें से केवलज्ञान प्रगट होने की शक्ति नहीं आयी है और पुण्य-पाप के भाव ऊपरवाले छिलके के समान हैं, उनमें केवलज्ञान होने की शक्ति नहीं है। आत्मा का स्वभाव अरहन्त जैसा है, वह शरीर-मन-वाणी से तथा पुण्य-पाप से रहित है, उस स्वभाव में केवलज्ञान प्रगट होने की शक्ति है। जिस प्रकार अण्डे में बड़े-बड़े विषैले सर्पों को निगल जानेवाला मोर होने की शक्ति है; उसी प्रकार मिथ्यात्वादि का नाश करके केवलज्ञान प्राप्त करे, वैसी शक्ति प्रतयेक आत्मा में है। चैतन द्रव्य, चैतन्यगुण और ज्ञाता-दृष्टारूप पर्याय का पिण्ड आत्मा है, उसका स्वभाव, मिथ्यात्व को बनाये रखने का नहीं; परन्तु उसे निगल जाने का—नष्ट करने का है। ऐसे स्वभाव को पहिचाने, उसके मिथ्यात्व का क्षय हुए बिना न रहे, परन्तु जैसे — अण्डे में मोरे कैसे होगा? —ऐसी शङ्का करके उसे हिलाये-डुलाये तो उसका रस सूख जाता है और मोर नहीं होता; उसी प्रकार आत्मा के स्वभाव -सामर्थ्य का विश्वास न करें और 'इस समय आत्मा भगवान के समान कैसे होगा?'—ऐसी स्वभाव में शङ्का करे तो उसे सम्यग्दर्शन नहीं होता और न मोह दूर होता है। सम्यग्दर्शन के बिना कभी धर्म नहीं होता।

(9) अब मोर के अण्डे में मोर होने का स्वभाव है, वह स्वभाव किस प्रकार ज्ञाता होता है? वह स्वभाव किन्हीं इन्द्रियों के द्वारा ज्ञात नहीं होता। अण्डे को हिलाकर सुने तो कान द्वारा वह स्वभाव ज्ञात नहीं होगा, नाक से उसके स्वभाव की गन्ध नहीं

आयेगी और न जीभ से अण्डे का स्वभाव ज्ञात होगा; इस प्रकार अण्डे में मोर होने की शक्ति है, वह किन्हीं इन्द्रियों द्वारा ज्ञात नहीं होती, परन्तु ज्ञान से ही ज्ञात होती है। स्वभाव को जानने का ज्ञान निरपेक्ष है, किन्हीं इन्द्रियादि की उसे अपेक्षा नहीं है। किसी भी वस्तु का स्वभाव अतीन्द्रियज्ञान से ही ज्ञात होता है; उसी प्रकार आत्मा में केवलज्ञान होने का स्वभाव विद्यमान है, वह स्वभाव कान से, आँख से, नाक से, जीभ से या स्पर्श से ज्ञात नहीं होता; मन द्वारा या राग द्वारा भी वास्तव में वह स्वभाव ज्ञात नहीं होता; इन्द्रियों और मन का अवलम्बन छोड़कर स्वभावोन्मुख हो, उस अतीन्द्रियज्ञान से ही आत्मस्वभाव ज्ञात होता है। यहाँ 'मन द्वारा आत्मा को जान लेता है'— ऐसा कहा है, वहाँ तक अभी सम्यग्दर्शन नहीं हुआ है, अभी तो रागवाला ज्ञान है। मन का अवलम्बन छोड़कर, अभेदस्वभाव को सीधे ज्ञान से लक्ष्य में ले, तब सम्यग्दर्शन होता है। सम्यग्दर्शन कैसे हो — उसकी यह रीति है।

(10) जिस प्रकार दियासलाई के सिरे में अग्नि प्रगट होने का स्वभाव है — वह आँख, कान आदि किन्हीं इन्द्रियों से ज्ञात नहीं होता है। प्रथम, दियासिलाई के सिरे में अग्नि प्रगट होने की शक्ति है — इस प्रकार उसके स्वभाव का विश्वास करके, फिर उसे घिसने से अग्नि प्रगट होती है; उसी प्रकार आत्मा में केवलज्ञान प्रगट होने का स्वभाव है, वह स्वभाव किन्हीं इन्द्रियों द्वारा दिखायी नहीं देता, परन्तु अतीन्द्रियज्ञान से ही ज्ञात होता है। प्रथम, परिपूर्ण स्वभाव का विश्वास करके, पश्चात् उसमें एकतारूपी घिसाई (घिसने की क्रिया) करने से केवलज्ञानज्योति प्रगट होती है। शरीर-मन-वाणी तो दियासलाई की पेटी के समान हैं। जिस

प्रकार दियासलाई की पेटी में अग्नि होने की शक्ति नहीं है; उसी प्रकार उन शरीरादि में केवलज्ञान होने की शक्ति नहीं है और पूजा-भक्ति आदि पुण्यभाव या हिंसा-चोरी आदि पापभाव उस दियासलाई के पिछले भाग जैसे हैं। जिस प्रकार दियासलाई के पिछले भाग में अग्नि प्रगट होने की शक्ति नहीं है; उसी प्रकार उन पुण्य-पाप में सम्यग्दर्शन या केवलज्ञान होने की शक्ति नहीं है—तो वह शक्ति किसमें है? सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र और केवलज्ञान होने की शक्ति तो चैतन्यस्वभाव में है। उस स्वभाव की प्रतीति करने से सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान होता है, तत्पश्चात उसमें एकाग्रता करने पर सम्यक्चारित्र और केवलज्ञान होता है, इसके अतिरिक्त अन्य प्रकार से धर्म नहीं होता।

स्वभाव की प्रतीति न करे और पुण्य-पाप को घिसता रहे, पूजा-भक्ति-व्रत में शुभराग करता रहे तो उससे सम्यग्दर्शन धर्म नहीं होता और उपवासादि कर-करके शरीर-मन-वाणी को घिसता रहे, उसमें भी कहीं धर्म नहीं होता, परन्तु शरीर-मन-वाणी और पुण्य-पाप से रहित त्रिकाली चैतन्यरूप आत्मस्वभाव है, उसकी प्रतीति और अनुभव करे तो सम्यग्दर्शनरूप प्रथम धर्म हो और पश्चात् उसमें एकाग्रता करने से सम्यक्चारित्ररूप धर्म हो। सम्यग्दर्शन के बिना चाहे जितने शास्त्रों का अभ्यास कर ले, व्रत-उपवास करे, प्रतिमाधारण करे, पूजा-भक्ति करे या द्रव्यलिङ्गी हो जाये - चाहे जितना करे, किन्तु उसे धर्म नहीं माना जाता और न वह (कर्मरूप धर्म) करते-करते धर्म होता है। सम्यग्दर्शन होने से पहले भी अरहन्त भगवान के द्रव्य-गुण-पर्याय को जाने और उनके जैसा अपना आत्मा है - ऐसा मन से निश्चित करके उसके

www.vitragvani.com

अनुभव का अभ्यास करे तो उसे धर्मसन्मुख कहा जाता है, वह जीव, धर्म के आँगन में आ गया है।

(11) अपना आत्मा, अरहन्त जैसा है — ऐसा जहाँ मन से जाना, वहीं पर के ओर की एकाग्रता से या पुण्य से आत्मा को लाभ होता है, यह मान्यता दूर हो गयी है। शरीर-मन-वाणी की क्रिया तो आत्मा से भिन्न है और राग-द्वेष के भाव होते हैं, वे अरहन्त भगवान की अवस्था में नहीं हैं; इसलिए वास्तव में वे राग-द्वेष के भाव इस आत्मा की अवस्था नहीं हैं। किसी भी पुण्य-पाप के भाव से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र या केवलज्ञान नहीं होता। प्रथम मन द्वारा त्रिकाली आत्मा को जाना, वहाँ इतना तो निश्चित हो गया। प्रथम मन से तो पूर्ण आत्मस्वभाव को जान लिया, 'ऐसे आत्मा की प्रतीति और अनुभव करने से ही सम्यग्दर्शन होता है तथा उसमें एकाग्रता होने से ही चारित्र और केवलज्ञान होता है'— ऐसा निश्चित कर लिया, इसलिए अब उस स्वभाव की ओर उन्मुख होना ही रहा। वह जीव स्वभाव की ओर उन्मुख होकर मोह का क्षय किस प्रकार करता है — यह बात आचार्य भगवान हार का दृष्टान्त देकर बहुत ही स्पष्ट समझायेंगे।

(12) स्वभावोन्मुखता करके मोह का क्षय करने की और सम्यग्दर्शन प्रगट करने की यह रीति है। सम्यग्दर्शन प्रगट करने के लिये यह अलौकिक अधिकार है। बहुत ही उच्च और अपूर्व अधिकार आया है। यह अधिकार समझकर स्मरण रखने योग्य और आत्मा के अन्दर उतारने जैसा है। अपने अन्तरस्वभाव में एकाग्रता से ही सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र प्रगट होता है।

(13) जिसने अरहन्त जैसे अपने आत्मा को मन द्वारा जान

www.vitragvani.com

लिया है, वह जीव, स्वभाव के आँगन में आया है, परन्तु आँगन में आ जाने के पश्चात् अब, स्वभाव का अनुभव करने में अनन्त अपूर्व पुरुषार्थ है। आँगन में आकर यदि विकल्प में ही रुका रहे तो अनुभव नहीं होगा। जैसे महान् सम्राट बादशाह के महल के आँगन तक तो आ गया, लेकिन अन्दर प्रविष्ट होने के लिए हिम्मत होना चाहिए; उसी प्रकार इस चैतन्य भगवान के आँगन में आने के पश्चात् —अर्थात् मन द्वारा आत्मस्वभाव को जाने लेने के पश्चात्— चैतन्यस्वभाव के भीतर ढ़लकर अनुभव करने के लिए अनन्त पुरुषार्थ हो, वही चैतन्य में ढ़लकर सम्यग्दर्शन प्रगट करता है और दूसरे जो जीव शुभ विकल्प में रुक जाते हैं, वे पुण्य में अटक जाते हैं, उन्हें धर्म नहीं होता, परन्तु यहाँ तो आँगन में रुकने की बात ही नहीं है, जो जीव स्वभाव के आँगन में आया, वह स्वभावोन्मुख होकर अनुभव करेगा ही - ऐसी अप्रतिहतपने की ही बात ली है। आँगन में आकर लौट जाए- ऐसी बात ही यहाँ नहीं ली है।

(14) प्रथम, मन द्वारा अरहन्त जैसे अपने आत्मस्वभाव को जान लेने के पश्चात्, अब अन्तरस्वभावोन्मुख होकर सम्यग्दर्शन प्रगट करना है, उसकी बात बतलाते हैं। अब अन्तर में ढ़लने की बात है। बाह्य में अरहन्त भगवान का लक्ष्य तो छोड़ दिया और अपने में भी द्रव्य-गुण-पर्याय के भेद का लक्ष्य छोड़कर, अन्तर के अभेद स्वभाव में जाता है। पहले अरहन्त जैसे अपने द्रव्य-गुण-पर्याय को जाना - वह भूमिका हुई; अब उस भूमिका से निकलकर अन्तर में अनुभव करने की बात है। इसलिए बराबर ध्यान रखकर समझना चाहिए।

(15) यहाँ मोतियों के हार का दृष्टान्त देकर समझाते हैं।

www.vitragvani.com

जिस प्रकार हार खरीदनेवाला पहले तो हार, उसकी सफेदी और उसके मोती-इन तीनों को जानता है, किन्तु जब हार पहनता है, उस समय मोती और सफेदी को लक्ष्य नहीं होता; अकेले हार को ही लक्ष्य में लेता है। यहाँ हार को द्रव्य की उपमा है, सफेदी को गुण की उपमा है और मोती को पर्याय की उपमा है। मोह का क्षय करनेवाला जीव, प्रथम तो अरहन्त जैसे अपने आत्मा के द्रव्य-गुण-पर्याय को जानता है, परन्तु जहाँ तक इन तीनों पर लक्ष्य रहे, वहाँ तक राग रहता है और अभेद आत्मा का अनुभव नहीं होता; इसलिए द्रव्य-गुण -पर्याय को जान लेने के पश्चात्, अब गुण और पर्यायों को द्रव्य में ही समेटकर अभेद आत्मा का अनुभव करता है, उसकी बात करते हैं। यहाँ पहले पर्याय को द्रव्य में लीन करने की और फिर गुण को द्रव्य में लीन करने की बात कही है। कहने में तो क्रम से ही कही जाती है, परन्तु वास्तव में गुण और पर्याय दोनों का लक्ष्य एक ही साथ छूट जाता है। जहाँ अभेद द्रव्य को लक्ष्य में लिया, वहाँ गुण और पर्याय-दोनों का लक्ष्य एक ही साथ दूर हो गया और अकेले आत्मा का अनुभव रहा। जिस प्रकार मोती का लक्ष्य छोड़कर हार को लक्ष्य में लिया, वहाँ अकेला हार ही लक्ष्य में रहा, सफेदी का भी लक्ष्य नहीं रहा; उसी प्रकार जहाँ पर्याय का लक्ष्य छोड़कर द्रव्य को लक्ष्य में लेकर एकाग्र हुआ, वहाँ गुण का लक्ष्य भी साथ ही छूट गया। गुण-पर्याय दोनों गौण हो गये और एक द्रव्य का अनुभव रहा। इस प्रकार द्रव्य का लक्ष्य करके आत्मा का अनुभव करने का नाम सम्यग्दर्शन है।

(16) सम्यग्दर्शन के बिना धर्म नहीं होता, इसलिए यहाँ प्रथम ही सम्यग्दर्शन की बात बतलायी है। पुण्य-पाप हों, वे

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

निषेध करने के लिये जाननेयोग्य हैं, परन्तु सम्यग्दर्शन की रीति में पुण्य या पाप नहीं हैं। यहाँ दृष्टान्त में झूलते हुए हार को लिया है; इसी प्रकार सिद्धान्त में परिणमित होते हुए द्रव्य को बतलाना है। द्रव्य का परिणमन होकर पर्यायें आती हैं, उन पर्यायों को त्रिकाली परिणमित होने हुए द्रव्य में ही लीन करके और गुणभेद का विचार छोड़कर द्रव्य में ढ़लता है, तभी सम्यग्दर्शन होता है। पर्यायों को द्रव्य में अभेद किया और 'ज्ञान, वह आत्मा'— ऐसे गुण-गुणी के भेद की वासना का लोप किया, वहाँ विकल्प नहीं रहा; इसलिए जिस प्रकार सफेदी को पृथक् लक्ष्य में न लेकर, उसका हार में ही समावेश करके हार को लक्ष्य में लेता है; उसी प्रकार ज्ञान और आत्मा - ऐसे दो भेदों में लक्ष्य में न लेकर, एक आत्मद्रव्य को ही लक्ष्य में लेता है, चैतन्य को चेतन में ही स्थापित करके एकाग्र हुआ कि वहीं सम्यग्दर्शन होता है और मोह नाश को प्राप्त होता है।

(17) देखो भाई! यही आत्मा के हित की बात है। यह समझ पूर्व में अनन्त काल में एक क्षणमात्र भी नहीं की है। एक क्षणमात्र भी ऐसी प्रतीति करे, उसे भव नहीं रहता। इसे समझे बिना लाखों -करोड़ों रुपये इकट्ठे हो जाएें तो उससे आत्मा को कुछ भी लाभ नहीं है।

आत्मा का लक्ष्य किए बिना, उसके अनुभव के अमूल्य क्षण का लाभ नहीं मिलता। जिसने ऐसे आत्मा का निर्णय कर लिया, उसे आहार-विहारादि संयोग हों और पुण्य-पाप के परिणाम भी होते हों, तथापि आत्मा का लक्ष्य नहीं छूटता; आत्मा का जो निर्णय किया है, वह किसी भी प्रसङ्ग पर नहीं बदलता; इसलिए उसे प्रतिक्षण धर्म होता रहता है।

(18) स्वयं सत्य को समझ ले, वहाँ मिथ्यात्व अपने आप दूर हो जाता है, उसके लिये प्रतिज्ञा नहीं करनी पड़ती। कोई कहे कि अग्नि उष्ण है, —ऐसा मैंने जान लिया, अब मुझे 'अग्नि शीतल है' —ऐसा न मानने की प्रतिज्ञा दो, परन्तु उसमें प्रतिज्ञा क्या? अग्नि का स्वभाव उष्ण है ही, जहाँ ऐसा जाना, वहीं उसे ठण्डा न मानने की प्रतिज्ञा हो ही गयी। उसी प्रकार कोई कहे कि - 'मिश्री कड़वी है'— ऐसा न मानने की प्रतिज्ञा दो! तो वैसी प्रतिज्ञा नहीं होती। मिश्री का मीठा स्वभाव निश्चित किया, वहाँ स्वयं वह प्रतिज्ञा हो गयी, उसी प्रकार जिसने आत्मस्भाव को जाना, उसके मिथ्यामान्यता तो दूर हो ही गयी। स्वभाव को यथार्थ जाना, उसमें 'मिथ्या न मानने की प्रतिज्ञा' आ ही गयी। जो सच्चा ज्ञान हुआ, वह स्वयं मिथ्या न मानने की प्रतिज्ञावालाा है। 'मिथ्यात्व को न जानना'— ऐसी प्रतिज्ञा माँगे तो उसका अर्थ यह हुआ कि अभी उसे मिथ्यात्व की मान्यता बनी हुई है और सत्य का निर्णय नहीं हुआ है। आत्मा के गुण-पर्याय को अभेद द्रव्य में ही परिणमित करके जिसने अभेद आत्मा का निर्णय किया, उसके अभेद आत्मस्वभाव की प्रतीतिरूप प्रतिज्ञा हुई, वहाँ उससे विपरीत मान्यताएँ दूर हो ही गईं; इसलिए विपरीत मान्यता न करने की प्रतिज्ञा हो गयी। उसी प्रकार जिसने चारित्र प्रगट किया, उसके अचारित्र न करने की प्रतिज्ञा हो गयी।

(19) इस गाथा में अरहन्त जैसे आत्मा को जानने की बात की, उसमें इतना तो आ गया कि पात्र जीव को अरहन्तदेव के अतिरिक्त सर्व कुदेवादि की मान्यता दूर हो ही गयी है। अरहन्त के द्रव्य-गुण-पर्याय को जानकर वहाँ नहीं रुकता, परन्तु अपने

आत्मा की ओर उन्मुख होता है। द्रव्य-गुण और पर्याय से परिपूर्ण मेरा स्वरूप है; राग-द्वेष मेरा स्वरूप नही है - ऐसा निश्चित करके, फिर पर्याय का लक्ष्य छोड़कर और गुण-भेद का भी लक्ष्य छोड़कर अभेद आत्मा को लक्ष्य में लेता है,उस समय अकेले चिन्मात्रस्वभाव का अनुभव होता है, उसी समय सम्यग्दर्शन होता है और मोह का क्षय हो जाता है।

(20) आत्मा अनन्त गुणों का पिण्ड है, वह हार है; उसका जो चैतन्यगुण, वह सफेदी है और उसकी प्रत्येक समय की चैतन्य पर्यायें, वे मोती हैं। आत्मा का अनुभव करने के लिए प्रथम तो उन द्रव्य-गुण-पर्याय का पृथक्-पृथक् विचार करता है। पर्याय में जो राग-द्वेष होता है, वह मेरा स्वरूप नहीं है, क्योंकि अरहन्त की पर्याय में राग-द्वेष नहीं हैं। रागरहित केवलज्ञानपर्याय मेरा स्वरूप है। वह पर्याय कहाँ से आती है? त्रिकाली चैतन्यगुण में से वह प्रगट होती है और ऐसे ज्ञान, दर्शन, सुख, अस्तित्व आदि अनन्त गुणों का एकरूप पिण्ड, वह आत्मद्रव्य है - ऐसा जानने के पश्चात्, भेद का लक्ष्य छोड़कर, अभेद आत्मा को लक्ष्य में लेकर, एक आत्मा को ही जानने से विकल्परहित निर्विकल्प आनन्द का अनुभव होता है। वही निर्विकल्प आत्मसमाधि है, वही आत्म-साक्षात्कार है, वही स्वानुभव है, वही भगवान के दर्शन हैं, वही सम्यग्दर्शन है। जो कहो वह यही धर्म है। जिस प्रकार डोरा पिरोया हुई सुई खोती नहीं है; उसी प्रकार यदि आत्मा में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञानरूपी डोरा पिरो ले तो वह संसार में परिभ्रमण न करे।

(21) प्रथम, अरहन्त जैने अपने द्रव्य-गुण-पर्याय को

जानकर, अरहन्त का लक्ष्य छोड़कर, आत्मा की ओर उन्मुख हुआ; अब अन्तर में द्रव्य-गुण-पर्याय के विकल्प को छोड़कर, अपने एक चेतनस्वभाव को लक्ष्य में लेकर एकाग्र होने से आत्मा में मोहक्षय के लिये कैसी क्रिया होती है - वह कहते हैं। गुण-पर्याय को द्रव्य में ही अभेद करके अन्तरोन्मुख हुआ, वहाँ उत्तरोत्तर-प्रतिक्षण कर्ता-कर्म-क्रिया के भेद का क्षय होता जाता है और जीव निष्क्रिय चिन्मात्रभाव को प्राप्त होता है। अन्तरोन्मुख हुआ, वहाँ 'मैं करता हूँ और आत्मा की श्रद्धा करने की ओर ढ़लता हूँ'— ऐसा भेद का विकल्प नहीं रहता। 'मैं कर्ता हूँ और पर्याय कर्म है, मैं पुण्य-पाप का कर्ता नहीं हूँ और स्वभाव-पर्याय का कर्ता हूँ, पर्याय को अन्तर में एकाग्र करने की क्रिया करता हूँ, मेरी पर्याय अन्तर में एकाग्र होती जा रही है'— इस प्रकार के कर्ता-कर्म और क्रिया के विभागों के विकल्प नष्ट हो जाते हैं।

विकल्परूप क्रिया न रहने से वह जीव निष्क्रिय चिन्मात्रभाव को प्राप्त होता है। 'ऐसी जो पर्याय, द्रव्योन्मुख होकर एकाग्र हुई, उस पर्याय को मैंने उन्मुख किया'— ऐसा कर्ता-कर्म के विभाग का विकल्प अनुभव के समय नहीं होता। जब अकेले चिन्मात्रभाव आत्मा का अनुभव रह जाता है, उसी क्षण मोह निराश्रय होता हुआ, नाश को प्राप्त होता है —यही अपूर्व सम्यग्दर्शन है।

जब सम्यग्दर्शन हो, उस समय — 'मैं पर्याय को अन्तरोन्मुख करता हूँ'—ऐसा विकल्प नहीं होता। 'मैं पर्याय को द्रव्योन्मुख करूँ अथवा तो इस वर्तमान अंश को त्रिकाल में अभेद करूँ' — ऐसा विकल्प रहे तो पर्यायदृष्टि का राग होता है और अभेद द्रव्य प्रतीति में नहीं आता। अभेद स्वभाव की ओर ढ़लने से विकल्प

का क्षय हो जाता है और आत्मा का निर्विकल्प अनुभव होता है। जब जीव को ऐसा अनुभव हुआ, तब वह सम्यग्दृष्टि हुआ, जैनधर्मी हुआ। इसके बिना वास्तव में जैनधर्मी नहीं कहलाता।

सम्यग्दृष्टि अर्थात् पहले में पहला जैन कैसे हुआ जाता है — उसकी यह रीति कही जाती है। आत्मा, पर के कार्य करता है - ऐसा माननेवाला तो स्थूल मिथ्यादृष्टि अजैन है। पुण्य-पाप के भाव हों, उन्हें आत्मा का कर्तव्य माननेवाला तो मिथ्यादृष्टि है, उसके जैनधर्म नहीं है और 'अन्तर में जो निर्मलपर्याय हो, उसे मैं करता हूँ'—इस प्रकार आत्मा में कर्ता-कर्म के भेद के विकल्प में रुका रहे तो भी मिथ्यात्व दूर नहीं होता। 'मेरी पर्याय अन्तरोन्मुख होती है, पहली पर्याय की अपेक्षा दूसरी पर्याय में अन्तर की एकाग्रता बढ़ती जाती है'— इस प्रकार कर्ता-कर्म और क्रिया के भेद का लक्ष्य रहे, वह विकल्प की क्रिया है। अन्तरस्वभावोन्मुख होने से उस विकल्प की क्रिया का क्षय होता जाता है और आत्मा निष्क्रिय (विकल्प की क्रियारहित) चिन्मात्रभाव को प्राप्त होता है; इसलिए वह जीव सम्यग्दृष्टि हुआ, धर्मी हुआ, जैन हुआ। पश्चात् अस्थिरता के कारण से जो राग-द्वेष के विकल्प उठें, उनमें एकताबुद्धि नहीं होती और स्वभाव की दृष्टि नहीं हटती, इससे सम्यग्दर्शन धर्म बना रहता है।

(22) यह अपूर्व बात है, जिस प्रकार व्यापार-धन्धे में ब्याज आदि गिनने में ध्यान रखता है, उसी प्रकार यहाँ आत्मा की रुचि करके बराबर ध्यान रखना चाहिए, अन्तर मे मिलान करना चाहिए। यहाँ मङ्गलाचरण में अपूर्व बात आयी है। यह कोई अपूर्व बात है, समझने जैसी है — इस प्रकार रुचि लाकर साठ मिनट तक बराबर

लक्ष्य रखकर सुने तो भी दूसरों की अपेक्षा भिन्न प्रकार का महान पुण्य हो जाये और यदि आत्मा का लक्ष्य रखकर अन्तर में समझे, तब तो जो अनन्त काल नहीं मिला – ऐसे अपूर्व सम्यग्दर्शन का लाभ हो। यह बात सुनने को मिलना भी दुर्लभ है।

(23) 'अपनी पर्याय को मैं अन्तरोन्मुख करता हूँ, पर्याय की क्रिया में परिवर्तन होता जा रहा है, निर्मलता में वृद्धि हो रही है'— ऐसा विकल्प रहे, वह राग है। अन्तरस्वभावोन्मुख होने से उत्तरोत्तर-प्रतिक्षण वह विकल्प नष्ट होता जाता है। जब आत्मा के लक्ष्य से एकाग्र होने लगता है, तब भेद के विकल्प की क्रिया का क्षय हो जाता है और जीव निष्क्रिय चिन्मात्रस्वभाव का अनुभव करता है — ऐसी सम्यग्दर्शन की अन्तर क्रिया है, वही धर्म की प्रथम क्रिया है। आत्मा में जो निर्मलपर्याय प्रगट होती है, वह स्वयं धर्मक्रिया है; परन्तु 'मैं निर्मलपर्याय प्रगट करूँ, अभेद आत्मा की ओर पर्याय को उन्मुख करुँ'— ऐसा जो भेद का विकल्प है, वह राग है; वह धर्म की क्रिया नहीं है, अनुभव के समय उस विकल्प की क्रिया का अभाव है, इससे —'निष्क्रिय चिन्मात्रभाव को प्राप्त होता है'— ऐसा कहा है। निष्क्रिय चिन्मात्रभाव की प्राप्ति ही सम्यग्दर्शन है।

(24) मैं ज्ञाता-दृष्टा हूँ, राग की क्रिया मैं नहीं हूँ — इस प्रकार पहले द्रव्य-गुण-पर्याय का स्वरूप निश्चित करने में राग था, किन्तु द्रव्य-गुण-पर्याय का स्वरूप जानकर अभेदस्वभाव में ढलने से भेद का लक्ष्य छूट जाता है और सम्यग्दर्शन होता है। पहले द्रव्य -गुण-पर्याय को जाना, उसकी अपेक्षा इमसें अनन्तगुना पुरुषार्थ है। यह अन्तरस्वभाव की क्रिया है, इसमें स्वभाव का

अपूर्व पुरुषार्थ है। स्वभाव के अनन्त पुरुषार्थ के बिना यदि संसार से पार हो सकते तो सभी जीव, मोक्ष में चले जाते! पुरुषार्थ के बिना यह बात समझ में नहीं आ सकती; स्वभाव की रुचिपूर्वक अनन्त पुरुषार्थ होना चाहिए। इसे समझने के लिये धैर्यपूर्वक सद्‌गुरुगम से अभ्यास करना चाहिए।

(25) पहले तो अरहन्त के द्रव्य-गुण-पर्याय को जान ले, वह जीव अपने द्रव्य-गुण-पर्याय को जानता है और पश्चात् अन्तर में अपने अभेदस्वभाव की ओर उन्मुख होकर आत्मा को जानने से उसका मोह नष्ट हो जाता है। 'अन्तर में ढलता हूँ, इसलिए तत्काल कार्य प्रगट होगा'—ऐसे विकल्पों को भी छोड़कर, क्रमशः सहज स्वभाव में ढ़लता जाता है, वहाँ मोह निराश्रय होकर नाश को प्राप्त होता है।

(26) इस 80 वीं गाथा में भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने सम्यग्दर्शन का अपूर्व उपाय बतलाया है। जो आत्मा, अरहन्त भगवान के द्रव्य-गुण-पर्याय को जान ले, उसे अपने आत्मा की खबर पड़े कि मैं भी अरहन्त की जाति का हूँ, अरहन्तों की पंक्ति में बैठ सकूँ — ऐसा मेरा स्वभाव है। ऐसा निश्चित कर लेने के पश्चात्, पर्याय में जो कचास (कमी) है, उसे दूर करके अरहन्त जैसी पूर्णता करने के लिये अपने आत्मस्वभाव में ही एकाग्र होना रहा; इसलिए वह जीव अपने आत्मा की ओर उन्मुख होने की क्रिया करता है और सम्यग्दर्शन प्रगट करता है। यह सम्यग्दर्शन प्राप्त करने की क्रिया का वर्णन है। यह धर्म की सबसे पहली क्रिया है। छोटा से छोटा जैनधर्मी अर्थात् अविरत सम्यग्दृष्टि होने की यह बात है। इसे समझे बिना किसी जीव को छठे-सातवें गुणस्थान

www.vitragvani.com

की मुनिदशा अथवा पाँचवें गुणस्थान की श्रावकदशा होती ही नहीं और पञ्च महाव्रत, व्रत, प्रतिमा, त्याग आदि कुछ सच्चा नहीं होता। यह मुनि या श्रावक होने से पूर्व के सम्यग्दर्शन की बात है। वस्तुस्वरूप क्या है, उसे समझे बिना उतावला होकर बाह्य त्याग करने लग जाये तो उससे कहीं धर्म नहीं होता। भरत चक्रवर्ती के छह खण्ड का राज्य था, उनके अरबों वर्ष राजपाट में रहने पर भी ऐसी दशा थी। जिसने आत्मस्वभाव का भान कर लिया, उसे सदैव वह भान रहता है। खाते-पीते समय कभी भी आत्मा का भान न भूले और सदैव ऐसा भान बना रहे— वही निरन्तर करना है। ऐसा भान होने के पश्चात् उसे गोखना नहीं पड़ता। जैसे हजारों अछूतों के मेले में कोई ब्राह्मण जा पहुँचे और मेले के बीच में खड़ा हो, तथापि 'मैं ब्राह्मण हूँ'— इस बात को वही नहीं भूलता; उसी प्रकार धर्मी जीव, अछूतों के मेले की तरह अनेक प्रकार के राज-पाट, व्यापार-धन्धे आदि संयोगों में स्थित दिखायी दें और पुण्य-पाप होते हों; तथापि वे सोते समय भी चैतन्य का भान नहीं भूलते। आसन बिछाकर बैठे तभी धर्म होता है— ऐसा नहीं है, यह सम्यग्दर्शन धर्म तो निरन्तर बना रहता है।

(27) यह बात अन्तर में ग्रहण करने योग्य है। रुचिपूर्वक शान्तचित होकर परिचय करें तो यह बात पकड़ में आ सकती है। अपनी मानी हुई सारी पकड़ को छोड़कर सत्समागम से परिचय किये बिना उकताने से यह बात पकड़ में नहीं आ सकती। **पहले सत्समागम से श्रवण, ग्रहण और धारणा करके शान्तिपूर्वक अन्तर में विचारना चाहिए। यह तो अकेले अन्तर के विचार का कार्य है, परन्तु सत्समागम से श्रवण-ग्रहण-धारणा ही**

न करे तो विचार करके अन्तर में किस प्रकार उतरेगा? अन्तर में अपूर्व रुचि से, आत्मा की गरजपूर्वक अभ्यास करना चाहिए। पैसे में सुख नहीं है, तथापि पैसा मिलने की बात कितनी रुचिपूर्वक सुनता है, किन्तु इस बात से तो आत्मा को मुक्ति प्राप्त हो सकती है, इसे समझने के लिए अन्तर में रुचि और उत्साह होना चाहिए। जीवन में यही करने योग्य है।

(28) पहले स्वभाव की ओर ढ़लने की बात कही, उस समय आत्मा को झूलते हार की उपमा दी थी और फिर अन्तरङ्ग में एकाग्र होकर अनुभव किया, तब अकम्प प्रकाशवाले मणि की उपमा दी है। इस प्रकार 'जिसका निर्मल प्रकाण मणि की भाँति अकम्परूप से वर्तता है — ऐसे उस (चिन्मात्रभाव को प्राप्त हुए) जीव का मोहांधकार निराश्रयता के कारण अवश्यमेव प्रलय को प्राप्त होता है।' जिस प्रकार मणि का प्रकाश पवन से नहीं काँपता; उसी प्रकार यहाँ आत्मा की ऐसी अडिग श्रद्धा हुई कि वह आत्मा की श्रद्धा मे कभी डिगता नहीं है। जहाँ जीव, आत्मा की निश्चल प्रतीति में स्थिर हुआ, वहाँ उसे मिथ्यात्व कहाँ रहेगा? जीव अपने स्वभाव में स्थिर हुआ, वहाँ उसे मिथ्यात्वकर्म का अवश्य क्षय हो जाता है। इसमें क्षायिक सम्यग्दर्शन जैसी बात है। पञ्चम काल के मुनि पञ्चमकाल के जीवों के लिए बात करते हैं, तथापि मोह के क्षय की ही बात की है। क्षयोपशमसम्यक्त्व भी अप्रतिहतरूप से क्षायिक ही होगा— ऐसी बात ली है और पश्चात् क्रमानुसार अकम्परूप से आगे बढ़कर वह जीव, चारित्रदशा प्रगट करके केवलज्ञान प्राप्त करके सिद्ध होता है।

स्वभावानुभव की विधि

(वीर संवत् 2473, प्रथम श्रावण कृष्ण 8, श्री समयसार कलश-109 पर पूज्य सद्गुरुदेवश्री के प्रवचन का संक्षिप्त सार)

सिद्ध भगवान, ज्ञान से सब कुछ मात्र जानते ही हैं, उनके ज्ञान में न तो विकल्प होता है, न राग-द्वेष होता है और न कर्तृत्व की मान्यता होती है; इसी प्रकार समस्त आत्माओं का स्वभाव सिद्धों की ही भाँति ज्ञातृत्वभाव से मात्र जानना ही है। जो इस तत्त्व को जानता है, वह जीव अपने ज्ञानस्वभाव में उन्मुख होकर सर्व विकल्पादि का निषेध करता है। उसके ज्ञानस्वभाव में एकत्वबुद्धि प्रगट हुई है और विकल्प की एकत्वबुद्धि टूट गयी है; अब जो विकल्प आते हैं, उन सबका निषेध करता हुआ आगे बढ़ता है। साधकजीव यह जानता है कि सिद्ध का और मेरा स्वभाव समान ही है, क्योंकि सिद्धों में विकल्प नहीं हैं; अतः वे मुझमें भी नहीं हैं; इसलिए मैं अभी ही अपने स्वभाव के बल से उनका निषेध करता हूँ। मेरे ज्ञान में समस्त रागादि का निषेध ही है। जैसे सिद्ध भगवान मात्र चैतन्य हैं; उसी प्रकार मैं भी मात्र चैतन्य को ही अङ्गीकार करता हूँ।

कभी भी स्वसन्मुख होकर सर्व पुण्य-पाप, व्यवहार का निषेध करना, वही यही मोक्षमार्ग है, तब फिर अभी ही उसका निषेध क्यों न किया जाए? क्योंकि उसका निषेधरूप स्वभाव अभी ही परिपूर्ण विद्यमान है। वर्तमान में ही स्वभाव की प्रतीति करने पर पुण्य-

www.vitragvani.com

पापदि व्यवहार का निषेध स्वयं हो जाता है। जो यह मानता है कि मैं अभी तो पुण्य-पापादि का निषेध नहीं करता, किन्तु बाद में निषेध कर दूँगा —ऐसा जो मानता है, उसे स्वभाव की रुचि नहीं, परन्तु पुण्य-पाप की ही रुचि है, यदि तुझे स्वभाव के प्रति रुचि हो और समस्त पुण्य-पाप व्यवहार के निषेध की रुचि हो तो स्वभावान्मुख होकर अभी ही निषेध करना योग्य है —ऐसा निर्णय कर। रुचि के लिये काल-मर्यादा नहीं होती। श्रद्धा हो, किन्तु श्रद्धा का कार्य न हो —ऐसा नहीं हो सकता। हाँ!

यह बात अलग है कि श्रद्धा में निषेध करने के बाद पुण्य-पाप के दूर होने में थोड़ा समय लग जाए, किन्तु जिसे स्वभाव की रुचि है और जिसकी ऐसी भावना है कि पुण्य -पाप के निषेध की श्रद्धा करने योग्य है - तो वह श्रद्धा में तो पुण्य -पाप का निषेध वर्तमान में ही करता है। यदि कोई वर्तमान में श्रद्धा में पुण्य-पाप का आदर करे तो उसके उनके निषेध की श्रद्धा कहाँ रही ? श्रद्धा तो परिपूर्ण स्वभाव को ही वर्तमान मानती है।

जिसे स्वभाव की रुचि - स्वभाव का आदर हुआ और पुण्य-पाप के विकल्प के निषेध की रुचि एवं आदर हुआ, उसके अन्तरङ्ग से अधैर्य टूट जाता है। अब सम्पूर्ण स्वभाव की रुचि में बीच में जो कुछ भी राग-विकल्प उठता है, उसका निषेध करके स्वभावोन्मुख होना, वही यही एक कार्य रह जाता है। स्वभाव की श्रद्धा के बल से उसका निषेध किया सो किया, अब ऐसा कोई भी विकल्प या राग नहीं आ सकता कि जिसमें एकताबुद्धि हो और एकत्वबुद्धि के बिना होनेवाले जो पुण्य-पाप के विकल्प हैं, उन्हें दूर करने के लिए श्रद्धा में अधैर्य नहीं होता, क्योंकि मेरे स्वभाव में

www.vitragvani.com

वह कोई है ही नहीं — ऐसी जहाँ रुचि हुई कि उसे दूर करने का अधैर्य कैसे हो सकता है? स्वभावोन्मुख होकर उसका निषेध किया है; इसलिए विकल्प अल्प काल में वह दूर हो ही जाता है। ऐसा विकल्प नहीं होता कि 'उसका निषेध करूँ'; किन्तु स्वभाव में वह निषेधरूप ही है; इसलिए स्वभाव का अनुभव/विश्वास करने पर उसका निषेध स्वयं हो जाता है।

जहाँ आत्मस्वभाव की रुचि हुई कि वहीं पुण्य-पाप के निषेध की श्रद्धा हो जाती है। आत्मस्वभाव में पुण्य-पाप नहीं है; इसलिए आत्मा में पुण्य-पाप का निषेध करने योग्य है —ऐसी रुचि जहाँ हुई, वहीं श्रद्धा में पुण्य-पाप-व्यवहार का निषेध हो ही जाता है। रुचि और अनुभव के बीच जो विलम्ब होता है, उसका भी निषेध ही है। जिसे स्वभाव की रुचि हो गयी है, उसे विकल्प को तोड़कर अनुभव करने में भले ही विलम्ब लगे, तथापि उन विकल्पों का तो उसके निषेध ही है। यदि विकल्प का निषेध न हो तो स्वभाव की रुचि कैसी? और यदि स्वभाव की रुचि के द्वारा विकल्प का निषेध होता है तो फिर उस विकल्प को तोड़कर अनुभव होने में उसे शङ्का कैसी? रुचि होने के बाद जो विकल्प रह जाता है, उसका भी रुचि निषेध ही करती है; इसलिए रुचि और अनुभव के बीच काल -भेद की स्वीकृति नहीं है। जिसे स्वभाव की रुचि हो गयी है, उसे रुचि और अनुभव के बीच जो अल्पकालिक विकल्प होता है, उसका रुचि में निषेध है; इस प्रकार जिसे स्वभाव की रुचि हो गयी है, उसे अन्तरङ्ग से अधैर्य नहीं होता, किन्तु स्वभाव की रुचि के बल से ही शेष विकल्पों को तोड़कर अल्प काल में स्वभाव का प्रगट अनुभव करता है।

आत्मा के स्वभाव में व्यवहार का, राग का, विकल्प का निषेध है / अभाव है, तथापि जो व्यवहार को, राग को या विकल्प को आदरणीय मानता है, उसे स्वभाव की रुचि नहीं है और इसलिए वह जीव, व्यवहार का निषेध करके कभी भी स्वभावोन्मुख नहीं हो सकेगा। सिद्ध भगवान के रागादि का सर्वथा अभाव ही हो गया है; इसलिए उन्हें अब व्यवहार का निषेध करके स्वभावोन्मुख होना शेष नहीं रह गया है, किन्तु साधक जीव के पर्याय में रागादि विकल्प और व्यवहार विद्यमान है; इसलिए उसे उस व्यवहार का निषेध करके स्वभावोन्मुख होना है।

हे जीव! यदि स्वभाव में सब पुण्य-पाप इत्यादि का निषेध ही है तो फिर मोक्षार्थी के ऐसा आलम्बन नहीं हो सकता कि 'अभी कोई भी व्यवहार या शास्त्राभ्यास इत्यादि कर लूँ, फिर उसका निषेध कर लूँगा।' इसलिए तू पराश्रित व्यवहार का अवलम्बन छोड़कर सीधा चैतन्य को स्पर्श कर और किसी भी वृत्ति के आलम्बन की शल्य में न अटक। सिद्ध भगवान की भाँति तेरे स्वभाव में मात्र चैतन्य है, उस चैतन्यस्वभाव को ही स्पष्टतया स्वीकार कर, उसमें कहीं रागादि दिखायी ही नहीं देते; जबकि रागादिक हैं ही नहीं, तब फिर उनके निषेध का विकल्प कैसा? स्वभाव की श्रद्धा को किसी भी विकल्प का अवलम्बन नहीं होता। जिस स्वभाव में राग नहीं है, उसकी श्रद्धा भी राग से नहीं होती। इस प्रकार सिद्ध के समान अपने आत्मा के ध्यान के द्वारा चैतन्य पृथक् अनुभव में आता है और वहाँ सर्व व्यवहार का निषेध स्वयंमेव हो जाता है। यही साधकदशा का स्वरूप है।

पुनीत सम्यग्दर्शन

'आत्मा है, पर से भिन्न है, पुण्य-पाप रहित ज्ञाता ही है' —इतना मात्र जान लेने से सम्यग्दृष्टि नहीं हो सकता, क्योंकि ऐसा तो अनन्त संसारी जीव हों वे भी जानते हैं। जानना तो ज्ञान के विकास का कार्य है, उसके साथ परमार्थ के सम्यग्दर्शन का सम्बन्ध नहीं है।

मैं आत्मा हूँ और पर से भिन्न हूँ — इतना मात्र मान लेना यथार्थ नहीं है, क्योंकि आत्मा में मात्र अस्तित्व ही नहीं है और मात्र ज्ञातृत्व ही नहीं है, परन्तु आत्मा में ज्ञान, दर्शन, श्रद्धा, सुख, वीर्य, इत्यादि अनन्त गुण हैं। उस अनन्त गुणस्वरूप आत्मा के स्वानुभव के द्वारा जब तक आत्मसन्तोष न हो, तब तक सम्यग्दृष्टिपना नहीं होता।

नव तत्त्वों का ज्ञान तथा पुण्य-पाप से आत्मा भिन्न है, ऐसा जो ज्ञान है, इन सबका प्रयोजन स्वानुभव ही है। स्वानुभव की गन्ध न हो और मात्र विकल्पों के द्वारा ज्ञान में जो कुछ जाना है, उतने ज्ञातृत्व में ही सन्तोष मानकर अपने को स्वयं ही सम्यग्दृष्टि माने तो उस मान्यता में सम्पूर्ण परम आत्मस्वभाव का अनादर है। विकल्परूप ज्ञातृत्व से अधिक कुछ भी न होने पर भी, जो जीव अपने में सम्यग्दृष्टिपना मान लेता है, उस जीव को परम कल्याणकारी सम्यग्दर्शन के स्वरूप की ही खबर नहीं है। सम्यग्दर्शन अभूतपूर्व वस्तु है, वह ऐसी मुफ्त की चीज नहीं है कि जो विकल्प के द्वारा

प्राप्त हो जावे, किन्तु परम पवित्र स्वभाव के साथ परिपूर्ण सम्बन्ध रखनेवाला सम्यग्दर्शन विकल्पों से परे, सहज स्वभाव के स्वानुभव प्रत्यक्ष से प्राप्त होता है। जब तक सहज स्वभाव का स्वानुभव, स्वभाव की साक्षी से प्राप्त नहीं होता, तब तक उसी में सन्तोष न मानकर सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के परम उपाय में निरन्तर जाग्रत रहना चाहिए - यह निकट भव्यात्माओं का कर्तव्य है, परन्तु 'मुझे तो सम्यग्दर्शन प्राप्त हो चुका है, अब मात्र चारित्रमोह रह गया है'— ऐसा मानकर, बैठे रहकर, पुरुषार्थ हीनता का शुष्कता का सेवन नहीं करना चाहिए। यदि जीव ऐसा करेगा तो स्वभाव उसकी साक्षी नहीं देगा और सम्यग्दृष्टिपने के झूठे भ्रम में ही जीवन व्यर्थ चला जायेगा। इसलिए ज्ञानीजन सचेत करते हुए कहते हैं कि - 'ज्ञान, चारित्र और तप तीनों गुणों को उज्ज्वल करनेवाली सम्यक् श्रद्धा प्रधान आराधना है! एक सम्यक्त्व की अकथ और अपूर्व महिमा को जानकर उस पवित्र कल्याणमूर्तिस्वरूप सम्यग्दर्शन को अनन्तानन्त दुःखरूप अनादि संसार की आत्यान्तिक निवृत्ति के हेतु, हे भव्य जीवो! भक्तिपूर्वक अङ्गीकार करो, प्रतिसमय आराधन करो।' *(—आत्मानुशासन - गाथा-10)*

निःशङ्क सम्यग्दर्शन होने से पूर्व सन्तोष मान लेना और उस आराधना को एक ओर छोड़ देना, इसमें अपने आत्मस्वभाव का और कल्याणमूर्ति सम्यग्दर्शन का महा अपराध और अभक्ति है, जिसके महादुःखदायी फल का वर्णन नहीं किया जा सकता। **जैसे सिद्धों का वर्णन नहीं किया जा सकता; उसी प्रकार मिथ्यात्व के दुःख का वर्णन नहीं किया जा सकता।**

आत्मवस्तु मात्र द्रव्यरूप नहीं, किन्तु द्रव्य-गुण-पर्याय-स्वरूप

www.vitragvani.com

है। 'आत्मा, अखण्ड शुद्ध है,' जो ऐसा सुनकर मान ले, परन्तु पर्याय को न समझे, अशुद्ध और शुद्धपर्याय का विवेक न करे, उसे सम्यक्त्व नहीं हो सकता। कदाचित् ज्ञान के विकास से द्रव्य-गुण-पर्याय के स्वरूप को (विकल्प ज्ञान के द्वारा) जान ले, तथापि इतने मात्र से जीव का यथार्थ प्रयोजन सिद्ध नहीं होता, क्योंकि वस्तुस्वरूप में एकमात्र ज्ञानगुण ही नहीं, परन्तु श्रद्धा, सुख इत्यादि अनन्त गुण हैं और जब वे सभी गुण अंशत: स्वभावरूप कार्य करते हैं, तभी जीव का सम्यग्दर्शनरूपी प्रयोजन सिद्ध होता है। ज्ञानगुण ने विकल्प के द्वारा आत्मा को जानने का कार्य किया, परन्तु तब दूसरी ओर श्रद्धागुण मिथ्यात्वरूप कार्य कर रहा है और आनन्दगुण आकुलता संवेदन कर रहा है - यह सब भूल जाये और मात्र ज्ञान से ही सन्तोष मान ले तो ऐसा माननेवाला जीव सम्पूर्ण आत्मद्रव्य को मात्र ज्ञान के एक विकल्प में ही बेच देता है।

मात्र द्रव्य से ही सन्तोष नहीं मान लेना चाहिए; क्योंकि द्रव्य-गुण तो सिद्धों के और निगोदिया जीवों के - दोनों के हैं। यदि द्रव्य-गुण से ही महत्ता मानी जाये तो निगोदियापन भी महिमावान क्यों न कहलायेगा? किन्तु नहीं, नहीं; सच्ची महत्ता तो पर्याय से है। पर्याय की शुद्धता ही भोगने में काम आती है, कहीं द्रव्य-गुण की शुद्धता भोगने में काम नहीं आती, (क्योंकि वह तो अप्रगटरूप है - शक्तिरूप है) इसलिए अपनी वर्तमान पर्याय में सन्तोष न मानकर, पर्याय की शुद्धता को प्रगट करने के लिए पवित्र सम्यग्दृष्टि प्राप्त करने का अभ्यास करना चाहिए।

'अहो! अभी पर्याय में बिल्कुल पामरता है, मिथ्यात्व को अनन्त काल की जूठन समझकर इसी क्षण ओक देने की (वमन

कर डालने की) आवश्यकता है। जब तक यह पुरानी जूठन पड़ी रहेगी, तब तक नया मिष्ट भोजन न तो रुचेगा और न पच सकेगा'— इस प्रकार जीव को जब तक अपनी पर्याय की पामरता भाषित नहीं होती, तब तक उसकी दशा सम्यक्त्व के सन्मुख भी नहीं है।

अरे...रे..! परिणामों में अनेक प्रकार का झंझावत आ रहा हो; परिणति का सहजरूप से आनन्दभाव होने की जगह मात्र कृत्रिमता और भय-शङ्का के झोंके आते हों, प्रत्येक क्षण की परिणति विकार के भार के नीचे दब रही हो; कदापि शान्त आत्मसन्तोष का लेशमात्र अन्तरङ्ग में न पाया जाता हो, तथापि अपने को सम्यग्दर्शन मान लेना कितना अपार दम्भ है! कितनी अज्ञानता है और कितनी घोर आत्मवंचना है! केवली प्रभु का आत्मपरिणमन सहजरूप से केवलज्ञानमय परमसुखदशारूप हो ही रहा है। सहजरूप से परिणमित होनेवाले केवलज्ञान का मूलकारण सम्यकत्व ही है, तब फिर उस सम्यक्त्व सहित जीव का परिणाम कितना सहज होगा! उसकी आत्म-जागृति निरन्तर केसी प्रर्वतमान होगी!!

जो अल्प काल में केवलज्ञान जैसी परम सहजदशा की प्राप्ति कराता है, ऐसे इस कल्याणमूर्ति सम्यग्दर्शन को कल्पना द्वारा कल्पित कर लेने में अनन्त केवली भगवन्तों का और सम्यग्दृष्टियों का कितना घोर अनादर है! यह तो एक प्रकार से अपने आत्मा की पवित्रदशा का ही अनादर है।

सम्यक्त्वदशा की प्रतीति में पूरा आत्मा आ जाता है, उस सम्यक्त्वदशा के होने पर स्वयं को आत्मसाक्षी से सन्तोष होता है, निरन्तर आत्म-जागृति रहती है, कहीं भी उसकी आत्म-परिणति

फँसती नहीं है, उसके भावों में कदापि आत्मा के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं भी आत्म-समर्पणता नहीं आ पाती — जहाँ ऐसी दशा की प्रतीति भी न हो, वहाँ सम्यग्दर्शन हो ही नहीं सकता।

बहुत से जीव, कुधर्म में ही अटके हुए हैं, परन्तु अहा! परम सत्यस्वरूप को सुनते हुए भी, विकल्पज्ञान से जानते हुए भी, 'यही सत्य है' —ऐसी प्रतीति करके, अपना आन्तरिक परिणमन तद्रूप किये बिना सम्यक्त्व की पवित्र आराधना को अपूर्ण छोड़कर उसी में सन्तोष मान लेनेवाले जीव भी तत्त्व का अपूर्व लाभ नहीं पा सकते।

इसलिए अब आत्मकल्याण के हेतु यह निश्चय करना चाहिए कि अपनी वर्तमान में होनेवाली यथार्थ दशा कैसी है — यह निर्णय करना और भ्रम को दूर करके रत्नत्रय की आराधना में निरन्तर प्रर्वतना / यही परम पावन कार्य है।

सम्यक्त्व की आराधना

''ज्ञान-चारित्र और तप इन तीनों गुणों को उज्ज्वल करनेवाली —ऐसी यह सम्यक् श्रद्धा प्रधान आराधना है। शेष तीन आराधनाएँ एक सम्यक्त्व की विद्यमानता में ही आराधक भाव से वर्तती है। इस प्रकार सम्यक्त्व की अकथ्य, अपूर्व महिमा जानकर उस पवित्र कल्याण मूर्तिरूप सम्यग्दर्शन को इस अनन्तानन्त दुःखरूप —ऐसे अनादि संसार की अत्यंतिक निवृत्ति के अर्थ हे भव्यो! तुम भक्तिपूर्वक अङ्गीकार करो! प्रति समय आराधो।''

—आत्मानुशासन

धर्मात्मा की स्वरूप - जागृति

सम्यग्दृष्टि जीव के सदा स्वरूप-जागृति रहती है। सम्यग्दर्शन होने के पश्चात् चाहे जिस परिस्थिति में रहते हुए भी, उस जीव को स्वरूप की अनाकुलता का आंशिक वेदन तो हुआ ही करता है, किसी भी परिस्थिति में पर्याय की ओर का वेग ऐसा नहीं होता कि जिससे निराकुल स्वभाव के वेदन को बिलकुल ढँककर मात्र आकुलता का वेदन होता रहे। सम्यग्दृष्टि को प्रतिक्षण निराकुलस्वभाव और आकुलता के बीच भेदज्ञान रहता है और उसके फलस्वरूप वह प्रतिक्षण निराकुलस्वभाव का आंशिक वेदन करता है, ऐसा चौथे गुणस्थान में रहनेवाले धर्मात्मा का स्वरूप है। बाह्य क्रियाओं से स्वरूप-जागृति का अनुमान नहीं लगाया जा सकता। शरीर से शान्त बैठा हो तो ही अनाकुलता कहलाती है और जब लड़ रहा हो, उस समय अनाकुलता किञ्चित् नहीं हो सकती —ऐसी बात नहीं है; अज्ञानी जीव बाह्य से शान्त बैठा दिखायी देता है, तथापि अन्तरङ्ग में तो वह विकार में ही लवलीन होने से एकान्त आकुलता ही भोगता है, उसे किञ्चित् स्वरूप-जागृति नहीं है और ज्ञानी जीव को युद्ध के समय भी अन्तरङ्ग मे विकारभाव के साथ तन्मयता नहीं रहती। इससे उस समय भी उसे आकुलतारहित आंशिक शान्ति का वेदन होता है — इतनी स्वरूप-जागृति तो धर्मात्मा के रहती ही है। ऐसी स्वरूप-जागृति ही धर्म है, दूसरा कोई धर्म नहीं।

हे भव्य! इतना को अवश्य करना!

आचार्यदेव सम्यग्दर्शन मुख्य जोर देकर कहते हैं कि **हे भाई! तुझसे अधिक न हो तो भी थोड़े में थोड़ा सम्यग्दर्शन तो अवश्य रखना। यदि तू इससे भ्रष्ट हो गया तो किसी भी प्रकार तेरा कल्याण नहीं होगा। चारित्र की अपेक्षा सम्यग्दर्शन में अल्प पुरुषार्थ है; इसलिए सम्यग्दर्शन अवश्य करना सम्यग्दर्शन का ऐसा स्वभाव है कि जो उसे धारण करते हैं, वे जीव क्रमशः शुद्धता की वृद्धि करके अल्प काल में मुक्तदशा प्राप्त कर लेते हैं। वह जीव को अधिक समय तक संसार में नहीं रहने देता।** आत्मकल्याण का मूलकारण सम्यग्दर्शन है, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकता पूर्ण मोक्षमार्ग है। हे भाई! यदि तुझसे सम्यग्दर्शनपूर्वक राग को छोड़कर चारित्रदशा प्रगट हो सके तो वह अच्छा है और यही करने योग्य है, किन्तु यदि तुझसे चारित्रदशा प्रगट न हो सके तो कम से कम आत्मस्वभाव की यथार्थ श्रद्धा तो अवश्य करना, इस श्रद्धामात्र से भी अवश्य तेरा कल्याण होगा।

मात्र सम्यग्दर्शन से भी तेरा आराधकत्व चलता रहेगा। वीतरागदेव के कहे हुए व्यवहार का विकल्प भी हो तो उसे भी बन्धन मानना। पर्याय में राग होता हो, तथापि ऐसी प्रतीति रखना कि राग मेरा स्वभाव नहीं है और इस राग के द्वारा मुझे धर्म नहीं है। ऐसे रागरहित स्वभाव की श्रद्धासहित यदि रागरहित चारित्रदशा हो सके तो वह प्रगट करके स्वरूप में स्थिर हो जाना, किन्तु यदि ऐसा

न हो सके और राग रह जाये तो उस राग को मोक्ष का हेतु नहीं मानना; रागरहित अपने चैतन्यस्वभाव की श्रद्धा रखना।

कोई ऐसा माने कि पर्याय में राग हो, तब तक रागरहित स्वभाव की श्रद्धा कैसे हो सकती है ? पहले राग दूर हो जाए, फिर रागरहित स्वभाव की श्रद्धा हो। इस प्रकार जो जीव, राग को ही अपना स्वरूप मानकर सम्यक्श्रद्धा भी नहीं करता, उससे आचार्य भगवान कहते हैं कि हे जीव ! तू पर्यायदृष्टि के राग को अपना स्वरूप मान रहा है, किन्तु पर्याय में राग होते हुए भी, तू पर्यायदृष्टि छोड़कर स्वभावदृष्टि से देख तो तुझे रागरहित अपने स्वरूप का अनुभव हो ! जिस समय क्षणिक पर्याय में राग है, उसी समय ही रागरहित त्रिकाली स्वभाव है; इसलिए पर्यायदृष्टि छोड़कर, तू अपने रागरहित स्वभाव की प्रतीति रखना; इस प्रतीति के बल से अल्प काल में राग दूर हो जाएगा, किन्तु इस प्रतीति के बिना कभी राग नहीं टल सकेगा।

'पहले राग दूर हो जाये तो मैं रागरहित स्वभाव की श्रद्धा करूँ'— ऐसा नहीं है। आचार्यदेव कहते हैं कि पहले तू रागरहित स्वभाव की श्रद्धा कर तो उस स्वभाव की एकाग्रता द्वारा राग दूर हो। **'राग दूर हो तो श्रद्धा करूँ' अर्थात् 'पर्याय सुधरे तो द्रव्य मानूँ' —ऐसी जिसकी मान्यता है, वह जीव, पर्यायदृष्टि है - पर्यायमूढ़ है; उसके स्वभावदृष्टि नहीं है और वह मोक्षमार्ग के क्रम को नहीं जानता, क्योंकि सम्यक्श्रद्धा के पहले सम्यक्चारित्र की इच्छा रखता है। 'रागरहित स्वभाव की प्रतीति करूँ तो राग दूर हो', ऐसे अभिप्राय में द्रव्यदृष्टि है और द्रव्यदृष्टि के बल से पर्याय में निर्मलता प्रगट होती है।**

www.vitragvani.com

मेरा स्वभाव रागरहित है, ऐसे वीतराग अभिप्रायसहित (स्वभाव के लक्ष्य से अर्थात् द्रव्यदृष्टि से) जो परिणमन हुआ, उसमें प्रतिक्षण राग दूर होता है और अल्प काल में उसका नाश होता है, यह सम्यग्दर्शन की महिमा है, किन्तु जो पर्यायदृष्टि ही रखकर अपने को रागयुक्त जान ले तो राग किस प्रकार दूर हो? 'मैं रागी हूँ' —ऐसे रागीपन के अभिप्राय से (विकार के लक्ष्य से, पर्यायदृष्टि से) जो परिणमन होता है, उसमें राग की उत्पत्ति हुआ करती है, किन्तु राग से दूर नहीं होता। इसलिए पर्याय में राग होने पर भी, उसी समय पर्यायदृष्टि को छोड़कर, स्वभावदृष्टि से रागरहित चैतन्यस्वभाव की श्रद्धा करना आचार्य भगवान बतलाते हैं और यही मोक्षमार्ग का क्रम है।

आत्मार्थी का यह प्रथम कर्तव्य है कि यदि पर्याय में राग छूट न हो सके तो भी 'मेरा स्वरूप रागरहित है, ऐसी श्रद्धा अवश्य करना चाहिये' आचार्यदेव कहते हैं कि यदि तुझसे चारित्र नहीं हो सकता तो श्रद्धा में टालमटोल मत करना। अपने स्वभाव को अन्यथा नहीं मानना। हे जीव! तू अपने स्वभाव को स्वीकार कर, स्वभाव जैसा है, उसे वैसा ही मान। जिसने पूर्ण स्वभाव को स्वीकार करके सम्यग्दर्शन को टिका रखा है, यह जीव अल्प काल में ही स्वभाव के बल से स्थिरता प्रगट करके मुक्त हो जाएगा। मुख्यतः पञ्चम काल के जीवों से आचार्यदेव कहते हैं कि – इस दग्ध पञ्चम काल में तुम शक्तिरहित हो, किन्तु तब भी केवल शुद्धात्मस्वरूप का श्रद्धान तो अवश्य करना। इस पञ्चम काल में साक्षात् मुक्ति नहीं है, किन्तु भवभय को नाश करनेवाला

www.vitragvani.com

जो अपना स्वभाव है, उसकी श्रद्धा करना, यह निर्मल बुद्धिमान जीवों का कर्तव्य है। अपने भवरहित स्वभाव की श्रद्धा से अल्प काल में ही भवरहित हो जाएगा। इसलिए हे भाई! पहले तू किसी भी प्रयत्न से परम पुरुषार्थ के द्वारा सम्यग्दर्शन प्रगट कर।

प्रश्न — आप सम्यग्दर्शन का अपार माहात्म्य बतलाते हैं, यह तो ठीक है, यही करने योग्य है, किन्तु यदि उसका स्वरूप समझ में न आये तो क्या करना चाहिए?

उत्तर — सम्यग्दर्शन के अतिरिक्त आत्मकल्याण का दूसरा कोई मार्ग / उपाय तीन काल-तीन लोक में नहीं है; इसलिए जब तक सम्यग्दर्शन का स्वरूप समझ में न आये, तब तक उसका ही अभ्यास निरन्तर करते रहना चाहिए। आत्मस्वभाव की यथार्थ समझ का ही प्रयत्न करते रहना चाहिए, यही सीधा-सच्चा उपाय है। यदि तुझे आत्मस्वभाव की यथार्थ रुचि है और सम्यग्दर्शन की अपार महिमा को समझकर उसकी अभिलाषा हुई है तो तेरा समझने का प्रयत्न व्यर्थ नहीं जाएगा। स्वभाव की रुचिपूर्वक जो जीव, सत् के समझने का अभ्यास करना है, उस जीव के प्रतिक्षण मिथ्यात्वभाव की मन्दता होती है। एकक्षण भी समझने का प्रयत्न निष्फल नहीं जाता, किन्तु प्रतिक्षण उसका कार्य होता ही रहता है। स्वभाव की प्रीति से जो जीव समझना चाहता है, उस जीव के ऐसी निर्जरा प्रारम्भ होती है, जो कभी अनन्त काल में भी नहीं हुई थी। श्री पद्मनन्दि आचार्य ने कहा है कि — इस चैतन्यस्वरूप आत्मा की बात भी जिस जीव ने प्रसन्नचित से सुनी है, वह मुक्ति के योग्य है।

इसलिए हे भव्य! इतना तो अवश्य करना।

महापाप-मिथ्यात्व (1)

परद्रव्य के प्रति राग होने पर भी, जो जीव — मैं सम्यग्दृष्टि हूँ, मुझे बन्ध नहीं होता —ऐसा मानता है, उसके सम्यक्त्व कैसा? वह व्रत, समिति इत्यादि का पालन करे तो भी स्व-पर का ज्ञान न होने से वह पापी ही है। मुझे बन्ध नहीं होता —ऐसा मानकर जो स्वच्छन्द प्रवृत्ति करते हैं, उनके भला सम्यग्दर्शन कैसा?

यदि यहाँ कोई पूछे कि — 'व्रत-समिति' तो शुभ कार्य हैं, तो फिर व्रत-समिति को पालने पर भी उस जीव को पापी क्यों कहा?

समाधान — सिद्धान्त में पाप मिथ्यात्व को ही कहा है। जहाँ तक मिथ्यात्व रहता है, वहाँ तक शुभ-अशुभ सर्व क्रियाओं को अध्यात्म में परमार्थ से पाप ही कहा जाता है, फिर व्यवहारनय की प्रधानता में व्यवहारी जीवों को अशुभ से छुड़ाकर शुभ में लगाने के लिये शुभक्रिया को कथंचित् पुण्य भी कहा जाता है। ऐसा कहने से स्याद्वादमत में कोई विरोध नहीं है। *(—श्री समयसार कलश - 137 का भावार्थ)*

महापाप-मिथ्यात्व (2)

सच्चे देव-शास्त्र-गुरु-धर्म के लिए तन-मन-धन-सर्वस्व समर्पित करे, सिरच्छेद होने पर भी कुगुरु-कुदेव-कुधर्म को न माने, कोई शरीर को जला दे तो भी मन में क्रोध न करे और परिग्रह में वस्त्र का एक तार भी न रखे, तथापि आत्मा की पहिचान के बिना जीव की दृष्टि पर के ऊपर और शुभराग पर रह जाती है; इसलिए उसका मिथ्यात्व का महापाप दूर नहीं होता। **स्वभाव को और राग को उनके निश्चित लक्षणों के द्वारा भिन्न-भिन्न जान लेना ही सम्यग्दर्शन का यथार्थ कारण है। निमित्त का अनुसरण करनेवाले भाव और उपादान का अनुसरण करतेवाले भाव-दोनों भिन्न-भिन्न हैं। प्रारम्भ में कथित वे सभी भाव, निमित्त का अनुसरण करते हैं। निमित्त के बदल जाने से सम्यग्दर्शन नहीं होता, किन्तु निमित्त की ओर के लक्ष्य को बदलकर उपादान में लक्ष्य करे तो सम्यग्दर्शन होता है। निमित्त के लक्ष्य से बन्ध है और उपादान के लक्ष्य से मुक्ति होती है।**

(—मार्गशीर्ष शुक्ल 1, संवत् 2002 समयसार के प्रवचन से)

सम्यग्दर्शन बिना सब कुछ किया .... परन्तु उससे क्या ?

(आत्मानुभव प्रगट करने का उपाय बतानेवाला श्री समयसार, गाथा-142 पर एक सुन्दर व्याख्यान)

एकमात्र सम्यग्दर्शन के अतिरिक्त जीव अनन्त काल में सब कुछ कर चुका है, किन्तु सम्यग्दर्शन कभी एक क्षणमात्र भी प्रगट नहीं किया। यदि एक क्षणमात्र भी सम्यग्दर्शन प्रगट करे तो उसकी मुक्ति हुए बिना न रहे। आत्मकल्याण का उपाय क्या है सो बताते हैं। विकल्पमात्र का अवलम्बन छोड़कर, जब तक जीव शुद्धात्म स्वभाव का अनुभव न करे, तब तक उसका कल्याण नहीं होता। शुद्धात्मस्वरूप का अनुभव किये बिना जीव जो कुछ भी करता है, वह सब व्यर्थ है, उससे आत्मकल्याण नहीं होता।

कई जीव यह मानते हैं कि हमें पाँच लाख रुपया मिल जाये तो हम सुखी हो जायें; किन्तु ज्ञानी कहते हैं कि हे भाई! यदि पाँच लाख रुपया मिल गये तो उससे क्या? क्या रुपयों में आत्मा का सुख है? रुपया तो जड़ हैं, वे कहीं आत्मा में प्रवेश नहीं कर जाते और उनमें कहीं आत्मा का सुख नहीं है। सुख तो आत्मस्वभाव में है। उस स्वभाव का अनुभव नहीं किया तो फिर रुपया मिले इससे क्या? जबकि आत्मस्वभाव की प्रतीति नहीं है, तब रुपयों में ही सुख मानकर, रुपयों के लक्ष्य से उलटा आकुलता का ही वेदन करके दुःखी होगा।

www.vitragvani.com

प्रश्न — जब तक आत्मा का अनुभव नहीं हो, तब तक व्रत, तप इत्यादि करने से तो कल्याण होता है न?

उत्तर — आत्म-प्रतीति के बिना व्रत, तपादि का शुभराग किया तो उससे क्या? वह तो राग है, जिससे आत्मा को बन्धन होता है और उससे धर्म मानने से मिथ्यात्व की पुष्टि होती है; आत्मानुभव के बिना किसी भी प्रकार सुख नहीं, धर्म नहीं और कल्याण नहीं होता।

प्रश्न — यदि सम्पूर्ण सुख-सुविधायुक्त विशाल महल बनवाकर उनमें रहे, तब तो सुखी होता है न?

उत्तर — यदि विशाल भवनों में रहा तो इससे क्या? क्या भवन में से आत्मा का सुख आता है? महल तो जड़-पत्थर का है, आत्मा कहीं उससे प्रविष्ट नहीं हो जाता। **आत्मा तो अपनी पर्याय में विकार को भोगता है। अपने स्वभाव को भूलकर महलों में सुख माना, यही महा पराधीनता और दुःख है।** उस जीव को बड़े-बड़े भवनों का बाह्य संयोग हो तो उससे आत्मा को क्या? कोई जीव, सम्यग्दर्शन के बिना त्यागी हो और व्रत अङ्गीकार करे, किन्तु उससे क्या? सम्यग्दर्शन के बिना धर्म नहीं होता।

किसी जीव ने शास्त्रज्ञान के द्वारा आत्मा को जान लिया अर्थात् शास्त्रों को पढ़कर या सुनकर यह जान लिया कि 'मैं शुद्ध हूँ, मेरे स्वरूप में राग-द्वेष नहीं है, आत्मा, परद्रव्य से भिन्न है और पर का कुछ नहीं कर सकता, तो भी आचार्यदेव कहते हैं कि इससे क्या? यह तो पर के लक्ष्य से जानना हुआ, ऐसा ज्ञान तो अनन्त संसारी अज्ञानी जीव भी करते हैं, परन्तु स्वसन्मुख पुरुषार्थ के द्वारा

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

विकल्प का अवलम्बन तोड़कर, जब तक स्वयं स्वानुभव न करे, तब तक जीव को सम्यग्दर्शन नहीं हो सकता और उसका कल्याण नहीं हो सकता।'

समयसार की 141वीं गाथा में कहा है कि — **'जीव में कर्म बँधा हुआ है तथा स्पर्शित है, ऐसा व्यवहारनय का कथन है' टीका - .... जीव में कर्म बद्धस्पृष्ट है, ऐसा व्यवहारनय का पक्ष है..... जीव में कर्म अबद्धस्पृष्ट है, ऐसा निश्चयनय का पक्ष है। अब आचार्यदेव कहते हैं कि — 'किन्तु इससे क्या? जो आत्मा इन दोनों नयों को पार कर चुका है, वही समयसार है'** — इस प्रकार 142वीं गाथा में कहते हैं।'

परद्रव्यों के संयोग-वियोग से आत्मा को लाभ होता है - इस मान्यता का पहले ही निषेध किया है और इस स्थूल मान्यता का भी निषेध किया है कि पुण्य से धर्म होता है। इस प्रकार पर की ओर के विचार को और स्थूल मिथ्यामान्यता को छोड़कर, अब जो स्वोन्मुख होना चाहता है, ऐसा जीव एक आत्मा में 'निश्चय से शुद्ध और व्यवहार से अशुद्ध' —ऐसे दो भेद करके, उसके विचार में अटक रहा है, किन्तु विकल्प से पार होकर साक्षात् अनुभव नहीं करता, उसे वह विकल्प छुड़ाकर अनुभव कराने के लिए आचार्यदेव ने यह 142वीं गाथा कही है।

अन्य पदार्थों का विचार छोड़कर एक आत्मा में दो विभेदों (पहलुओं) के विचार में लग गया, किन्तु आचार्यदेव कहते हैं कि इससे क्या? जब तक वह विकल्प के अवलम्बन में रुका रहेगा, तब तक धर्म नहीं है; इसलिए जैसा स्वभाव है, वैसा ही अनुभव कर। अनुभव करनेवाली पर्याय स्वयं द्रव्य में लीन-एकाकार हो

www.vitragvani.com

जाती है और उस समय विकल्प टूट जाता है, ऐसी दशा ही समयसार है, वही सम्यग्दर्शन है, वही सम्यग्ज्ञान है।

परवस्तु में सुख है या मैं पर का कार्य कर सकता हूँ और मेरा कार्य पर से होता है - यह स्थूल मिथ्या मान्यता है और आत्मा को अमुक वस्तु खपती है, अमुक नहीं खपती —ऐसा विकल्प भी स्थूल परिणाम है, उसमें धर्म नहीं है और मैं 'शुद्ध आत्मा हूँ तथा राग मेरा स्वरूप नहीं है', ऐसा रागमिश्रित विचार करना भी धर्म नहीं है। इस राग का अवलम्बन छोड़कर, आत्मस्वभाव का अनुभव करना, वह धर्म है। एकबार विकल्प को तोड़कर शुद्धस्वभाव का अनुभव करने के बाद जो विकल्प उठते हैं, उन विकल्पों में सम्यग्दृष्टि जीव को एकत्वबुद्धि नहीं होती, इसलिए वे विकल्पमात्र अस्थिरतारूप दोष हैं; परन्तु वे सम्यग्दर्शन या सम्यग्ज्ञान को मिथ्या नहीं करते, क्योंकि विकल्प के समय भी सम्यग्दृष्टि को उनका निषेध वर्तता है।

कितने ही अज्ञानी ऐसी शङ्का करते हैं कि यदि जीव को सम्यग्दर्शन हुआ हो और आत्मा की प्रतीति हो गयी हो तो उसे खाने-पीने इत्यादि का राग कैसे होता है? किन्तु ज्ञानी कहते हैं कि सम्यग्दृष्टि के राग हुआ तो इससे क्या? उस राग के समय उसके निषेधक सम्यक्श्रद्धा और ज्ञान होते हैं या नहीं? जो राग होता है, वह श्रद्धा-ज्ञान को मिथ्या नहीं करता। ज्ञानी को चारित्र की कमजोरी से राग होता है, वहाँ अज्ञानी उस राग को ही देखता है; परन्तु राग का निषेध करनेवाले श्रद्धा और ज्ञान को नहीं पहचानता।

मिथ्यादृष्टि जीव, स्वभाव का अनुभव करने के लिए ऐसा विचार करता है कि 'स्वभाव से मैं अबन्ध निर्दोष तत्त्व हूँ और

www.vitragvani.com

पर्यायदृष्टि से बँधा हुआ हूँ — इस प्रकार मन के अवलम्बन से, शास्त्र के लक्ष्य से रागरूपवृत्ति का उत्थान करता है, परन्तु स्वभाव के अवलम्बन से उस रागरूपवृत्ति को तोड़कर अनुभव नहीं करता, तब तक उसे सम्यग्दर्शन नहीं होता।' कोई जीव जैनदर्शन के अनेक शास्त्रों को पढ़कर महापण्डित हो गया अथवा कोई जीव बहुत समय से बाह्य-त्यागी हुआ और उसी में धर्म मान लिया, किन्तु ज्ञानी कहते हैं कि इससे क्या? इससे धर्म कहाँ है? पर के अवलम्बन में अटककर धर्म मानना मिथ्यादृष्टि का काम है। रागमात्र का अवलम्बन छोड़कर, स्वभाव के आश्रय से निर्णय और अनुभव करना सम्यग्दृष्टि का धर्म है और उसके बाद ही चारित्रदशा होती है। राग का अवलम्बन तोड़कर आत्मस्वभाव का निर्णय और अनुभव न करे और दान, दया, शील, तप इत्यादि सब कुछ करता रहे तो इससे क्या? यह तो सब राग है, इसमें धर्म नहीं है।

आत्मा ज्ञानस्वरूप है, रागस्वरूप नहीं है। ज्ञानस्वरूप में वृत्ति का उत्थान ही नहीं है। 'मैं त्रिकाल अबन्ध हूँ' — ऐसा विकल्प भी ज्ञानस्वरूप में नहीं है। यद्यपि निश्चय से आत्मा त्रिकाल अबन्धरूप ही है —यह बात तो इसी प्रकार ही है, परन्तु जो अबन्धस्वभाव है, वह 'मैं अबन्ध हूँ' —ऐसे विकल्प की अपेक्षा नहीं रखता, अर्थात् 'मैं अबन्ध हूँ' —ऐसे विकल्प का अवलम्बन अबन्धस्वभाव की श्रद्धा को नहीं है। विकल्प तो राग है, विकार है; वह आत्मा नहीं है। उस विकल्प के अवलम्बन से आत्मानुभव नहीं होता।

'मैं अबन्धस्वरूप हूँ' —ऐसे विचार का अवलम्बन

www.vitragvani.com

निश्चयनय का पक्ष (राग) है और 'मैं बँधा हुआ हूँ' —ऐसे विचार का अवलम्बन व्यवहार का पक्ष (राग) है। यह नयपक्ष –बुद्धि मिथ्यात्व है। इस विकल्परूप निश्चयनय का पक्ष जीव ने पहले अनन्त बार किया है, परन्तु स्वभाव का आश्रयरूप निश्चयनय कभी प्रगट नहीं हुआ। समयसार की ग्यारहवीं गाथा के भावार्थ में कहा है कि 'शुद्धनय का पक्ष भी भी नहीं हुआ', यहाँ 'शुद्धनय का पक्ष' कहा है और वही सम्यग्दर्शन है। वहाँ जिसे शुद्धनय का पक्ष कहा है, उसे यहाँ 'नयातिक्रान्त' कहा है और वह मुक्ति का कारण है। ग्यारहवीं गाथा में यह कहा है कि 'प्राणियों के भेदरूप व्यवहार का पक्ष तो अनादि से ही है', वहाँ जिसे भेदरूप व्यवहार का पक्ष कहा है, उसमें इस गाथा में कहे गये दोनों पक्षों का समावेश हो जाता है। निश्चयनय के विकल्प का पक्ष करना भी भेदरूप व्यवहार का ही पक्ष है, इसलिए वह भी मिथ्यात्व है।

जैसा शुद्धस्वभाव है, वैसे स्वभाव का आश्रय करना, वह सम्यग्दर्शन है, किन्तु 'शुद्धस्वभाव हूँ' — ऐसे विकल्प के साथ एकत्वबुद्धि करना, वह मिथ्यात्व है। आत्मा, रागस्वरूप है — ऐसा मानना, वह व्यवहार का पक्ष है - स्थूल मिथ्यात्व है और 'आत्मा शुद्धस्वरूप है' —ऐसे विकल्प में अटकना, सो विकल्पात्मक निश्चयनय का पक्ष है - राग का पक्ष है। श्री आचार्यदेव कहते हैं कि 'मैं शुद्ध हूँ' —ऐसे विकल्प के अवलम्बन से आत्मा का विचार किया तो उससे क्या? आत्मा का स्वभाव, वचन और विकल्पातीत है। आत्मा शुद्ध और परिपूर्ण स्वभावी है, वह स्वभाव निज से ही है, शास्त्राधार से या विकल्प के आधार से

www.vitragvani.com

वह स्वभाव नहीं है और इसलिए उस स्वभाव का अनुभव (निर्णय) करने के लिए किसी शास्त्राधार या विकल्प के आश्रय की आवश्यकता नहीं है, किन्तु स्वभाव के ही आश्रय की आवश्यकता है। स्वभाव का अनुभव करते हुए 'मैं शुद्ध हूँ' — इत्यादि विकल्प आ जाता है, परन्तु जब तक उस विकल्प में लगा रहता है, तब तक अनुभव नहीं होता। यदि उस विकल्प को तोड़कर नयातिक्रान्त होकर स्वभाव का आश्रय करे तो सम्यक्-निर्णय और अनुभव हो, वही धर्म है।

जैसे तिजोरी में रखे हुए एक लाख रुपये बहीखाते के हिसाब की अपेक्षा से या गिनती के विचार के कारण स्थित नहीं हैं, किन्तु जितने रुपये हैं, वे स्वयं ही हैं; इसी प्रकार आत्मस्वभाव का अनुभव, शास्त्र के आधार से अथवा उसके विकल्प से नहीं होता; अनुभव तो स्वभावाश्रित है। वास्तव में स्वभाव और स्वभाव की अनुभूति अभिन्न होने से एक ही है, भिन्न नहीं है। दूसरी ओर यदि किसी के पास रुपया-पैसा (पूँजी) तो न हो, किन्तु वह मात्र बहीखाता लिखा करे और विचार करता रहे —यों ही गिनता रहे तो उससे कहीं उसके पास पूँजी नहीं हो जाती, इसी प्रकार आत्मस्वभाव के आश्रय के बिना मात्र शास्त्रों के पठन-पाठन से अथवा आत्मा सम्बन्धी विकल्प करने से सम्यग्दर्शन प्रगट नहीं हो जाता।

'शास्त्रों में आत्मा का स्वभाव सिद्ध के समान शुद्ध कहा है'; इस प्रकार जो शास्त्रों से माने, उसके यथार्थ निर्णय नहीं होता। शास्त्रों में कहा है, इसलिए आत्मा शुद्ध है - ऐसी बात नहीं है। आत्मा का स्वभाव शुद्ध है, उसे शास्त्रों की अपेक्षा नहीं है; इसलिए स्वभाव के ही आश्रय से स्वभाव का अनुभव करना, वह सम्यग्दर्शन है।

आत्मस्वभाव का अनुभव किए बिना कर्मग्रन्थ पढ़ लिए तो इससे क्या? और आध्यात्मिक ग्रन्थों को पढ़ डाले तो भी इससे क्या? इनमें से किसी भी कार्य से आत्मधर्म का लाभ नहीं होता। आत्मा कर्ता है; अत: वह कैसा कर्म करे (कैसा कार्य करे) कि उसे धर्मलाभ हो ? - यह बात इस कर्ताकर्म-अधिकार में बतायी है। आत्मा, जड़कर्म को बाँधे और कर्म, आत्मा के लिये बाधक हों, यह बात तो यहाँ है ही नहीं, और 'मैं शुद्ध हूँ' —ऐसा जो मन का विकल्प है, वह भी धर्मात्मा का कार्य नहीं है, किन्तु स्वभाव का अनुभव स्वभाव के ही आश्रय से होता है; इसलिए शुद्धस्वभाव का आश्रय ही धर्मात्मा का कार्य है।

'आत्मा शुद्ध है, राग मेरा स्वरूप नहीं है' —ऐसे विचार का अवलम्बन भी सम्यग्दर्शन में नहीं है, तब फिर देव-गुरु-शास्त्र की भक्ति इत्यादि से सम्यग्दर्शन होने की बात कहाँ रही? और पुण्य करते-करते आत्मा की पहिचान हो जाती है या अच्छे निमित्तों के अवलम्बन से आत्मा को धर्म में सहायता मिलती है — ऐसी स्थूल मिथ्यामान्यता तो सम्यग्दर्शन से बहुत-बहुत दूर है। दया, दान, भक्ति, उपवास, सच्चे देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा, यात्रा और शास्त्रों का ज्ञान - यह सब वास्तव में राग के मार्ग हैं, उनमें से किसी के भी आश्रय से आत्मस्वभाव का निर्णय नहीं होता, क्योंकि आत्मस्वभाव का निर्णय तो अरागी श्रद्धा-ज्ञानरूप है। वीतराग चारित्रदशा प्रगट होने से पूर्व वीतराग श्रद्धा और वीतराग ज्ञान के द्वारा स्वभाव का अनुभव करना ही सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है और ऐसा अनुभव करनेवाला जीव ही समयसार है। ऐसा अनुभव प्रगट नहीं किया और उपरोक्त दया, दान, भक्ति, व्रत, यात्रा,

इत्यादि सब कुछ किया तो इससे क्या ? —ऐसा तो अभव्य जीव भी करते हैं।

प्रश्न — 'सम्यग्दर्शन के बिना व्रत, तप, दान, भक्ति इत्यादि किए तो इससे क्या ?' इस प्रकार 'इससे क्या-इससे क्या ?' कहकर इन सब कार्यों को उड़ाये देते हो अर्थात् इन दयादि में धर्म मानने का निषेध करते हो, तो हम पूछते हैं कि एकमात्र आत्मा की पहिचान करके सम्यग्दर्शन प्रगट किया तो इससे क्या ? मात्र सम्यग्दर्शन प्रगट कर लेने से उसी में सब कुछ आ जाता है क्या ?

उत्तर — हाँ; सम्यग्दर्शन हो जाने से उसी में सम्पूर्ण आत्मा आ जाता है, सम्यग्दर्शन के होने पर परिपूर्ण आत्मस्वभाव का अनुभव होता है, जो अनन्त काल में कभी नहीं हुई थी, ऐसी अपूर्व आत्म-शान्ति का संवेदन वर्तमान में होता है। जैसा आनन्द सिद्ध भगवान को प्राप्त है, उसी प्रकार के आनन्द का अंश वर्तमान में अपने अनुभव में आता है। सम्यग्दर्शन के होने पर वह जीव निकट भविष्य में ही अवश्यमेव सिद्ध हो जाएगा।

वर्तमान में ही अपने परिपूर्ण स्वभाव को प्राप्त करके सम्यग्दृष्टि जीव कृतकृत्य हो जाता है और पर्याय में प्रतिक्षण वीतराग आनन्द की वृद्धि होती जाती है। वे स्वप्न में भी परपदार्थ को अपना नहीं मानते और पर में या विकार में उन्हें सुखबुद्धि नहीं होती। सम्यग्दर्शन की ऐसी अपार महिमा है।

यह सम्यग्दर्शन ही आत्मा के धर्म का मूल है; इसलिए ज्ञानीजन कहते हैं कि इस सम्यग्दर्शन के बिना जीव ने सबकुछ किया, उससे क्या ? सम्यग्दर्शन के बिना सब व्यर्थ है, अरण्यरोदन के

समान है, बिना इकाई के शून्य-समान है। यह सम्यग्दर्शन किसी भी पर के आश्रय से या विकल्प के अवलम्बन से नहीं होता, किन्तु अपने शुद्धात्मस्वभाव के ही आश्रय से होता है। स्वभाव का आश्रय लेते ही विकल्प का आश्रय छूट जाता है, किन्तु विकल्प के लक्ष्य से विकल्प के आश्रय को दूर करना चाहे तो वह दूर नहीं हो सकता। धर्मी जीव का धर्म, स्वभाव के आश्रय से स्थिर है। उसके सम्यग्दर्शनादि धर्म को किसी पर का आश्रय नहीं है। जबकि यह बात है, तब धर्मी जीव के यदि रुपया-पैसा, मकान इत्यादि का संयोग न हो तो इससे क्या? और यदि बहुत से शास्त्रों का ज्ञान न हो तो इससे क्या? धर्मी जीव के यह सब न हों तो इससे कहीं उसके धर्म में कोई बाधा नहीं आती, क्योंकि धर्मी का धर्म किसी पर के आश्रय, राग के आश्रय या शास्त्र-ज्ञान के आश्रय पर अवलम्बित नहीं है, किन्तु अपने त्रिकाल स्वभाव के ही आधार से धर्मी का धर्म प्रगट हुआ है और उसी के आधार से टिका हुआ है और उसी के आधार से वृद्धिंगत होकर पूर्णता को प्राप्त होता है।

एकमात्र सम्यग्दर्शन के अतिरिक्त जीव अनन्तकाल में सब कर चुका है, परन्तु सम्यग्दर्शन कभी एक सेकेण्डमात्र भी प्रगट नहीं किया। यदि एक सेकेण्डमात्र भी सम्यग्दर्शन प्रगट करे तो उसकी मुक्ति हुए बिना रहे नहीं।

परम रत्न

शंकादि दोषों से रहित ऐसा सम्यग्दर्शन वह परम रत्न है। और वह परमरत्न संसार-दुःखरूपी दरिद्रता का अवश्य नाश करता है। *(—सार समुच्चय - 40)*

द्रव्यदृष्टि ही सम्यग्दृष्टि

गुण-पर्यायों का पिण्ड, वह द्रव्य है। आत्मद्रव्य अपने स्वभाव से टिका हुआ है; राग के कारण नहीं। आत्मा के स्वरूप में राग नहीं है और राग के द्वारा आत्मस्वरूप की प्राप्ति नहीं होती। ऐसी जो स्वद्रव्य; उसे दृष्टि में लेनेवाली दृष्टि ही सच्ची दृष्टि है।

त्रिकाल द्रव्यस्वरूप को स्वीकार किए बिना सम्यग्दर्शन नहीं होता, क्योंकि पर्याय तो एक समयमात्र की ही होती है और दूसरे समय में उसकी नास्ति हो जाती है; इसलिए पर्याय के लक्ष्य से एकाग्रता या सम्यग्दर्शन नहीं हो सकता। केवलज्ञान भी एक समयमात्र की पर्याय है, परन्तु ऐसी अनन्तानन्त पर्यायों को अभेदरूप से संग्रह करके द्रव्य विद्यमान है, अर्थात् अनन्त केवलज्ञान पर्यायों को प्रगट करने की शक्ति द्रव्य में है; इसलिए केवलज्ञान की महिमा से द्रव्यस्वभाव की महिमा अनन्तगुनी है। इसे समझने का प्रयोजन यह है कि पर्याय में एकत्वबुद्धि को छोड़कर द्रव्यस्वभाव में एकत्वबुद्धि का करना। एकत्वबुद्धि का अर्थ 'मैं यही हूँ', ऐसी मान्यता पर्याय के लक्ष्य से 'यही मैं हूँ', **इस प्रकार अपने को पर्याय जितना न मानकर, त्रिकाल द्रव्य के लक्ष्य से 'यही मैं हूँ' —इस प्रकार द्रव्यस्वभाव की प्रतीति करना, वह सम्यग्दर्शन है।**

केवलज्ञानादि कोई भी पर्याय एक समयमात्र की अस्तिरूप है, दूसरे समय में उसकी नास्ति हो जाती है; इसलिए

आत्मा को पर्याय जितना मानने से सम्यग्दर्शन नहीं होता और जो द्रव्यस्वभाव है, वह त्रिकाल एकरूप सत् अस्तिरूप है। केवलज्ञान प्रगट हो या न हो, इसकी भी जिसे अपेक्षा नहीं है —ऐसे उस स्वभाव को मानने से ही सम्यग्दर्शन प्रगट होता है।

एक अवस्था में से दूसरी अवस्था नहीं होती; वह द्रव्य में से ही होती है, अर्थात् एक पर्याय स्वयं दूसरी पर्याय के रूप में परिणमित नहीं होती, किन्तु क्रमबद्ध एक के बाद दूसरी पर्याय के रूप में द्रव्य का ही परिणमन होता है; इसलिए पर्यायदृष्टि को छोड़कर, द्रव्यदृष्टि के करने से ही शुद्धता प्रगट होती है। पर्याय, खण्ड-खण्डरूप है, वह सदा एक समान नहीं रहती और द्रव्य, अखण्डरूप है, वह सदा एक समान रहता है; ऐसे द्रव्य की दृष्टि करने से शुद्ध प्रगट होती है, द्रव्यदृष्टि करने से पर्याय, अन्तरस्वभाव में तल्लीन/एकाकार होती है।

पर्याय, क्षणिक है, द्रव्य त्रिकाल है, त्रैकालिक के ही लक्ष्य से एकाग्रता हो सकती है और धर्म प्रगट होता है, किन्तु क्षणिक के लक्ष्य से एकाग्रता नहीं होती तथा धर्म प्रगट नहीं होता। पर्याय क्रमवर्ती स्वभाववाली होती है; इसलिए वह एक समय में एक ही होती है और द्रव्य अक्रमवर्ती स्वभाववाला अनन्त पर्यायों का अभिन्न पिण्ड है, जोकि प्रति समय परिपूर्ण है।

छद्मस्थ के वर्तमान पर्याय अपूर्ण है और द्रव्य पूर्ण है; इसलिए परिपूर्णता के लक्ष्य से सम्यग्दर्शन और वीतरागता

प्रगट होती है। अपूर्णता के लक्ष्य से ही सम्यग्दर्शन या वीतरागता प्रगट नहीं होती, परन्तु राग उत्पन्न होता है। सम्यग्दर्शन के बाद भी जीव को परिपूर्णता के लक्ष्य से ही क्रमशः चारित्र-वीतरागता और सर्वज्ञता प्रगट होती है।

मुमुक्षुओं को ऊपर के अनुसार द्रव्य और पर्याय का यथार्थ ज्ञान करके, त्रिकाल द्रव्यस्वभाव की ओर रुचि (उपादेयबुद्धि) करके, वहीं एकता करनी चाहिए और पर्याय की एकत्वबुद्धि छोड़ने योग्य है। यही धर्म का उपाय है।

जिसके पर्यायदृष्टि होती है, वह जीव, राग को अपना कर्तव्य मानता है और राग से धर्म होना मानता है, क्योंकि पर्यायदृष्टि में राग की ही उत्पत्ति है और राग का सम्बन्ध परद्रव्यों के साथ ही होता है; इसलिए पर्यायदृष्टिवाला जीव, परद्रव्यों के लक्ष्य से परद्रव्यों का भी अपने को कर्ता मानता है – इसी का नाम मिथ्यात्व है, यही अधर्म है। **इस प्रकार पर्यायबुद्धि, वह मिथ्यादृष्टि है।**

किन्तु जिसकी दृष्टि, द्रव्यस्वभाव की हो गयी है, वह जीव कभी राग को अपना कर्तव्य नहीं मान सकता और न उसमें धर्म ही मानता है, क्योंकि स्वभाव में राग का अभाव है। जो पर्याय के राग का कर्तृत्व भी नहीं मानता, वह परद्रव्य का कर्तृत्व कैसे मानेगा? अर्थात्, उसको पर से और राग से भिन्न स्वभाव की दृष्टि में ज्ञान और वीतरागता की ही उत्पत्ति हुआ करती है — इसी का नाम सम्यग्दृष्टि है और यही धर्म है। **इस प्रकार द्रव्यदृष्टि, वह सम्यग्दृष्टि है।**

इसलिए सभी आत्मार्थी जीवों को अध्यात्म के अभ्यास के

www.vitragvani.com

द्वारा द्रव्यदृष्टि करनी चाहिए, यही प्रयोजनभूत है। द्रव्यदृष्टि कहो या शुद्धनय का अवलम्बन कहो, निश्चयनय का आश्रय कहो या परमार्थ कहो, –सब एक ही है।

उसका जन्म सफल है

मुक्त्वा कायविकारं यः शुद्धात्मानं मुहुर्मुहुः।
संभावयति तस्यैव सफलं जन्म संसृतौ॥

(नियमसार कलश ९३)

काय विकार को छोड़कर जो बारम्बार शुद्धात्मा की सम्भावना (सम्यक्‌भावना) करता है, उसका ही जन्म, संसार में सफल है।

पहले तो काया से भिन्न चिदानन्दस्वरूप का भान किया है, तदुपरान्त काया से उपेक्षित होकर बारम्बार अन्तर में शुद्धात्मा के सन्मुख होकर उसकी भावना भाता है, उस धर्मात्मा का अवतार सफल है, उसने जन्मकर आत्मा में मोक्ष की ध्वनि प्रगटायी, आत्मा में मोक्ष की झंकार प्रगट की... इसलिए उसका जन्म सफल है। अज्ञानरूप से तो अनन्त अवतार किये, वे सब निष्फल गये, उनमें आत्मा का कुछ हित नहीं हुआ। चिदानन्दस्वरूप का भान करके जिस अवतार में आत्मा का हित हुआ, वह अवतार सफल है।

धर्म की पहली भूमिका (भाग 1)

मिथ्यात्व का अर्थ :—

पहले हम यह देख लें कि मिथ्यात्व का अर्थ क्या है और मिथ्यात्व किसे कहते हैं एवं उसका वास्तविक लक्षण क्या है ?

मिथ्यात्व में दो शब्द हैं - 1. मिथ्या और 2. त्व। मिथ्या अर्थात् असत् और त्व अर्थात् पन। इसप्रकार खोटापन, विपरीतता, असत्यता इत्यादि अनेक अर्थ होते हैं।

यहाँ पर यह देखना है कि जीव में, निज में मिथ्यात्व या विपरीतता क्या है ? क्योंकि जीव अनादिकाल से दु:ख भोग रहा है और वह उसे अनादिकाल से मिटाने का प्रयत्न भी करता है; किन्तु वह न तो मिटता है और न कम होता है। दु:ख समय-समय पर अनन्त होता है और वह अनेकप्रकार का है। पूर्व-पुण्य के योग से किसी एक सामग्री का संयोग होने पर उसे ऐसा लगता है कि मानों एक प्रकार का दु:ख कम हो गया है; किन्तु यदि वास्तव में देखा जाये तो सचमुच में उसका दु:ख कम नहीं हुआ है, क्योंकि जहाँ एक प्रकार का दु:ख गया नहीं कि दूसरा दु:ख आ उपस्थित होता है।

मूलभूत भूल के बिना दु:ख नहीं होता। दु:ख है; इसलिए भूल भी है ही; और वह भूल ही इस महादु:ख का कारण है। यदि वह भूल छोटी हो तो दु:ख कम और अल्प काल के

लिए होता है; किन्तु यह बहुत बड़ी भूल है; इसलिए दुःख बड़ा और अनादि काल से है। अब दुःख तो अनादि काल का है और वह अनन्त है; इसलिए यह निश्चय हुआ कि मिथ्यात्व अर्थात् जीवसम्बन्धी विपरीत समझ-भूल सबसे बड़ी और अनन्ती है। यदि भयंकर भूल न होती तो भयंकर दुःख न होता। महान भूल का फल महान दुःख है; इसलिए महान दुःख को दूर करने का सच्चा उपाय महान भूल को दूर करना है। अर्थात् आत्मा की सच्ची समझ ही दुःख मिटाने का उपाय है।

दुःख का होना निश्चय करें' :—

कोई कहता है कि जीव के दुःख क्यों कहा जाए? रुपया-पैसा हो, खाने-पीने की सुविधा हो और जो चाहिए वह मिल जाता हो फिर भी उसे दुःखी कैसे कहा जाए?

उत्तर — भाई! तुझे परवस्तु को प्राप्त करने की इच्छा होती है या नहीं? तेरे अन्तरङ्ग से यह इच्छा होती है या नहीं कि मेरे पास बाह्य सामग्री रुपया-पैसा इत्यादि हो तो ठीक और यह सब हो तो मुझे सुख हो; इस प्रकार की इच्छा होती है, यही दुःख है; क्योंकि यदि तुझे दुःख न हो तो परवस्तु प्राप्त करके सुख पाने की इच्छा न हो।

यहाँ अज्ञानपूर्वक इच्छा की बात है क्योंकि अज्ञान-भूल के दूर होने पर, अस्थिरता के कारण होनेवाली जो इच्छा है, उसका दुःख अल्प है। मूल दुःख अज्ञानपूर्वक इच्छा का ही है। इच्छा कहो, दुःख कहो, आकुलता कहो अथवा परेशानी कहो — सबका

अर्थ एक ही है। यह सब मिथ्यात्व का फल है। अपने स्वरूप की अप्रतीतिदशा में इच्छा के बिना जीव का एकसमय भी नहीं जाता, निरन्तर अपने को भूलकर इच्छा होती ही रहती है और वही दु:ख है।

जीव की बड़ी भयंकर भूल है; इसलिए महान दु:ख है अर्थात् जीव के एक के बाद दूसरी इच्छा होती ही रहती है और वह रुकती नहीं है, यही महान दु:ख है। उसका कारण मिथ्यात्व-विपरीत मान्यता-महान भूल है। मिथ्यात्व क्या है ? यह अब कहा जाता है।

मिथ्यात्व क्या है ? :—

यदि यह मिथ्यात्व, द्रव्य अथवा गुण हो तो उसे दूर नहीं किया जा सकता, किन्तु यदि वह मिथ्यात्व, पर्याय हो तो पर्याय को बदलकर मिथ्यात्व दूर किया जा सकता है। अब मिथ्यात्व, वह विपरीतता है। विपरीतता कहते ही यह सिद्ध हुआ कि उसे बदलकर सरलता-यथार्थता की जा सकती है। मिथ्यात्व, जीव के किसी एक गुण की विपरीत अवस्था है और चूँकि वह अवस्था है; इसलिए समय-समय पर बदलती है। इसलिए मिथ्यात्व एक समय की अवस्था होने से दूर किया जा सकता है।

जीव के किस गुण की विपरीत अवस्था मिथ्यात्व है ? :—

मैं कौन हूँ ? मेरा सच्चा स्वरूप क्या है ? जो यह क्षणिक सुख-दु:ख का अनुभव होता है, वह क्या है ? पुण्य-पाप का विकार क्या है ? परवस्तु देहादिक मेरे हैं या नहीं - इस प्रकार स्व-पर की यथार्थ मान्यता करनेवाला जो गुण है, उसकी विपरीतदशा मिथ्यात्व है, अर्थात् आत्मा में मान्यता (श्रद्धा)

नाम का त्रिकाल गुण है और उसकी विपरीत अवस्था, वह मिथ्यात्व है।

जीव स्वयं जैसी विपरीत मान्यता है, वह वैसा ही आचरण करता है; अर्थात् जहाँ जीव की मान्यता में भूल होती है, वहाँ उसका आचरण विपरीत ही होता है। जीव की मान्यता उल्टी हो और आचरण सच्चा हो —ऐसा कभी भी नहीं हो सकता। जहाँ विपरीत मान्यता होती है, वहाँ ज्ञान भी विपरीत ही होता है।

'मिथ्या' का अर्थ है विपरीत, उल्टा अथवा झूठा और 'त्व' अर्थात् उससे युक्त। यह भूल बहुत बड़ी और भयंकर है; क्योंकि जहाँ मिथ्या मान्यता होती है, वहाँ आचरण और ज्ञान भी मिथ्या होते हैं और उस विपरीतता में महान दुःख होता है। ऐसी मिथ्यात्वरूपी भयंकर भूल क्या है? इस सम्बन्ध में विचार करते हैं।

स्वरूप की मान्यता करनेवाला श्रद्धा नाम का जीव का जो गुण है, उसे स्वयं अपने-आप उल्टा किया है, उसी को मिथ्या मान्यता कहा जाता है। वह अवस्था होने से दूर की जा सकती है।

उस भयंकर भूल को कौन दूर कर सकता है? :—

वह जीव की अपनी अवस्था है, इसलिए जीव उसे स्वयं दूर कर सकता है। अपने स्वरूप की जो सबसे बड़ी घोरातिघोर भयंकर भूल है, वह कब से चली आ रही है?

हे भाई! क्या वर्तमान में तेरे वह भूल विद्यमान है? यदि वर्तमान में भूल है तो पहले भी भूल थी और यदि पहले बिल्कुल भूलरहित हो गया होता तो वर्तमान में भूल नहीं होती। पहले पक्की न हटे ऐसी —यथार्थ समझ-मान्यता कर ली हो और वह यदि दूर हो गयी हो तो? इस प्रश्न का समाधान करते हैं —

जैसे मैं दशाश्रीमाली वणिक हूँ, — ऐसा ज्ञान स्वयं कभी भूल नहीं जाता। 'मैं दशाश्रीमाली बनिया'— यह नाम तो जन्मने के बाद स्वयं ने माना है। 25-50 वर्ष से शरीर का नाम मिला है, आत्मा कोई स्वयं बनिया नहीं है, तथापि वह रटते-रटते कितना दृढ़ हो गया है ? जब भी बुलावें, तब कहता है कि 'मैं बनिया हूँ', मैं कोली, भील नहीं हूँ; इस प्रकार कुछ वर्षों से मिले हुए, शरीर का नाम भी नहीं भूलता तो परवस्तु—शरीर-वाणी-मन, बाहर के संयोग तथा पर की ओर के झुकाव से होनेवाले राग-द्वेष के विकारी भावों से भिन्न अपने शुद्ध आत्मा का पहले पक्का ज्ञान और सच्ची समझ की हो तो उसे कैसे भूल सकता है ? यदि पहले पक्की सच्ची समझ की हो तो वर्तमान में विपरीतता न हो, चूँकि वर्तमान में विपरीतता दिखायी देती है, इससे सिद्ध है कि पहले भी जीव ने विपरीतता की थी।

तू आत्मा अनन्त गुण का पिण्ड अनादि-अनन्त है। उन अनन्त गुणों में एक मान्यता / श्रद्धा नाम के गुण की अवस्था को तेरी विपरीतता से अनादि काल से स्वयं विपरीत करता आया है और उसे तू आगे ही बढ़ाता चला जा रहा है। वह भूल-विपरीततरा (एकसमय की) वर्तमान अवस्था में है; इसलिए वह टाली जा सकती है।

अगृहीत मिथ्यात्व :—

तू अनादि काल से आत्मा नामक वस्तु है। अर्थात् 'जन्म से मरण तक ही मैं हूँ', इस प्रकार की मान्यता, विपरीत मान्यता है; क्योंकि जिस वस्तु को कभी किसी ने उत्पन्न ही नहीं किया, उस

वस्तु का कभी नाश नहीं हो सकता। '**मैं जन्म से मरण तक ही हूँ'— ऐसी जीव की महाविपरीत मान्यता है, क्योंकि जीव यह मानता है कि मेरे मरण के बाद जो पैसा रहेगा, उसकी बिल (वसीयत) करूँ, परन्तु वह यह नहीं विचार करता कि मरने के बाद मैं न जाने कहाँ जानेवाला हूँ; इसलिए अपने आत्मकल्याण के लिये कुछ करूँ। अनादि काल से चली आनेवाली और किसी के द्वारा न सिखाने पर भी बनी हुई जो महाविपरीत मान्यता है, उसे अगृहीत मिथ्यात्व कहते हैं। ऐसी विपरीत मान्यता स्वयं अपने आप ही करता है, उसे कोई सिखाता नहीं है।**

जैसे बालक को रोना सिखाना नहीं पड़ता; उसी प्रकार मैं जन्म-मरण तक ही हूँ; इस प्रकार की मान्यता किसी के सिखाये बिना ही हुई है। जो शरीर है, सो मैं हूँ, रुपये-पैसे में मेरा सुख है, इत्यादि परवस्तु में अपनेपन की जो मान्यता है —सो अगृहीत विपरीत मान्यता है, जो जीव के अनादि काल से चली आ रही है।

जो शरीर है वह ही मैं हूँ; इसलिए शरीर के हलन-चलन की क्रिया मैं कर सकता हूँ; इस प्रकार अज्ञानी जीव मानता है और शरीर को अपना मानने से बाहर की जिस वस्तु से शरीर को सुविधा मानता है, उस के प्रीति और राग हुए बिना नहीं रहता। इसलिए उसके अव्यक्तरूप में ऐसी मान्यता बन जाती है कि मुझे पुण्य से सुख होता है। बाहर की सुख-सुविधा का कारण पुण्य है, यदि मैं पुण्य करूँ तो मुझे उसका फल मिलेगा; इस प्रकार किसी के द्वारा

सिखाये बिना ही अनादिकाल से मिथ्याज्ञान चला आ रहा है। जीव यह अनादि काल से मान रहा है कि मुझे पुण्य से लाभ होता है और पर का कुछ कर सकता हूँ।

यद्यपि किसी पर से सुख-सुविधा नहीं होती, तथापि जिस पदार्थ से वह अपने शरीर के लिए सुख-सुविधा होती हुई मानता है, उस पर उसे प्रीति होती है और वह यह मानता है कि पुण्य से शरीर को सुख-सुविधा मिलती है; इसलिए अनादि काल से यह मान रहा है कि पुण्य से लाभ होता है। इसलिए (1) पुण्य से मुझे लाभ होता है और (2) जो शरीर है सो मैं हूँ तथा मैं शरीर के कार्य कर सकता हूँ, इस प्रकार की विपरीत मान्यता अनादि काल से किसी के द्वारा सिखाये बिना ही जीव के चली आ रही है, यही महा भयंकर दु:ख की कारणरूप भूल है।

पाप करनेवाला जीव भी पुण्य से लाभ मानता है, क्योंकि वह स्वयं अपने को पापी नहीं कहलवाना चाहता अर्थात् स्वयं पाप करते हुए भी उसे पुण्य अच्छा लगता है, इस प्रकार अज्ञानी मिथ्यादृष्टि जीव अनादि काल से पुण्य को भला हितकर मान रहा है। अनादि काल से जीव ने पुण्य अर्थात् मन्द कषाय में लाभ माना है।

वह यह मानता ही रहता है कि शरीर तथा शरीर के काम मेरे हैं और शरीर से तथा पुण्य से मुझे लाभ होता है। वह जिसे अपना मानता है, उसे हेय क्यों मानेगा? यह महा भयंकर भूल निगोद से लेकर जगत के सर्व अज्ञानी जीवों के होती है और यही अगृहीत मिथ्यात्व है।

गृहीत मिथ्यात्व :—

निगोद से निकले हुए जीव को कभी मन्दकषाय से मन प्राप्त हुआ और संज्ञी पञ्चेन्द्रिय हुआ, उसके विचारशक्ति प्राप्त हुई और वह ऐसा सोचने लगा कि मेरा दु:ख कैसे मिटे, तब पहले 'जीव क्या है ?' यह विचार किया, इसका निश्चय करने के लिये दूसरे से सुना अथवा स्वयं पढ़ा, वहाँ उल्टा नया भ्रम उत्पन्न हो गया। वह नया भ्रम क्या है ? दूसरे से सुनकर ऐसा मानने लगा कि जगत् में सब मिलकर एक ही जीव है, शेष सब भ्रम है या तो गुरु से हमें लाभ होगा अथवा भगवान की कृपा से हम तिर जायेंगे या किसी के आशीर्वाद से कल्याण हो जायेगा अथवा वस्तु को क्षणिक मानकर वस्तुओं का त्याग करें तो लाभ होगा अथवा मात्र जैनधर्म ने ही सच्चाई का ठेका नहीं लिया, इसलिए जगत के सभी धर्म सच्चे हैं; इस प्रकार अनेक तरह के बाहर के नये-नये भ्रम ग्रहण किये परन्तु भाई ! जैसे **'एक और एक मिलकर दो ही होते हैं,' यह त्रिकाल सत्य है; उसी प्रकार जो वस्तुस्वभाव या वस्तुधर्म है, यही वीतरागी-विज्ञान ने कहा है; इसलिए वह त्रिकाल सत्य ही है, अन्य कोई कथन सत्य नहीं है।**

जन्म के बाद अनेक प्रकार की नयी विपरीतमान्यताएँ ग्रहण कीं, उसी को गृहीत मिथ्यात्व भी कहते हैं। उसे लोकमूढ़ता, देवमूढ़ता और गुरुमूढ़ता भी कहा जाता है।

लोकमूढ़ता — पूर्वजों ने अथवा कुटुम्ब के बड़े लोगों ने किया या जगत के अग्रगण्य बड़े लोगों ने किया; इसलिए मुझे भी वैसा करना चाहिए और स्वयं विचार-शक्ति से यह निश्चय नहीं

किया कि सत्य क्या है; इस प्रकार अपने को जो मन / विचार करने की शक्ति प्राप्त हुई है, उसका सदुपयोग न करके दुरुपयोग ही किया और जिसके फलस्वरूप उसकी विचार-शक्ति का घात हुए बिना नहीं रहता। मन्द कषाय के फलस्वरूप विचार-शक्ति प्राप्तकर लेने पर भी उसका सदुपयोग नहीं करके अनादिकालीन अगृहीत मिथ्यात्व के साथ नया भ्रम उत्पन्न कर लिया और उसे पुष्ट किया, उसके फलस्वरूप जीव को ऐसी हल्की दशा प्राप्त होती है, जहाँ विचार-शक्ति का अभाव है।

अपनी विचार-शक्ति को गिरवी रखकर सैनी जीव भी धर्म के नाम पर इस प्रकार अनेक तरह की विपरीत मान्यताओं को पुष्ट किया करते हैं कि यदि हमारे बाप-दादा, कुदेव को मानते हैं तो हम भी उन्हें ही मानेंगे। इस प्रकार अपनी मन की शक्ति का घात करके स्वयं अपने लिये निगोद की तैयारी करते हैं। **जैसे निगोदिया जीव को विचार-शक्ति नहीं होती, उसी प्रकार गृहीत मिथ्यात्वी जीव अपनी विचार-शक्ति का दुरुपयोग करके उसका घात करता है और उस निगोद की तैयारी करता है, जहाँ विचार-शक्ति का सर्वथा अभाव है।**

स्वयं को विपरीत ज्ञान है; इसलिए जिन्हें यथार्थ पूर्णज्ञान हुआ है, ऐसे दिव्य शक्तिवाले सर्वज्ञदेव के पास से सच्चा ज्ञान प्राप्त हो सकता है; किन्तु जीव उन्हें नहीं पहचानता और सर्वज्ञदेव के सम्बन्ध में (अर्थात् सम्पूर्ण सच्चा ज्ञान किये प्राप्त हुआ, इस सम्बन्ध में) मूर्खता धारण करता है और इस प्रकार सच्चे देव के सम्बन्ध में भी अपनी विचार-शक्ति का दिवाला पीटता है, यही देवमूढ़ता है।

देवमूढ़ता – (देव का अर्थ पुण्य के फल से प्राप्त स्वर्ग के देव नहीं; किन्तु ज्ञान की दिव्यशक्ति के धारण करनेवाले सर्वज्ञदेव है।) सच्चे धर्म को समझानेवाला कौन हो सकता है, ऐसी विचार-शक्ति होने पर भी उसका निर्णय नहीं किया।

गुरुमूढ़ता — बीमार आदमी इस सम्बन्ध में बहुत विचार करता है और परिश्रम करके यह ढूँढ़ निकालता है कि किस डॉक्टर की दवा लेने से रोग दूर होगा? लोग कुम्हार के पास दो टके की हँडी लेने जाते हैं तो उसको भी खूब ठोक-बजाकर परीक्षा करके लेते हैं; इस प्रकार और भी अनेक सांसारिक कार्यों में परीक्षा की जाती है, किन्तु यहाँ पर आत्मा के अज्ञान का नाश करने के लिये और दूर करने के लिए अथवा निमित्त (गुरु) हो सकता है? इसकी परीक्षा के द्वारा निर्णय करने में विचार-शक्ति को नहीं लगाता और जैसा पिताजी ने कहा है अथवा कुल-परम्परा से जैसा चला आ रहा है, उसी का अन्धानुसरण करके दौड़ लगाता है, यही गुरुमूढ़ता है।

इस प्रकार जीव या तो विचार-शक्ति का उपयोग ही नहीं करता और यदि उपयोग करने जाता भी है तो उपरोक्त लोकमूढ़ता, देवमूढ़ता और गुरुमूढ़ता से तीन प्रकार से लुट जाता है। कुगुरु कहते हैं कि दान दोगे तो धर्म होगा; किन्तु भले आदमी! ऐसा तो भिखारी भी कहा करते हैं कि भाई साहब! एक बीड़ी दोगे तो धर्म होगा। इसमें कुगुरु ने कौनसी अपूर्व बात यह दी और फिर शील का उपदेश तो माँ-बाप भी देते हैं, वे भी धर्मगुरु कहलायेंगे। स्कूलों और पाठशालाओं से भी अहिंसा, सत्य और ब्रह्मचर्यादि पालन करने को कहा जाता है तो वहाँ के अध्यापक भी धर्मगुरु

कहलायेंगे और वहाँ की पुस्तकें धर्म-शास्त्र कहलायेंगी; किन्तु ऐसा नहीं होता। धर्म का स्वरूप अपूर्व है।

तीन प्रकार की मूढ़ताओं में गुरुमूढ़ता विशेष है, उसमें धर्म के नाम पर स्वयं अधर्म करता हुआ भी धर्म मानता है। उदाहरण के रूप में, दुकान में बैठा हुआ आदमी यह नहीं मानता कि मैं अभी सामायिक-धर्म करता हूँ; किन्तु धर्मस्थान में जाकर अपने माने हुए गुरु अथवा बड़े लोगों के कथानुसार अमुक शब्द बोलता है, जिनका अर्थ भी स्वयं नहीं जानता और उसमें वह जीव मान लेता है कि मैंने सामायिक-धर्म किया। यदि शुभभाव हो तो पुण्य हो; किन्तु उस शुभ में धर्म माना, अर्थात् अधर्म को धर्म माना, यही मिथ्यात्व है।

स्वयं विचार-शक्तिवाला होकर भी नये-नये भ्रमों को पुष्ट करता रहता है, यही गृहीत मिथ्यात्व है। यहाँ पर मिथ्यात्व के सम्बन्ध में दो बातें कही गयी हैं।

1. अनादि काल से समागत 'पुण्य से धर्म होता है और मैं शरीर का कार्य कर सकता हूँ' इस प्रकार की जो विपरीत मान्यता है, वह अगृहीत मिथ्यात्व है।

2. लोकमूढ़ता, देवमूढ़ता और गुरुमूढ़ता के सेवन से कुदेव-कुगुरु के द्वारा जीव, विपरीत मान्यता को पुष्ट करनेवाले भ्रम ग्रहण करता है, यही गृहीत मिथ्यात्व है। सच्चे-देव-धर्म की तथा अपने आत्मस्वरूप की सच्ची समझ के द्वारा इन दोनों मिथ्यात्वों को दूर किये बिना, जीव कभी भी सम्यक्तव को प्राप्त नहीं हो सकता और सम्यग्दर्शन के

बिना कभी भी धर्मात्मापन नहीं हो सकता; इसलिए जिज्ञासुओं को प्रथम भूमिका में ही गृहीत-अगृहीत मिथ्यात्व का त्याग करना आवश्यक है।

मुमुक्षु की विचारणा...

हे जीव! तुझे अन्तर में ऐसा लगना चाहिए कि आत्मा को पहचाने बिना छुटकारा नहीं है, यदि इस अवसर में मैं अपने आत्मा का अनुभव करके सम्यग्दर्शन प्रगट नहीं करूँ तो मेरा कहीं छुटकारा नहीं है। अरे जीव! वस्तु के भान बिना तू कहाँ जायेगा? तुझे सुख-शान्ति कहाँ से मिलेगी? तेरी सुख-शान्ति तेरी वस्तु में से आयेगी या बाहर में से? तू चाहे जिस क्षेत्र में जा, परन्तु तू तो तुझमें ही रहनेवाला है। और परवस्तु, परवस्तु में ही रहनेवाली है। पर में से कहीं से तेरा सुख आनेवाला नहीं है, स्वर्ग में जायेगा तो वहाँ से भी तुझे सुख नहीं मिलनेवाला है; सुख तो तुझे तेरे स्वरूप में से ही मिलनेवाला है... इसलिए स्वरूप को जान। तेरा स्वरूप तुझसे किसी काल में पृथक् नहीं है; मात्र तेरे भान के अभाव से ही तू दुःखी हो रहा है, वह दुःख दूर करने के लिये तीन काल के ज्ञानी एक ही उपाय बतलाते हैं कि 'आत्मा को पहचानो'।

इस प्रकार अन्तर विचारणा द्वारा मुमुक्षु जीव अपने में सम्यग्दर्शन की लगनी लगाकर अपने आत्मा को उसके उद्यम में जोड़ता है।

धर्म की पहली भूमिका (भाग 2)

'मिथ्यात्व' :—

मिथ्यात्व का अर्थ गलत या विपरीत मान्यता किया था। हमें यह नहीं देखना है कि पर में क्या यथार्थता या अयथार्थता है; किन्तु आत्मा में क्या अयथार्थता है, यह समझाकर अयथार्थता को दूर करने की बात है, क्योंकि जीव को अपनी अयथार्थता दूर करके अपने में धर्म करना है।

मिथ्यात्व द्रव्य है, गुण है या पर्याय? इसके उत्तर में यह निश्चित कहा गया है कि मिथ्यात्व, श्रद्धागुण की एक समयमात्र की विपरीत पर्याय है।

मिथ्यात्व, अनन्त संसार का कारण है। यह मिथ्यात्व अर्थात् सबसे बड़ी से बड़ी भूल अनादि काल से जीव स्वयं ही करता चला आया है।

महापाप :—

इस मिथ्यात्व के कारण जीव, जीववस्तु को वैसी नहीं मानता, जैसी वह है; किन्तु विपरीत ही मानता है। इसलिए मिथ्यात्व ही वास्तव में असत्य है। इस महान असत्य के सेवन करते रहने में प्रतिक्षण स्व-हिंसा का महापाप लगता है।

प्रश्न — विपरीत मान्यता / मिथ्यात्व करने से किस जीव को मारने की हिंसा का पाप लगता है?

www.vitragvani.com

उत्तर — अपना स्वाधीन चैतन्य आत्मा जैसा है, उसे वैसा नहीं माना; किन्तु उसे जड़-शरीर का कर्ता माना (अर्थात् जड़रूप माना); अत: इस मान्यता में आत्मा के अनन्त गुणों का अनादर है और यही अनन्ती स्व-हिंसा है। स्व-हिंसा ही सबसे बड़ा पाप है। इसे भावहिंसा या भावमरण भी कहते हैं। श्रीमद् राजचन्द्रजी ने कहा है —**''क्षण क्षण भयंकर भाव-मरण में, कहाँ रे तू रच रहा ?''** यहाँ भी मिथ्यात्व को ही भाव-मरण कहा है।

अगृहीत मिथ्यात्व :—

1. यह शरीर जड़ है, यह अपना नहीं है, यह जानने-देखने का कोई कार्य नहीं करता; तथापि इसे अपना मानना और यह मानना कि यदि यह अनुकूल हो तो ज्ञान हो, यह मिथ्यात्व है।

2. शरीर को अपना मानने का अर्थ है, वर्तमान में शरीर का जो देहरूप जन्म हुआ है, वहाँ से, मरण होते तक ही अपने आत्मा का अस्तित्व मानना अर्थात् शरीर का संयोग होने पर आत्मा की उत्पत्ति और शरीर का वियोग होने पर आत्मा का नाश मानना। यही घोर मिथ्यात्व है।

3. शरीर को अपना मानने से, जो बाह्य वस्तु शरीर को अनुकूल लगती है, उस वस्तु को लाभकारक मानता है और अपने लिये अनुकूल मानी गयी वस्तु का संयोग, पुण्य के निमित्त से होता है; इसलिए पुण्य से लाभ होना मानता है, यही मिथ्यात्व है। जो पुण्य से लाभ मानते हैं, उनकी दृष्टि, देह पर है; आत्मा पर नहीं।

गृहीत मिथ्यात्व :—

उपरोक्त तीनों प्रकार अगृहीत मिथ्यात्व के हैं। यह अगृहीत

www.vitragvani.com

मिथ्यात्व, मूल निगोद से ही अनादि काल से जीव के साथ चला आ रहा है। एकेन्द्रिय से असैनी पञ्चेन्द्रिय तक तो जीव के हिताहित का विचार करने की शक्ति ही नहीं होती। संज्ञी दशा में मन्द-कषाय से, ज्ञान के विकास से हिताहित का कुछ विचार करने की शक्ति प्राप्त करता है। वहाँ भी आत्मा के हित-अहित का सच्चा विवेक करने की जगह अनादि काल से विपरीत मान्यता का भाव ही चालू रखकर अन्य अनेक प्रकार की नवीन विपरीत मान्यताओं को ग्रहण करता है। अपनी विचार-शक्ति के दुरुपयोग से तीव्र विपरीत मान्यतावाले जीवों की संगति में आकर अनेक प्रकार की नयी-नयी विपरीत मान्यताओं को ग्रहण करता है। इसप्रकार विचार-शक्ति के विकास होने पर, जो नवीन विपरीत मान्यता ग्रहण की जाती है, उसे गृहीत मिथ्यात्व कहते हैं। उसके मुख्य तीन प्रकार हैं - देवमूढ़ता, गुरुमूढ़ता और धर्म मूढ़ता अर्थात् लोकमूढ़ता।

देवमूढ़ता — अज्ञानी, रागी, द्वेषी को देव के रूप में मानना, कोई बड़ा कहा जानेवाला आदमी किसी कुदेव को देव मानता हो; इसलिए स्वयं भी उस कुदेव को मानना और उससे कल्याण मानकर उसकी पूजा-वन्दनादि करना तथा अन्य लौकिक लाभादि की आकांक्षा से अनेक प्रकार के कुदेवादि को मानना, वह देवमूढ़ता है।

गुरुमूढ़ता — जिस कुटुम्ब में जन्म हुआ है, उस कुटुम्ब में माने जानेवाले कुलगुरु को समझे बिना मानना। अज्ञानी को गुरुरूप में मानना अथवा गुरु क स्वरूप सग्रन्थ मानना, वह गुरु-सम्बन्धी महाभूल अर्थात् गुरुमूढ़ता है।

www.vitragvani.com

धर्ममूढ़ता — (लोकमूढ़ता) हिंसाभाव में धर्म मानना, वह धर्म-मूढ़ता है। वास्तव में जैसे पाप में आत्मा की हिंसा है, वैसे पुण्य में भी आत्मा की हिंसा होती है; इसलिए पुण्य में धर्म मानना भी धर्ममूढ़ता है तथा धर्म मानकर नदी इत्यादि में स्नान करना, पशु-हिंसा में धर्म मानना इत्यादि सब धर्मसम्बन्धी भूल है। इसे लोकमूढ़ता कहते हैं।

गृहीत मिथ्यात्व तो छोड़ा, किन्तु.... :—

यह तीन महा भूलें जीव के लिए बहुत बड़ी हानि की कारण हैं। स्वयं जिस कुल में जन्म लिया है, उस कुल में माने जानेवाले देव, गुरु, धर्म कदाचित् सच्चे हों और उन्हें स्वयं भी मानता हो, किन्तु जब तक स्वयं परीक्षा करके उनकी सत्यता का निश्चय नहीं कर लेता, तब तक गृहीत मिथ्यात्व नहीं छूटता। गृहीत मिथ्यात्व को छोड़े बिना जीव के धर्म समझने की पात्रता ही नहीं आती।

प्रश्न — इन दो प्रकार के मिथ्यात्व में पहले कौनसा मिथ्यात्व दूर होता है ?

उत्तर — पहले गृहीत मिथ्यात्व दूर होता है। गृहीत मिथ्यात्व के दूर किये बिना किसी भी जीव के अगृहीत मिथ्यात्व दूर नहीं हो सकता। हाँ; किसी तीव्र पुरुषार्थी पुरुष के यह दोनों मिथ्यात्व एक साथ भी दूर हो जाते हैं।

जो अगृहीत मिथ्यात्व को दूर कर लेता है, उसके गृहीत मिथ्यात्व तो दूर हो ही जाता है, किन्तु गृहीत मिथ्यात्व के दूर हो जाने पर भी, अनेक जीवों के अगृहीत मिथ्यात्व दूर नहीं होता। कुगुरु, कुदेव और कुशास्त्र तथा लौकिक मूढ़ता की मान्यता का

त्याग करके एवं सच्चे देव, गुरु, शास्त्र को पहिचानकर, जीव ने व्यवहारिक स्थूल भूल का (गृहीत मिथ्यात्व का) त्याग तो अनेकबार किया और असत् निमित्तों का लक्ष्य छोड़कर, सत् निमित्तों के लक्ष्य से व्यवहारशुद्धि तो की, परन्तु अनादि काल से चली आयी अपनी आत्मा सम्बन्धी महाभूल को जीव ने कभी दूर नहीं किया। यह अनादिकालीन अगृहीत मिथ्यात्व, आत्मा की यथार्थ समझ के बिना दूर नहीं हो सकता।

गृहीत मिथ्यात्व का त्याग करके और द्रव्यलिङ्गी साधु होकर अनन्त बार निरतिचार पञ्च महाव्रत पालन किये, किन्तु महाव्रत की क्रिया से और राग से धर्म मान लिया; इसलिए उसकी महाभूल दूर नहीं हुई और संसार में परिभ्रमण करता रहा।

सच्चे निमित्तों को स्वीकार करके व्यावहारिक असत्य का त्याग तो किया, किन्तु अपने निरालम्बी चैतन्यस्वरूप आत्मा को स्वीकार नहीं किया, इसलिए निश्चय का असत्य दूर नहीं हुआ। आत्मस्वरूप की खबर न होने से, निमित्त के लक्ष्य से -शुभराग से, देव-गुरु-शास्त्र से, अज्ञानी अपने को लाभ मानता है, यह पराश्रितता का अनादिकालीन भ्रम, मूल में से दूर नहीं हुआ; इसलिए सूक्ष्म भूलरूप अगृहीत मिथ्यात्व दूर नहीं हुआ। आत्मप्रतीति के बिना थोड़े समय के लिए गृहीत मिथ्यात्व को दूर करके शुभराग के द्वारा स्वर्ग में नववें ग्रैवेयक तक गया; किन्तु मूल में विपरीत मान्यता का सद्भाव होने से, राग से लाभ मानकर और देवपद में सुख मानकर, वहाँ से परिभ्रमण करते हुए तीव्र अज्ञान के कारण एकेन्द्रिय-निगोद की तुच्छ दशा में अनन्त काल तक अनन्त दुःख प्राप्त किये। अपने स्वरूप को समझने की परवाह न करने से

और सम्यग्ज्ञान का तीव्र विरोध करने से निगोददशा होती है, जहाँ स्थूल ज्ञानवाले अन्य जीव, उस जीव के अस्तित्व तक को स्वीकार नहीं करते। कभी निगोददशा में कषाय की मन्दता करके जीव वहाँ से मनुष्य हुआ और कदाचित् धर्म की जिज्ञासा से सच्चे देव-गुरु-शास्त्र को पहिचानकर व्यवहार मिथ्यात्व को (गृहीत मिथ्यात्व को) दूर किया, किन्तु आत्मस्वरूप को नहीं पहिचाना; इसलिए जीव अनन्ता -नन्तकाल से चारों गतियों में दु:खी होता रहता है। यदि सच्चे-देव -गुरु-शास्त्र को पहिचानकर अपने आत्मस्वरूप का सूक्ष्मदृष्टि से विचार करे और स्वयं ही सत् स्वरूप का निर्णय करे, तभी जीव की महाभयंकर भूल दूर हो, सुख प्राप्त हो और जन्म-मरण का अन्त हो।

महा मिथ्यात्व कब दूर हो ? :—

जिसे आत्मस्वरूप के यथार्थ परिज्ञान के द्वारा अनादिकालीन महाभूल को दूर करने का उपाय करना हो, उसे इसके लिये आत्मज्ञानी सत् पुरुष से शुद्धात्मा का सीधा स्वरूप सुनना चाहिए और उसका स्वयं अभ्यास करना चाहिए। ध्यान रहे कि मात्र सुनते रहने से अगृहीत मिथ्यात्व दूर नहीं होता; किन्तु अपने स्वभाव के साथ मिलाकर स्वयं निर्णय करना चाहिए।

जीव स्वयं अनन्त बार तीर्थङ्कर भगवान के समवसरण में जाकर उनका उपदेश सुन आया है, किन्तु स्वाश्रय से स्वभाव की श्रद्धा किये बिना उसे धर्म प्राप्त नहीं हुआ। 'आत्मा ज्ञानस्वरूप है; किन्तु वह पर का कुछ भी कर नहीं सकता, पुण्य से आत्मा का धर्म नहीं होता,' ऐसी निश्चय की सच्ची बात सुनकर, उसे स्वीकार करने की जगह जीव इन्कार करता है कि 'यह बात अभी अपने

लिये काम की नहीं है, कुछ पराश्रय चाहिए और पुण्य भी करना चाहिए; पुण्य के बिना अकेला आत्मा कैसे टिक सकता है ?' इस प्रकार अपनी पराश्रय की विपरीत मान्यता को दृढ़ करके सुना। सत् को सुनकर भी उसने उसे आत्मा में ग्रहण नहीं किया; इसलिए महा मिथ्यात्व दूर नहीं हुआ।

प्रारम्भ से ही आत्मा के स्वावलम्बी शुद्धस्वरूप की समझ, उसकी श्रद्धा और उसका ज्ञान करने का जो मार्ग है, वह नहीं रुचा, किन्तु अनादि काल से पराश्रय रुचा है, इसलिए सत् को सुनते हुए कई जीवों को ऐसा लगता है कि अरे ! यदि आत्मा का ऐसा स्वरूप मानेंगे तो समाज-व्यवस्था कैसे निभेगी ? जब कि समाज में रह रहे हैं, तब एक-दूसरे का कुछ करना तो चाहिए न ? ऐसी पराश्रित मान्यता से संसार का पक्ष नहीं छोड़ा और आत्मा को नहीं पहिचाना।

सत्य को समझने की आवश्यकता :—

स्वाधीन सत्य को स्वीकार करने से जीव को कदापि हानि नहीं होती और समाज को भी सत्यतत्त्व को मानने से कदापि कोई हानि नहीं होगी। समाज अपनी अज्ञानता से ही दुःखी है और वह दुःख अपनी यथार्थ समझ से ही दूर हो सकता है; इसलिए यथार्थ समझ करनी चाहिए। जो यह मानता है कि समझ से हानि होगी, वह सत्य का महान अनादर करता है। मिथ्यात्व का महापाप दूर करने के लिये सर्व प्रथम यथार्थ तत्त्व की सच्ची पहिचान करने का अभ्यास करना आवश्यक है।

सर्वज्ञ-वीतराग देव, निर्ग्रन्थ गुरु और उनके कहे गये अनेकान्तमय सत् शास्त्रों का ठीक निर्णय करना चाहिए। स्वयं हिताहित का निर्णय करके, सत्य को समझने का जिज्ञासु होकर,

www.vitragvani.com

ज्ञानियों से शुद्धात्मा की बात सुनकर, विचार के द्वारा निर्णय करना चाहिए। यही मिथ्यात्व को दूर करने का उपाय है।

भगवान के उपदेश का सार :—

प्रश्न— भगवान के उपदेश में मुख्यतया क्या कथन होता है?

उत्तर — भगवान स्वयं अपने पुरुषार्थ के द्वारा स्वरूप की सच्ची श्रद्धा और स्थिरता करके पूर्णदशा को प्राप्त हुए हैं, 'इसलिए उनके उपदेश में भी पुरुषार्थ द्वारा आत्मा की सच्ची श्रद्धा और स्थिरता करने की बात मुख्यता से आती है।' भगवान के उपदेश में नवतत्त्वों का स्वरूप बताया जाता है। यदि कोई 'आत्मा' शुद्ध है, इस प्रकार आत्मा-आत्मा ही कहा करे तो अज्ञानी जीव कुछ भी नहीं समझ सकेंगे; इसलिए यह समझाया जाता है कि आत्मा का शुद्धस्वभाव क्या है? दुःख का कारण क्या है? संसार-मार्ग क्या है? नवतत्त्व क्या हैं? देव,गुरु,शास्त्र क्या हैं? इत्यादि। किन्तु उसमें आत्मा का स्वरूप समझाने की मुख्यता होती है।

नवतत्त्व :—

आत्मा का स्वभाव तो शुद्ध ही है, किन्तु अवस्था में विकारी और अविकारी भेद हैं। पुण्य-पाप, विकार हैं और उसका फल आस्रव तथा बन्ध है। यह चारों (पुण्य, पाप, आस्रव, बन्ध) जीव के दुःख के कारण हैं; इसलिए वे त्याज्य हैं।

आत्मस्वरूप को यथार्थ समझकर पुण्य-पाप को दूर करके स्थिरता करना, वह संवर, निर्जरा, मोक्ष है। ये तीनों आत्मा के सुख के कारण हैं, इसलिए वे प्रगट करने योग्य हैं। जीव स्वयं ज्ञानमय है, परन्तु ज्ञानरहित अजीव वस्तु के लक्ष्य से भूल करता है;

www.vitragvani.com

इसलिए जीव-अजीव की भिन्नता समझायी जाती है। इस प्रकार नवतत्त्व का स्वरूप समझना चाहिए।

द्रव्य और पर्याय :—

आत्मा अपनी शक्ति से त्रिकाल शुद्ध है, किन्तु उसकी वर्तमान पर्याय बदलती रहती है, अर्थात् शक्ति-स्वभाव से स्थिर रहकर भी अवस्था में परिवर्तन होता रहता है। अवस्था में स्वयं अपने स्वरूप को भूलकर जीव, मिथ्यात्वरूप महाभूल को उत्पन्न करता है, वह भूल अवस्था में है और क्योंकि अवस्था बदलती है, इसलिए वह भूल सच्ची समझ के द्वारा स्वयं दूर कर सकता है। अवस्था (पर्याय) में भूल करनेवाला जीव स्वयं है, इसलिए वह स्वयं ही भूल को दूर कर सकता है।

यथार्थ समझ :—

जीव अपने स्वरूप को भूल रहा है; इसलिए वह अजीव को अपना मानता है और इसलिए पुण्य, पाप, आस्रव, बन्ध होते हैं। यथार्थ समझ के द्वारा सम्यग्दर्शन प्राप्त कर लेने पर, उसे अपना स्वरूप, अजीव और विकार से भिन्न लक्ष्य में आता है और इससे पुण्य, पाप, आस्रव, बन्ध क्रमशः दूर होकर संवर, निर्जरा, मोक्ष होता है। इसलिए सर्व प्रथम स्थूल और सूक्ष्म दोनों प्रकार के मिथ्यात्व को, यथार्थ समझ के द्वारा दूर करके, आत्मस्वरूप की यथार्थ श्रद्धा करके, सम्यग्दर्शन के द्वारा अपने स्वरूप के महाभ्रम का अभाव करना चाहिए।

क्रिया और ग्रहण-त्याग :—

यथार्थ समझ के द्वारा सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान प्राप्त करते

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com

ही संवर-निर्जरारूप धर्म प्रारम्भ हो जाता है और अनन्त संसार के मूलरूप मिथ्यात्व का ध्वंस होता है। अनन्त परवस्तुओं से अपने को हानि-लाभ होता है - ऐसी मान्यता दूर होने पर, अनन्त राग-द्वेष की असत् क्रिया का त्याग और ज्ञान की सत्-क्रिया का ग्रहण होता है। यही सर्वप्रथम धर्म की सत् क्रिया है। इसे समझे बिना धर्म की क्रिया किञ्चित्मात्र भी नहीं हो सकती। देह तो जड़ है, उसकी क्रिया के साथ धर्म का कोई सम्बन्ध नहीं है।

आत्मा का स्वभाव कैसा है, उसकी विकारी तथा अविकारी अवस्था किस प्रकार की होती है और विकारी अवस्था के समय कैसे निमित्त का संयोग होता है एवं अविकारी अवस्था के समय कैसे निमित्त स्वयं छूट जाते हैं — यह सब जानना चाहिए, इसके लिए स्व-पर के भेदज्ञानपूर्वक नवतत्त्व का ज्ञान होना चाहिए।

सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान :—

प्रश्न — आत्मा को सम्यग्ज्ञान किस उम्र में और किस दशा में प्रगट हो सकता है?

उत्तर — गृहस्थदशा में (गर्भ के भी सवा नौं माह सहित) आठ वर्ष की उम्र में भी सम्यग्ज्ञान हो सकता है। गृहस्थादशा में आत्मप्रतीति की जा सकती है। पहले तो निःशङ्क सम्यग्दर्शन प्रगट करना चाहिए, सम्यग्दर्शन के होते ही सम्यग्ज्ञान हो जाता है और सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान होने पर, स्वभाव के पुरुषार्थ द्वारा विकार को दूर करके जीव, अविकारीदशा को प्रगट किये बिना नहीं रहता। अल्प पुरुषार्थ के कारण कदाचित् विकार के दूर होने में देर लगे, तथापि उसके दर्शन-ज्ञान में मिथ्यात्व नहीं रहता।

निश्चय और व्यवहार :—

आत्मा का यथार्थ ज्ञान होने पर, जीव को ऐसा निश्चय होता है कि मेरा स्वभाव शुद्ध निर्दोष है; तथापि मेरे अवस्था में जो विकार और अशुद्धता है, वह मेरा दोष है; वह मेरा वास्तविक स्वरूप नहीं है, इसलिए वह त्याज्य है, हेय है। जब तक मेरा लक्ष्य किसी अन्य वस्तु में या विकार में रहेगा, तब तक अविकारीदशा नहीं होगी; किन्तु जब उस संयोग और विकार से अपने लक्ष्य को हटाकर, मैं अपने शुद्ध अविकारी ध्रुवस्वरूप में लक्ष्य को स्थिर करूँगा, तब विकार दूर होकर अविकारीदशा प्रगट होगी।

मेरा ज्ञानस्वरूप नित्य है और रागादि अनित्य है; एकरूप ज्ञानस्वरूप के आश्रय में रहने पर, रागादि दूर हो जाते हैं। अवस्था / पर्याय तो क्षणिक है और वह प्रतिक्षण बदलती रहती है, इसलिए उसके आश्रय से ज्ञान स्थिर नहीं रहता; किन्तु उसमें वृत्ति उद्भूत होती है, इसलिए अवस्था का लक्ष्य छोड़ना चाहियऐ और त्रैकालिक शुद्धस्वरूप पर लक्ष्य स्थापित करना चाहिये। यदि प्रकारान्तर से कहा जाये तो निश्चय स्वभाव का लक्ष्य करके व्यवहार का लक्ष्य छोड़ने से शुद्धता प्रगट होती है।

सम्यग्दर्शन का फल :—

चारित्र की शुद्धता एकसाथ सम्पूर्ण प्रगट नहीं हो जाती; किन्तु क्रमशः प्रगट होती है। जब तक अपूर्ण शुद्धदशा रहती है, तब तक साधकदशा कहलाती है। यदि कोई कहे कि शुद्धता कितनी प्रगट होती है? कहते हैं कि - पहले सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान से जो आत्मस्वभाव प्रतीति में आया है, उस स्वभाव की महिमा के द्वारा वह जितने बलपूर्वक स्वद्रव्य में, एकाग्रता करता है, उतनी ही

शुद्धता प्रगट होती है। शुद्धता की प्रथम सीढ़ी शुद्धात्मा की प्रतीति, अर्थात् सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शन के बाद पुरुषार्थ के द्वारा क्रमश: स्थिरता को बढ़ाकर अन्त में पूर्ण स्थिरता के द्वारा पूर्ण शुद्धता प्रगट करके मुक्त हो जाता है और सिद्धदशा में अक्षय अनन्त आत्मसुख का अनुभव करता है —मिथ्यात्व का त्याग करके सम्यग्दर्शन प्रगट करने का ही यह फल है।

उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य :—

प्रश्न — द्रव्य त्रिकाल स्थिर रहनेवाला है, उसका कभी नाश नहीं होता और वह कभी भी दूसरे द्रव्य में नहीं मिल जाता, इसका क्या आधार है ? इसका कैसे विश्वास किया जाये ? हम देखते हैं कि दूध इत्यादि अनेक वस्तुओं का नाश हो जाता है अथवा दूध (वस्तु) मिटकर दही बन जाता है, तब फिर यह कैसे कहा जा सकता है कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य में नहीं मिलता ?

उत्तर — वस्तुस्वरूप का ऐसा सिद्धानत है कि जो वस्तु है, उसका कभी भी नाश नहीं होता और जो वस्तु नहीं है, उसकी उत्पत्ति नहीं होती तथा जो वस्तु है, उसमें रूपान्तर होता रहता है अर्थात् स्थिर रहकर बदला (Parmanency with a change) वस्तु का स्वरूप है। शास्त्रीय भाषामें इस नियम को 'उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य-युक्तं सत्' के रूप में कहा गया है। उत्पाद-व्यय का अर्थ है, अवस्था (पर्याय) का रूपान्तर और ध्रौव्य का अर्थ है, वस्तु का स्थिर रहना - यह द्रव्य का स्वभाव है।

अस्ति-नास्ति :—

द्रव्य और पर्याय के स्वरूप में यह अन्तर है कि द्रव्य त्रिकाल स्थिर है, वह बदलता नहीं है; किन्तु पर्याय क्षणिक है, वह प्रतिक्षण

बदलती रहती है। पर्याय के बदलने पर भी द्रव्य का नाश नहीं होता। द्रव्य अपने स्वरूप में त्रिकाल स्थिर है, इसलिए वह दूसरे में कभी नहीं मिलता। इसे अनेकान्तस्वरूप कहा जाता है अर्थात् वस्तु अपने स्वरूप से है और दूसरे स्वरूप की अपेक्षा से नहीं है।

जैसे लोहा लोहे के स्वरूप की अपेक्षा से है; किन्तु वह लकड़ी के स्वरूप की अपेक्षा से नहीं है। जीव जीवस्वरूप से है; किन्तु वह जड़स्वरूप से नहीं है। ऐसा स्वभाव है, इसलिए कोई वस्तु अन्य वस्तु में नहीं मिल जाती; किन्तु सभी वस्तुएँ अपने-अपने स्वरूप से भिन्न ही रहती हैं।

नित्य-अनित्य :—

जीव अपने वस्तुस्वरूप से स्थिर रहकर पर्याय की अपेक्षा से बदलता रहता है; किन्तु जीव जीवरूप में ही बदलता है। जीव की अवस्था बदलती है, इसलिए संसारदशा का नाश करके सिद्धदशा हो सकती है। अज्ञानदशा का नाश करके ज्ञानदशा हो सकती है और जीव नित्य है, इसलिए संसारदशा का नाश हो जाने पर भी, वह मोक्षदशारूप में स्थिर बना रहता है। इस प्रकार वस्तु की अपेक्षा से नित्य और पर्याय की अपेक्षा से अनित्य समझना चाहिए।

परमाणु में भी उसकी अवस्था बदलती है, किन्तु किसी वस्तु का नाश नहीं होता। दूध इत्यादि का नाश होता हुआ दिखता है, किन्तु वास्तव में वह वस्तु का नाश नहीं है। दूध कहीं मूलवस्तु नहीं है, किन्तु वह तो बहुत से परमाणुओं की स्कन्धरूप अवस्था है और वह अवस्था बदलकर अन्य दही इत्यादि अवस्था हो जाती है; किन्तु उसमें परमाणु-वस्तु तो स्थिर बनी ही रहती है और फिर दूध बदलकर दही हो जाता है; इसलिए वस्तु अन्यरूप नहीं हो

जाती। परमाणु वस्तु है, वह तो सभी अवस्थाओं में परमाणुरूप ही रहती है। वस्तु कभी भी अपने स्वरूप को नहीं छोड़ती। श्रीमद् राजचन्द्र ने कहा है –

क्यारे कोई वस्तुनो केवल होय न नाश।
चेतन पामे नाश तो केमां भले तपास?

(-आत्मसिद्धि 70)

जड़ अथवा चेतन किसी भी वस्तु का कभी सर्वथा नाश नहीं होता। यदि ज्ञानस्वरूप चेतनवस्तु नाश को प्राप्त हो तो वह किसमें जाकर मिलेगी? चेतन का नाश होकर क्या वह जड़ में घुस जाता है? ऐसा कदापि नहीं हो सकता। इसलिए यह स्पष्ट है कि चेतन सदा चेतनरूप परिणमित होता है और जड़रूप सदा जड़ परिणमित होता है; किन्तु वस्तु का कभी नाश नहीं होता।

पर्याय के बदलने से वस्तु का नाश मान लेना अज्ञान है और यह मानना भी अज्ञान है कि वस्तु की पर्याय को दूसरा बदलवाता है। वस्तु कभी भी बिना पर्याय के नहीं होती और पर्याय कभी भी वस्तु के बिना नहीं होती।

जो अनेक प्रकार की अवस्थायें होती हैं, वे नित्य, स्थिर रहनेवाली वस्तु के बिना नहीं हो सकती। यदि नित्य स्थिर रहनेवाला पदार्थ न हो तो अवस्था कहाँ से आये? दूध, दही, मक्खन, घी इत्यादि सब अवस्थायें हैं, उसमें नित्य स्थिर रहनेवाली मूलवस्तु परमाणु है। दूध इत्यादि पर्यायें हैं, इसलिए वे बदल जाती हैं, किन्तु उस किसी भी अवस्था में परमाणु अपने परमाणुपन को नहीं छोड़ता, क्योंकि वह वस्तु है, द्रव्य है।

सामान्य-विशेष :—

द्रव्य का अर्थ है वस्तु; और वस्तु की वर्तमान अवस्था को पर्याय कहते हैं। द्रव्य अंशी (सम्पूर्ण वस्तु) है और पर्याय उसका एक-अशं है। अंशी को सामान्य कहते हैं और अंश को विशेष कहते हैं। इस सामान्य-विशेष को मिलाकर वस्तु का अस्तित्व है। सामान्य-विशेष के बिना कोई सत् पदार्थ नहीं होता। सामान्य ध्रुव है और विशेष उत्पाद-व्यय है— **'उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्तं सत्'**।

जो वस्तु एक समय में है, वह वस्तु त्रिकाल है, क्योंकि वस्तु का नाश नहीं होता, किन्तु रूपान्तर होता है। वस्तु अपनी शक्ति से (सत्ता से-अस्तित्व से) स्थिर रहती है, उसे कोई परवस्तु सहायक नहीं होती। यदि इसी नियम को सरलभाषा में कहा जाये तो - एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ भी नहीं कर सकता।

— अन्त में —

प्रश्न — यह सब किसलिए समझना चाहिए?

उत्तर — अनादि काल से चला आ रहा है - ऐसे अनन्त दु:ख के कारण एवं महापापरूप मिथ्यात्व को दूर करने के लिए यह सब समझना आवश्यक है। यह समझ लेने पर आत्मस्वरूप की यथार्थ पहिचान हो जाती है और सम्यग्दर्शन प्रगट हो जाता है तथा सच्चा सुख प्रगट हो जाता है; इसलिए इसे भलीभाँति समझने का प्रयत्न करना चाहिए।

धर्म की पहली भूमिका (भाग 3)

[आत्मस्वरूप की विपरीत मान्यता को मिथ्यात्व कहते हैं। मिथ्यात्व ही सबसे बड़ा पाप है और वही हिंसा है। उसे आत्मा की यथार्थ समझ के द्वारा दूर किया जा सकता है। यथार्थ समझ के होने पर ही धर्म की सत्-क्रिया प्रारम्भ होती है और अधर्मरूपी असत्-क्रिया का नाश होता है। यथार्थ समझ के द्वारा बालक, युवक, वृद्ध और सभी जीव सम्यग्दर्शन प्राप्त कर सकते हैं, इसलिए वस्तुस्वरूप की यथार्थ समझ प्राप्त करनी चाहिए। वस्तुस्वरूप का वर्णन करते हुए, नवतत्त्व, द्रव्य-पर्याय, निश्चय-व्यवहार, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य, अस्ति-नास्ति, नित्य-अनित्य, सामान्य-विशेष इत्यादि का स्वरूप संक्षेप में बता चुके हैं। अब छह द्रव्य को विशेषता सिद्ध करके वस्तुस्वरूपसम्बन्धी विशेष ज्ञातव्य कुछ बातें बतायी जाती हैं और अन्त में उसका प्रयोजन बतलाकर यह विषय समाप्त किया जाता है।]

वस्तु के अस्तित्व का निर्णय :—

प्रश्न — यह कहा है कि आत्मा और परमाणु वस्तु हैं; परन्तु यदि परमाणु वस्तु हों तो वे आँखों से दिखायी क्यों नहीं देते? और आत्मा भी आँखों से क्यों नहीं दिखायी देता? जो वस्तु है, वह आँखों से दिखायी देनी चाहिए?

उत्तर — यह सिद्धान्त ठीक नहीं है कि जितना आँखों से

www.vitragvani.com

दिखायी दे, उतना माना जाये। यह मान्यता भी उचित नहीं है कि आँखों से दिखायी देने पर ही किसी वस्तु को माना जाता है। वस्तु आँखों से भले ही दिखायी न दे, किन्तु ज्ञान में तो ज्ञात होती ही है। एक पृथक् रजकण (परमाणु) आँखों से दिखायी नहीं दे सकता, किन्तु ज्ञान के द्वारा उसका निश्चय किया जा सकता है। जैसे पानी, ऑक्सीजन और हाईड्रोजन के मिश्रण से बनता है; किन्तु ऑक्सीजन, हाईड्रोजन और उसमें पानी की शक्ति आँखों से दिखायी नहीं देती, तथापि वह ज्ञान के द्वारा जाना जा सकता है; इसी प्रकार अनेक परमाणु एकत्रित होकर सोना, लकड़ी, कागज इत्यादि दृश्यमान स्थूल पदार्थों के रूप में हुए हैं, जिनमें परमाणु का अस्तित्व निश्चित हो सकता है। जितने भी स्थूल पदार्थ दिखायी देते हैं, वे सब परमाणु की जाति के (अचेतन वर्णादि युक्त) ज्ञात होते हैं, उसका अन्तिम अंश परम अणु है। इससे निश्चित हुआ कि आँख से दिखायी न देने पर भी परमाणु का नित्य अस्तित्व ज्ञान में प्रतीत होता है।

यदि ऐसा कहा कहा जाए कि हम तो उतना ही मानते हैं, जितना आँखों से दिखायी देता है, अन्य कुछ नहीं मानते, तो हम इसके समाधानार्थ यह पूछते हैं कि क्या किसी ने अपने सात पीढ़ी पहले के पिता को अपनी आँखों से देखा है? आँखों से न देखने पर भी सात पीढ़ी पूर्व पिता था, यह मानता है या नहीं? वर्तमान में स्वयं है और अपना पिता भी है; इसलिए सात पीढ़ी पूर्व का पिता भी था – ऐसा आँखों से दिखायी न देने पर भी निःशङ्कतया निश्चय करता है, उसमें ऐसी शङ्का नहीं करता कि 'मैंने अपने सात पीढ़ी पूर्व के पिता को आँखों से नहीं देखा; इसलिए वे होंगे या नहीं?'

वस्तु का अस्तित्व आँखों से निश्चित नहीं होता, किन्तु ज्ञान से ही निश्चित होता है और इस प्रकार जाननेवाला ज्ञान भी प्रत्यक्ष-ज्ञान के समान ही प्रमाणभूत है।

जो वस्तु, वर्तमान अवस्था को धारण कर रही है, वह वस्तु त्रिकाल स्थायी अवश्य होती है; यदि त्रैकालिकता न हो तो उसकी वर्तमान अवस्था भी न हो सके। उसकी जो वर्तमान अवस्था ज्ञात होती है, वह वस्तु का त्रिकाल अस्तित्व प्रगट करती है कि हम पहले कपास, सूत इत्यादि अवस्थारूप में थे और भविष्य में धूल, अन्न इत्यादि अवस्थारूप रहेंगे।

इस प्रकार वर्तमान अवस्था, वस्तु के त्रिकाल अस्तित्व को घोषित करती है। अब, यहाँ यह विचार करना चाहिए कि दूध बदलकर दही बन जाता है, दही बदलकर मक्खन या घी के रूप में हो जाता है और घी बदलकर विष्टा में रूपान्तरित हो जाता है; उसमें मूल स्थिर रहनेवाली कौन सी वस्तु है, जिसके आधार से यह रूपान्तर हुआ करते हैं? विचार करने पर मालूम होगा कि नित्यस्थायी मूलवस्तु परमाणु हैं और परमाणु वस्तु के रूप में नित्य स्थिर रहकर उसकी अवस्था में रूपान्तर होते रहते हैं। इस प्रकार सिद्ध हुआ कि दृष्टिगोचर न हो सकने पर भी परमाणु वस्तु है।

जैसे परमाणु का अस्तित्व ज्ञान के द्वारा निश्चित किया जा सकता है; उसी प्रकार आत्मा का अस्तित्व भी ज्ञान के द्वारा निश्चित किया जा सकता है। यदि आत्मा न हो तो यह सब कौन जानेगा? 'आत्मा नहीं है' —ऐसी शङ्का भी आत्मा के अतिरिक्त दूसरा कौन कर सकता है? आत्मा है और 'है' के लिये वह त्रिकाल स्थायी है।

आत्मा जन्म से मरण तक ही नहीं होता, किन्तु वह त्रिकाल होता है, जन्म और मरण तो शरीर के संयोग और वियोग की अपेक्षा से हैं। यदि शरीर की अपेक्षा को अलग कर दिया जाये तो जन्म-मरण रहित आत्मा सतत्-त्रिकाल है। वास्तव में आत्मा का न तो जन्म होता है और न मरण होता है। आत्मा सदा शाश्वत अविनाशी वस्तु है। आत्मावस्तु ज्ञानस्वरूप है, वह निज से ही है; वह शरीर इत्यादि अन्य पदार्थों से स्थिर नहीं है, अर्थात् आत्मा पराधीन नहीं है, आत्मा कर्माधीन नहीं है; किन्तु स्वाधीन है।

जीव और अजीव :—

'आत्मा कैसा है' यह प्रश्न उपस्थित होते ही इतना तो निश्चित हो ही गया कि आत्मा से विरुद्ध जाति के अन्य पदार्थ भी हैं और उनसे इस आत्मा का अस्तित्व भिन्न है; अर्थात् आत्मा है, आत्मा के अतिरिक्त परवस्तु है और उस परवस्तु से आत्मा का स्वरूप भिन्न है; इसलिए यह भी निश्चित हो गया कि आत्मा परवस्तु का कुछ नहीं कर सकता। इतना यथार्थ समझ लेने पर ही जीव और अजीव के अस्तित्व का निश्चय करना कहलाता है।

जीव स्वयं ज्ञातास्वरूप है — ऐसा निश्चय करने पर यह भी स्वतः निश्चय हो गया कि जीव के अतिरिक्त अन्य पदार्थ ज्ञातास्वरूप नहीं हैं। जीव ज्ञाता है -चेतनस्वरूप है, इस कथन का कारण यह है कि ज्ञातृत्व से रहित अचेतन अजीव पदार्थ भी हैं। उन पदार्थों से जीव की भिन्नता को पहचानने के लिए ज्ञातृत्व के चिह्न से (चेतनता के द्वारा) जीव की पहिचान करायी है। जीव के अतिरिक्त अन्य किसी भी पदार्थ में ज्ञातृत्व नहीं है।

इससे जीव और अजीव नामक दो प्रकार के पदार्थों का अस्तित्व निश्चित हुआ। उनमें से जीवद्रव्य के सम्बन्ध में अभी तक बहुत कुछ कहा जा चुका है। अजीव पदार्थ पाँच प्रकार के हैं – पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। इस प्रकार छह द्रव्यों (जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल) में से मात्र जीव ही ज्ञानवान है, शेष पाँच ज्ञानरहित हैं। वे पाँचों पदार्थ जीव से विरुद्ध लक्षणवाले हैं; इसलिए उन्हें 'अजीव' अथवा जड़ कहा गया है।

छह द्रव्यों का विशेष सिद्धि

जीवद्रव्य और पुद्गलद्रव्य :—

जो स्थूल पदार्थ हमें दिखायी देते हैं, उन शरीर, पुस्तक, पत्थर, लकड़ी इत्यादि में ज्ञान नहीं है, अर्थात् वे अजीव हैं। उन पदार्थों को तो अज्ञानी जीव भी देखता है। उन पदार्थों में न्यूनधिकता होती रहती है, अर्थात् वे एकत्रित होते हैं और पृथक् हो जाते हैं। ऐसे दृष्टिगोचर होनेवाले पदार्थों को पुद्गल कहते हैं। रूप, रस, गन्ध और स्पर्श पुद्गलद्रव्य के गुण हैं; इसलिए पुद्गल द्रव्य काला-सफेद, खट्टा-मीठा, सुगन्धित-दुर्गन्धित और हलका-भारी इत्यादि रूप से जाना जाता है। ये सब पुद्गल के ही गुण हैं। जीव, काला-गोरा, या सुगन्धित-दुर्गन्धित नहीं होता; जीव तो ज्ञानवान है। शब्द टकराता है अथवा बोला जाता है, यह सब पुद्गल की ही पर्याय है। जीव उन पुद्गलों से भिन्न है। **लोक में अज्ञानी-बेहोश मनुष्य से कहा जाता है कि — तेरा चेतन कहाँ उड़ गया है? अर्थात् यह शरीर तो अजीव है जोकि जानता नहीं है, किन्तु जाननेवाला ज्ञान कहाँ चला गया? अर्थात् जीव**

www.vitragvani.com

कहाँ गया ? इससे जीव और पुद्गल इन दो द्रव्यों की सिद्धि हो गयी।

धर्मद्रव्य :—

इस धर्मद्रव्य को जीव अव्यक्तरूप से स्वीकार करता है। छहों द्रव्यों का अस्तित्व स्वीकार किये बिना कोई भी व्यवहार नहीं चल सकता। आने-जाने, रहने इत्यादि में छहों द्रव्यों का अस्तित्व सिद्ध हो जाता है। 'राजकोट से सोनगढ़ आये' इस कथन में धर्मद्रव्य सिद्ध हो जाता है। राजकोट से सोनगढ़ आने का अर्थ यह है कि जीव और शरीर के परमाणुओं की गति हुई —एक क्षेत्र से दूसरा क्षेत्र बदला। अब इस क्षेत्र बदलने के कार्य में निमित्त द्रव्य किसे कहोगे ? क्योंकि यह नियम सुनिश्चित है कि प्रत्येक कार्य में उपादान और निमित्तकारण अवश्य होता है। अब यहाँ यह विचार करना है कि जीव पुद्गलों के राजकोट से सोनगढ़ आने में कौनसा द्रव्य निमित्त है ? पहले तो जीव और पुद्गल दोनों में उपादान है। निमित्त उपादान से भिन्न होता है; इसलिए जीव अथवा पुद्गल उस क्षेत्रान्तर का निमित्त नहीं हो सकता। कालद्रव्य परिणमन में निमित्त होता है, अर्थात् वह पर्याय के बदलने में निमित्त है; इसलिए कालद्रव्य क्षेत्रान्तर का निमित्त नहीं है। आकाश, द्रव्य समस्त द्रव्यों का रहने के लिये स्थान देता है।

जब हम राजकोट में थे, तब जीव और पुद्गल के लिये आकाश निमित्त था, और सोनगढ़ में भी वही निमित्त है, इसलिये आकाश को भी क्षेत्रान्तर का निमित्त नहीं कहा जा सकता। इससे यह सुनिश्चित है कि क्षेत्रान्तररूप कार्य का निमित्त इन चार द्रव्यों के अतिरिक्त कोई अन्य द्रव्य है। गति करने में कोई एक द्रव्य

निमित्तरूप है; किन्तु वह द्रव्य कौन-सा है, इस सम्बन्ध में जीव ने कभी कोई विचार नहीं किया; इसलिए उसे इसकी कोई खबर नहीं है। क्षेत्रान्तरित होने में निमित्तरूप जो द्रव्य है, उस द्रव्य को 'धर्मद्रव्य' कहा जाता है। यह द्रव्य अरूपी है, ज्ञानरहित है।

अधर्मद्रव्य :—

जैसे गति करने में धर्म द्रव्य निमित्त है। उसी प्रकार स्थिति करने में उससे विरुद्ध अधर्म द्रव्य निमित्तरूप है। "राजकोट से सोनगढ़ आकार स्थित हुए" इस स्थिति में निमित्त कौन है ? स्थिर रहने में आकाश निमित्त नहीं हो सकता, क्योंकि उसका निमित्त तो रहने के लिए है, गति के समय भी रहने में आकाश निमित्त था। इसलिए स्थिति का निमित्त कोई अन्य द्रव्य होना चाहिए। और वह द्रव्य 'अधर्म द्रव्य' है। यह द्रव्य भी अरूपी और ज्ञानरहित है।

आकाशद्रव्य :—

प्रत्येक द्रव्य के अपना स्वक्षेत्र होता है, वह निश्चय क्षेत्र है, जहाँ निश्चय होता है वहाँ व्यवहार होता है, जो ऐसा न हो तो अल्पज्ञ प्राणी को समझाया नहीं जा सकता। इसलिए जीव, पुद्गल, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय तथा कालाणुओं के रहने का जो व्यवहार -क्षेत्र वह आकाश है, उस आकाश में अवगाहन-हेतु गुण होने से उसके एक प्रदेश में अनन्त सूक्ष्म रजकण तथा अनन्त सूक्ष्म स्कन्ध भी रह सकते हैं, आकाश क्षेत्र है और अन्य पाँच द्रव्य क्षेत्री हैं। क्षेत्र, क्षेत्री से बड़ा होता है, इसलिए एक अखण्ड आकाश के दोभाग हो जाते हैं, जिसमें पाँच क्षेत्री रहते हैं, वह लोकाकाश है और बाकी का भाग अलोकाकाश है।

'आकाश' नामक द्रव्य को लोग अव्यक्त रूप से स्वीकार

www.vitragvani.com

करते है; "अमुक मकान इत्यादि स्थान पर आकाश से पाताल तक हमारा अधिकार है।" इस प्रकार दस्तावेजों में लिखवाया जाता है, इससे निश्चित् हुआ कि आकाश से पातालरूप कोई एक वस्तु है। यदि आकाश से पाताल तक कोई वस्तु है ही नहीं तो कोई यह कैसे लिखा सकता है कि आकाश से पाताल तक मेरा अधिकार है ? वस्तु है इसलिए उस पर अपना अधिकार माना जाता है। आाकाश से पाताल तक कहने में उस सर्वव्यापी वस्तु को 'आकाशद्रव्य' कहा जाता है। यह द्रव्य ज्ञानरहित है और अरूपी है। उसमें रूप, रस, गन्ध इत्यादि नहीं है।

कालद्रव्य :—

लोग दस्तावेज में यह लिखवाते हैं कि 'यावत् चन्द्र-दिवाकरौ— अर्थात् जब तक सूर्य और चन्द्रमा रहें तब तक हमारा अधिकार है।' यहाँ पर कालद्रव्य को स्वीकार किया गया है। वर्तमान मात्र के लिए ही अधिकार हो सो बात नहीं है, किन्तु अभी काल आगे बढ़ता जा रहा है, उस समस्त काल में मेरा अधिकार है। इस प्रकार कालद्रव्य को स्वीकार करते हैं। लोग कहा करते हैं कि हम और हमारा परिवार सदा फलता-फूलता रहे इसमें भी भविष्यकाल को स्वीकार किया है। यहाँ तो मात्र कालद्रव्य को सिद्ध करने के लिए फलने-फूलने की बाता है, फलते-फूलते रहने की भावना तो मिथ्यादृष्टि की ही है। लोग कहा करते हैं कि हम तो सात पीढ़ी से सुखी रहते आ रहे हैं, इसमें भी भूतकाल को स्वीकार किया है। भूत, भविष्यत और वर्तमान इत्यादि सभी प्रकार 'कालद्रव्य' की व्यवहार पर्याय हैं। यह कालद्रव्य भी अरूपी है और ज्ञानरहित है।

www.vitragvani.com

इस प्रकार जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल- इन छह द्रव्यों की सिद्धि की गयी है। इनके अतिरिक्त अन्य सातवाँ कोई द्रव्य है ही नहीं। इन छह द्रव्यों में से एक भी द्रव्य कम नहीं है, ठीक छह ही हैं और ऐसा मानने से ही यथार्थ वस्तु की सिद्धि होती है। यदि इन छह द्रव्यों के अतिरिक्त कोई सातवाँ द्रव्य हो तो उसका कार्य बताइये। ऐसा कोई कार्य नहीं है, जो इन छह द्रव्यों से बाहर हो, इसलिए यह सुनिश्चित है कि कोई सातवाँ द्रव्य है ही नहीं और यदि इन छह द्रव्यों में से कोई एक द्रव्य कम हो तो उस द्रव्य का कार्य कौन करेगा ? छह द्रव्यों में से एक भी ऐसा नहीं है, जिसके बिना विश्व का विषय-व्यवहार चल सके।

जीव - इस जगत में अनन्त जीव हैं। जीव ज्ञातृत्व चिह्न (विशेषगुण) के द्वारा पहिचाना जाता है; क्योंकि जीव के अतिरिक्त किसी भी पदार्थ में ज्ञातृत्व नहीं है। जो अनन्त जीव हैं वे एक-दूसरे से बिल्कुल भिन्न हैं।

पुद्गल - इस जगत में अनन्तानन्त पुद्गल हैं। वे रूप, रस, गन्ध, स्पर्श के द्वारा पहचाने जाते हैं, क्योंकि पुद्गल के अतिरिक्त अन्य किसी भी पदार्थ में रूप, रस, गन्ध स्पर्श नहीं होते। इन्द्रियों के द्वारा जो भी दिखायी देता है, वे सब पुद्गलद्रव्य से बने हुए स्कन्ध हैं।

धर्म - यहाँ धर्म का अर्थ आत्मा का धर्म नहीं है, किन्तु धर्म नाम का पृथक् द्रव्य है। यह द्रव्य एक अखण्डद्रव्य है, जो समस्त लोक में विद्यमान है जीव और पुद्गलों के गति करते समय यह द्रव्य निमित्तरूप पहचानाजाता है।

अधर्म - यहाँ अधर्म का अर्थ पाप अथवा आत्मा का दोष नहीं

है; किन्तु 'अधर्म' नाम का स्वतन्त्र द्रव्य है। यह एक अखण्डद्रव्य है जो कि समस्त लोक में विद्यमान है। जब जीव और पुद्गल गति करके रुक जाते हैं, तब यह द्रव्य उस स्थिरता में निमित्तरूप पहिचाना जाता है।

आकाश – यह एक अखण्ड सर्वव्यापक द्रव्य है। यह समस्त पदार्थों को स्थान देने में निमित्तरूप पहचाना जाता है। इस द्रव्य के जितने भाग में अन्य पाँच द्रव्य रहते हैं, उतने भाग को 'लोकाकाश' कहते हैं और जितना भाग पाँच द्रव्यों से रहित / खाली होता है, उसे अलोकाकाश कहते हैं। जो खाली स्थान कहा जाता है, उसका अर्थ मात्र आकाशद्रव्य होता है।

काल – कालद्रव्य असंख्य हैं। इस लोक में असंख्य प्रदेश हैं, उस प्रत्येक प्रदेश पर एक-एक कालद्रव्य स्थित है। जो असंख्य कालाणु हैं, वे सब एक-दूसरे से पृथक हैं। ये द्रव्य वस्तु के रूपान्तर (परिवर्तन) होने में निमित्तरूप पहचाने जाते हैं।

इन छह द्रव्यों को सर्वज्ञ के अतिरिक्त अन्य कोई भी प्रत्यक्ष नहीं जान सकता। सर्वज्ञदेव ने ही इन छह द्रव्यों को जाना है और उन्होंने उनका यथार्थ स्वरूप कहा है; इसलिए सर्वज्ञ के सत्यमार्ग के अतिरिक्त अन्य कहीं भी छह द्रव्यों का स्वरूप नहीं पाया जा सकता, क्योंकि अन्य अपूर्ण (अल्पज्ञ) जीव उन द्रव्यों को परिपूर्ण नहीं जान सकते; इसलिए छह द्रव्यों के स्वरूप को यथार्थतया समझना चाहिए।

टोपी के उदाहरण से छह द्रव्यों की सिद्धि :—

देखा! यह वस्त्रनिर्मित टोपी, अनन्त परमाणु एकत्रित होकर बनी है और उसके कट जाने पर / छिन्न-भिन्न हो जाने पर परमाणु पृथक् हो जाते हैं; इस प्रकार एकत्रित होना और पृथक् होना

पुद्गल का स्वभाव है। यह टोपी सफेद है, कोई काली, पीली और लाल रङ्ग की भी होती है; रङ्ग, पुद्गलद्रव्य का चिह्न है; इसलिए जो दृष्टिगोचर होता है, वह पुद्गलद्रव्य है। 'यह टोपी है, पुस्तक नहीं' ऐसा जाननेवाला ज्ञान है और ज्ञान, जीव का चिह्न है, इससे जीव भी सिद्ध हो गया। अब यह विचार है कि टोपी कहाँ है? यद्यपि निश्चय से तो टोपी, टोपी में ही है, परन्तु टोपी, टोपी में ही है, —ऐसा कहने से टोपी का भलीभाँति ख्याल नहीं आ सकता; इसलिए निमित्त के रूप में यह कहा जाता है कि अमुक जगह पर टोपी स्थित है। जो जगह है, वह आकाशद्रव्य का अमुक भाग है; इस प्रकार आकाशद्रव्य सिद्ध हुआ।

ध्यान रहे, अब इस टोपी की घड़ी (तह) की जाती है। जब टोपी सीधी थी, तब आकाश में थी और उसकी घड़ी (तह) हो जाने पर भी वह आकाश में ही है, इसलिए आकाश के निमित्त से टोपी की घड़ी का होना नहीं पहचाना जा सकता, तब फिर टोपी की घड़ी होने की जो क्रिया हुई है, उसे किस निमित्त से पहचानोगे? टोपी की घड़ी हो गयी, इसका अर्थ यह है कि पहले उसका क्षेत्र लम्बा था और वह अब अल्प क्षेत्र में समा गयी है। इस प्रकार टोपी के क्षेत्रान्तर के होने में जो वस्तु निमित्त है, वह धर्मद्रव्य है।

अब टोपी घड़ी होकर ज्यो की त्यों स्थिर पड़ी है, उसमें कौन निमित्त है? आकाशद्रव्य तो मात्र स्थान देने में निमित्त है, टोपी के चलने अथवा स्थिर रहने में आकाश निमित्त नहीं है। जब टोपी ने सीधीदशा में से टेढ़ीदशारूप होने के लिये गमन किया, तब धर्मद्रव्य का निमित्त था तो अब स्थिर रहने की क्रिया में उससे विपरीत निमित्त होना चाहिए। गति में धर्मद्रव्य निमित्त था और अब स्थिर

www.vitragvani.com

रहने में अधर्मद्रव्य निमित्तरूप है। पहले टोपी सीधी थी, अब घड़ीवाली है और अब वह अमुक समय तक रहेगी, जहाँ ऐसा जाना वहाँ 'काल' सिद्ध हो गया। भूत, भविष्य, वर्तमान अथवा नया -पुराना, दिन-घण्टे इत्यादि जो भी भेद होते हैं, वे सब किसी एक मूलवस्तु के बिना नहीं हो सकते हैं। उपर्युक्त सभी भेद काल द्रव्य के हैं। यदि कालद्रव्य न हो तो नया-पुराना, पहले-पीछे इत्यादि कोई भी प्रवृत्ति नहीं हो सकती, इसी से कालद्रव्य सिद्ध हो गया।

इन छह द्रव्यों में से यदि एक भी द्रव्य न हो तो जगत-व्यवहार नहीं चल सकता। यदि पुद्गल नहीं हो तो टोपी नहीं हो सकती; यदि जीव न हो तो टोपी का अस्तित्व कौन निश्चित करेगा? यदि आकाश न हो तो यह नहीं जाना जा सकता कि टोपी कहाँ है? यदि धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्य न हो तो टोपी में होनेवाला परिवर्तन (क्षेत्रान्तर और स्थिरता) नहीं जाना जा सकता। यदि कालद्रव्य न हो तो 'पहले' जो टोपी सीधी थी, वही 'अब' घड़ीवाली है — इस प्रकार पहले टोपी का अस्तित्व निश्चित नहीं हो सकता; इसलिए टोपी को सिद्ध करने के लिये छहों द्रव्यों को स्वीकार करना होता है। **विश्व की किसी भी एक वस्तु को स्वीकार करने पर व्यक्तरूप से अथवा अव्यक्तरूप से छहों द्रव्यों की स्वीकृति हो जाती है।**

मानव-शरीर के द्वारा छहों द्रव्यों की सिद्धि :—

यह दृष्टिगोचर होनेवाला शरीर, पुद्गलनिर्मित है और इस शरीर में जीव रहता है। जीव और पुद्गल एक ही आकाश-स्थल में रहते हैं, तथापि दोनों भिन्न हैं। जीव का ज्ञातास्वभाव है और

पुद्गल -निर्मित यह शरीर कुछ भी नहीं जानता। यदि शरीर का कोई अङ्ग कट जाए, तथापि जीव का ज्ञान नहीं कट जाता; जीव तो सम्पूर्ण बना रहता है, क्योंकि जीव और शरीर सदा भिन्न हैं, दोनों का स्वरूप भिन्न है और दोनों का पृथक् कार्य है। यह जीव और पुद्गल तो स्पष्ट हैं। जीव और शरीर कहाँ रहते हैं? वे अमुक स्थान पर दो, चार या छह फुट के स्थान में रहते हैं; इस प्रकार स्थान अथवा जगह के कहने पर 'आकाशद्रव्य' सिद्ध हो जाता है।

यह ध्यान रखना चाहिए कि जहाँ यह कहा जाता है कि जीव और शरीर अकाश में रह रहे हैं, वहाँ वास्तव में जीव, शरीर और आकाश - तीनों स्वतन्त्र पृथक्-पृथक् हैं; कोई एक-दूसरे के स्वरूप में प्रविष्ट नहीं हो जाता। जीव तो ज्ञातास्वरूप में ही विद्यमान है; रूप, रस, गन्ध इत्यादि शरीर में ही हैं, वे आकाश अथवा जीव इत्यादि किसी में भी नहीं हैं। आकाश में न तो रूप, रस इत्यादि हैं और न ज्ञान ही है; वह अरूपी-अचेतन है। जीव में ज्ञान है, किन्तु रूप, रस, गन्ध नहीं हैं, अर्थात् वह अरूपी-चेतन है। पुद्गल में रूप, रस, गन्ध इत्यादि हैं, किन्तु ज्ञान नहीं है, अर्थात् वह रूपी-अचेतन है। इस प्रकार तीनों **द्रव्य एक-दूसरे से भिन्न-स्वतन्त्र हैं। कोई अन्य वस्तु स्वतन्त्र वस्तुओं का कुछ नहीं कर सकती। यदि एक वस्तु में दूसरी वस्तु कुछ करती हो तो वस्तु को स्वतन्त्र कैसे कहा जायेगा?**

इस प्रकार जीव, पुद्गल और आकाश का निश्चय करके कालद्रव्य का निश्चय करते हैं। प्राय: ऐसा पूछा जाता है कि 'आपकी आयु कितनी है?' (यहाँ पर 'आपकी' से मतलब शरीर और जीव दोनों की आयु की बात समझनी चाहिए।) शरीर की

आयु 40-50 वर्ष की कही जाती है और जीव अस्तिरूप से अनादि-अनन्त है। जहाँ यह कहा जाता है कि — 'यह मुझसे पाँच वर्ष छोटा है या पाँच वर्ष बड़ा है' वहाँ शरीर के कद की अपेक्षा से छोटा-बड़ा नहीं होता; किन्तु काल की अपेक्षा से छोटा-बड़ा कहा जाता है। यदि कालद्रव्य की अपेक्षा न रहे तो यह नहीं कहा जा सकता कि यह छोटा है, यह बड़ा है; यह बालक है, वह युवा है, यह वृद्ध है। जो नयी-पुरानी अवस्थायें बदलती रहती हैं, उनसे कालद्रव्य का अस्तित्व निश्चित होता है।

कभी तो जीव और शरीर स्थिर होते हैं और कभी गमन करते हैं। वे स्थिर होने और गमन करने की दशा में दोनों समय आकाश में ही होते हैं; इसलिए आकाश के कारण उनका गमन अथवा स्थिर रहना निश्चित नहीं हो सकता। गमनरूप दशा और स्थिर रहने की दशा, इन दोनों को भिन्न-भिन्न जानने के लिये उन दोनों अवस्थाओं में भिन्न-भिन्न निमित्तरूप दो द्रव्यों को जानना होगा। धर्मद्रव्य के निमित्त से जीव-पुद्गल का गमन जाना जा सकता है और अधर्मद्रव्य के निमित्त से जीव-पुद्गल की स्थिरता जानी जा सकती है। यदि यह धर्म और अधर्मद्रव्य न हों तो गमन और स्थिरता के भेद नहीं जाने जा सकते।

धर्म, अधर्मद्रव्य, जीव और पुद्गलों को रति अथवा स्थिति करने में वास्तव में सहायक नहीं होते। एक द्रव्य के भाव को अन्य द्रव्य की अपेक्षा के बिना पहचाना नहीं जा सकता। जीव के भाव को पहचानने के लिये अजीव की अपेक्षा होती है। जो जानना है, सो जीव है, —ऐसा कहते ही यह बात स्वत: आ जाती है कि जो ज्ञातृत्व से रहित हैं, वे द्रव्य, जीव नहीं हैं और इस प्रकार अजीव

की अपेक्षा आ जाती है। इसी प्रकार छहों द्रव्यों के सम्बन्ध में परस्पर समझ लेना चाहिए। एक आत्मद्रव्य का निर्णय करने पर छहों द्रव्य ज्ञात हो जाते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि यह ज्ञान की विशालता है और ज्ञान का स्वभाव सर्वद्रव्यों को जान लेना है। एक द्रव्य के सिद्ध करने पर छहों द्रव्य सिद्ध हो जाते हैं, इसमें द्रव्य की पराधीनता नहीं है, किन्तु ज्ञान की महिमा है। जो पदार्थ है, वह ज्ञान में अवश्य होता है, जितना पूर्णज्ञान में ज्ञात होता है, उसके अतिरिक्त अन्य कुछ भी इस जगत में नहीं है। पूर्णज्ञान में छहों द्रव्य ज्ञात हुए हैं, उनसे अधिक अन्य कुछ नहीं है।

कर्मों के आधार से छह द्रव्यों की सिद्धि :—

कर्म, पुद्गल की अवस्था हैं। वे जीव के विकारीभाव के निमित्त से रह रहे हैं। कुछ कर्म, बन्धरूप में स्थित हुए, तब उसमें अधर्मास्तिकाय का निमित्त है; प्रतिक्षण कर्म उदय में आकर खिर जाते हैं, उनके खिर जाने पर जो क्षेत्रान्तर होता है, उसमें धर्मास्तिकाय का निमित्त है; कर्म की स्थिति के सम्बन्ध में कहा जाता है कि यह सत्तर कोड़ाकोड़ी का कर्म है अथवा अन्तमुर्हूत का कर्म है, उसमें कालद्रव्य की अपेक्षा है; अनेक कर्म-परमाणुओं के एक क्षेत्र में रहने में आकाशद्रव्य की अपेक्षा है। इस प्रकार छह द्रव्य सिद्ध हुए।

द्रव्यों की स्वतन्त्रता :—

उपरोक्त कथन से यह सिद्ध होता है कि जीवद्रव्य और पुद्गलद्रव्य (कर्म) दोनों बिलकुल भिन्न वस्तुएँ हैं, यह दोनों अपने आप में स्वतन्त्र हैं; कोई एक-दूसरे का कुछ भी नहीं करता। यदि जीव और कर्म एकत्रित हो जायें तो इस जगत

में छह द्रव्य ही नहीं रह सकेंगे। जीव और कर्म सदा भिन्न ही हैं। द्रव्यों का स्वभाव अनादि-अनन्त स्थिर रहते हुए भी प्रतिसमय बदलने का है। समस्त द्रव्य अपनी शक्ति से स्वतन्त्रतया अनादि-अनन्त स्थिर रहते हुए भी ही अपनी पर्याय को बदलते हैं। जीव की पर्याय को जीव बदलते हैं और पुद्गल की पर्याय को पुद्गल बदलते हैं। जीव न तो पुद्गल का कुछ करते हैं और न पुद्गल, जीव का ही कुछ करते हैं।

उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य :—

द्रव्य का कोई कर्ता नहीं है। यदि कोई कर्ता है तो उसने द्रव्य को कैसे बनाया? किसने बनाया? वह स्वयं किसका कर्ता बना? जगत में छह द्रव्य अपने स्वभाव से ही हैं, उनका कोई कर्ता नहीं है। किसी भी नवीन पदार्थ की उत्पत्ति होती ही नहीं है। किसी भी प्रयोग के द्वारा नये जीव की अथवा नये परमाणु की उत्पत्ति नहीं हो सकती। जो पदार्थ होता है, वही रूपान्तरित होता है। जो द्रव्य है, वह कभी नष्ट नहीं होता और जो द्रव्य नहीं है, वह कभी उत्पन्न नहीं होता। हाँ! जो द्रव्य है, वह प्रतिक्षण अपनी पर्याय को बदलता रहता है, —ऐसा नियम है। इस सिद्धान्त को उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य, अर्थात् नित्य स्थिर रहकर बदलना (Permanency with a change) कहते हैं। क्योंकि द्रव्य का कोई बनानेवाला नहीं है; इसलिए कोई सातवाँ द्रव्य नहीं हो सकता और किसी द्रव्य को कोई नाश करनेवाला नहीं है; इसलिए छह द्रव्यों में से कोई भी कम नहीं हो सकता; शाश्वतरूप से छह ही द्रव्य हैं। सर्वज्ञ भगवान ने अपने सम्पूर्ण ज्ञान के द्वारा छह द्रव्यों को जाना है और उन्हीं को अपने उपदेश में दिव्यवाणी के द्वारा कहा है। **सर्वज्ञ वीतराग-**

www.vitragvani.com

प्रणीत परम सत्यमार्ग के अतिरिक्त इन छह द्रव्यों का यथार्थ स्वरूप अन्यत्र कहीं है ही नहीं।

द्रव्य की शक्ति :—

द्रव्य की विशेष शक्ति (चिह्न-विशेष गुण) के सम्बन्ध में पहले संक्षेप में कहा जा चुका है। एक द्रव्य की जो विशेषशक्ति होती है, वह अन्य द्रव्यों में नहीं होती; इसलिए विशेषशक्ति के द्वारा द्रव्य के स्वरूप को पहचाना जा सकता है। जैसे -ज्ञान, जीवद्रव्य की विशेषशक्ति है; जीव के अतिरिक्त अन्य किसी भी द्रव्य में ज्ञान नहीं है; इसलिए ज्ञानशक्ति के द्वारा जीव पहचाना जाता है। अब, यहाँ द्रव्यों की सामान्यशक्ति के सम्बन्ध में कुछ कहा जाता है। जो शक्ति सभी द्रव्यों में होती है, उसे सामान्यशक्ति (सामान्यगुण) कहते हैं। अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, प्रमेयत्व, अगुरुलघुत्व और प्रदेशत्व-ये छहों सामान्यगुण मुख्य हैं, वे सभी द्रव्य में हैं।

अस्तित्वगुण के कारण द्रव्य के अस्तित्व का कभी नाश नहीं होता। द्रव्य अमुक काल के लिये हैं और उसके बाद नष्ट हो जाते हैं - ऐसी बात नहीं हैं। द्रव्य नित्य स्थिर रहनेवाले हैं। **यदि अस्तित्वगुण न हो तो वस्तु नहीं रह सकती और यदि वस्तु ही न हो तो फिर किसे (समझना) समझाना है ?**

वस्तुत्वगुण के कारण द्रव्य अपना प्रयोजनभूत कार्य करता है। द्रव्य स्वयं अपने गुण-पर्यायों का प्रयोजनभूत कार्य करते हैं। एक द्रव्य दूसरे अन्य द्रव्य का कोई भी कार्य नहीं कर सकता।

द्रव्यत्वगुण के कारण द्रव्य निरन्तर एक अवस्था में से दूसरी

अवस्था में द्रवित होता रहता है – परिणमन करता रहता है। द्रव्य त्रिकाल अस्तिरूप होने पर भी सदा एक-सा (कूटस्थ) नहीं है, परन्तु निरन्तर नित्य बदलनेवाला-परिणामी है। यदि द्रव्य में परिणमन न हो तो जीव के संसारदशा का नाश होकर मोक्ष की उत्पत्ति कैसे हो ? शरीर की बाल्यावस्था में से युवावस्था कैसे हो ? छहों द्रव्यों में द्रव्यत्वशक्ति होने से सभी स्वतन्त्ररूप से अपनी-अपनी पर्याय का परिणमन कर रहे हैं। कोई द्रव्य अपनी पर्याय का परिणमन करने के लिये दूसरे द्रव्य की सहायता अथवा प्रभाव की अपेक्षा नहीं रखता।

प्रमेयत्वगुण के कारण द्रव्य, ज्ञान में प्रतीत होते हैं, छहों द्रव्य में प्रमेयत्वशक्ति होने से ज्ञान छहों द्रव्य के स्वरूप का निर्णय कर सकता है। यदि वस्तु में प्रमेयत्वगुण न हो तो वह अपने को यह कैसे बता सकेगी कि 'यह वस्तु है'? जगत का कोई भी पदार्थ, ज्ञान के द्वारा अगम्य नहीं है। आत्मा में प्रमेयत्वगुण होने से आत्मा स्वयं अपने को जान सकता है।

अगुरुलघुत्वगुण के कारण प्रत्येक वस्तु निज स्वरूप में ही स्थिर रहती है। जीव बदलकर कभी परमाणु नहीं हो जाता और परमाणु बदलकर कभी जीवरूप नहीं हो जाता। जड़ सदा जड़रूप में और चेतन सदा चेतनरूप में रहता है। ज्ञान की प्रगटता विकारदशा में चाहे जितनी कम हो, तथापि ऐसा नहीं हो सकता कि जीवद्रव्य बिलकुल ज्ञानहीन हो जाए। इस शक्ति के कारण द्रव्य के गुण छिन्न-भिन्न नहीं हो जाते तथा कोई दो वस्तुयें एकरूप होकर तीसरी नयी प्रकार की वस्तु उत्पन्न नहीं होती, क्योंकि वस्तु का स्वरूप कदापि अन्यथा नहीं होता। प्रदेशत्वगुण के कारण प्रत्येक

द्रव्य के अपना आकार होता है। प्रत्येक द्रव्य अपने-अपने निज आकार में ही रहता है।

सिद्धदशा के होने पर एक जीव दूसरे जीव में मिल नहीं जाता, किन्तु प्रत्येक जीव अपने प्रदेशाकार स्वतन्त्ररूप में स्थिर रहता है। ये छह सामान्यगुण मुख्य हैं। इनके अतिरिक्त अन्य सामान्यगुण भी हैं, इस प्रकार गुणों के द्वारा द्रव्य का स्वरूप अधिक स्पष्टता से जाना जाता है।

प्रयोजनभूत :—

इस प्रकार छह द्रव्य के स्वरूप का अनेक प्रकार वर्णन किया है। इन छह द्रव्यों में प्रतिसमय परिणमन होता रहता है। जिसे पर्याय (अवस्था, हालत, Condition) कहते हैं। धर्म, अधर्म, आकाश और काल-इन चार द्रव्यों की पर्याय तो सदा शुद्ध ही है। शेष जीव और पुद्‍गलद्रव्यों में शुद्धपर्याय होती है और अशुद्धपर्याय भी हो सकती है।

जीव और पुद्‍गलद्रव्य में से पुद्‍गलद्रव्य में ज्ञान नहीं है, उसमें ज्ञातृत्व नहीं है और इसलिए उसमें ज्ञान की विपरीततारूप भूल नहीं है; इसलिए पुद्‍गल के सुख अथवा दु:ख नहीं होता। सच्चे ज्ञान से सुख और विपरीत ज्ञान से दु:ख होता है, परन्तु पुद्‍गलद्रव्य में ज्ञानगुण ही नहीं है; इसलिए उसके सुख-दु:ख नहीं होता। उसमें सुखगुण ही नहीं है। —ऐसा होने से पुद्‍गलद्रव्य के अशुद्धदशा हो या शुद्धदशा हो, दोनों समान हैं। शरीर, पुद्‍गलद्रव्य की अवस्था है; इसलिए शरीर में सुख-दु:ख नहीं होते। शरीर निरोगी हो अथवा रोगी हो, उसके साथ सुख-दु:ख का सम्बन्ध नहीं है।

www.vitragvani.com

अवशेष रहा ज्ञाता जीव :—

छह द्रव्यों में यह एक ही जीवद्रव्य ज्ञानशक्तिवाला है। जीव में ज्ञानगुण है और ज्ञान का फल सुख है; अतः जीव में सुखगुण है। यदि यथार्थ ज्ञान करे तो सुख हो, परन्तु जीव अपने ज्ञानस्वभाव को नहीं पहचानता और ज्ञान से भिन्न अन्य वस्तुओं में सुख की कल्पना करता है, यह उसके ज्ञान की भूल है और उस भूल के कारण ही जीव के दुःख है। अज्ञान, जीव की अशुद्धपर्याय है। जीव की अशुद्धपर्याय दुःखरूप है, इसलिए उस दशा को दूर करके सच्चे ज्ञान के द्वारा शुद्धदशा प्रगट करने का उपाय समझाया जाता है।

सभी जीव सुख चाहते हैं और सुख, जीव की शुद्धदशा में ही है; इसलिए जिन छह द्रव्यों को जाना है, उनमें से जीव के अतिरिक्त पाँच द्रव्यों के गुण-पर्याय के साथ जीव का कोई प्रयोजन नहीं है, किन्तु अपने गुण-पर्याय के साथ ही प्रयोजन है।

प्रत्येक जीव अपने लिए सुख चाहता है, अर्थात् अशुद्धता को दूर करना चाहता है। जो मात्र शास्त्रों को पढ़कर अपने को ज्ञानी मानता है, वह ज्ञानी नहीं है, किन्तु परद्रव्यों से भिन्न अपने आत्मा को पुण्य-पाप की क्षणिक अशुद्ध वृत्तियों से भिन्नरूप में यथार्थतया जानता है, वह ज्ञानी है। कोई परवस्तु, आत्मा को हानि-लाभ नहीं पहुँचाती। अपनी अवस्था में अपने ज्ञान की भूल से ही दुःखी था; अपने स्वभाव की समझ के द्वारा उस भूल को स्वयं दूर करे तो दुःख दूर होकर सुख होता है। जो यथार्थ समझ के द्वारा भूल को दूर करता है, वह सम्यग्दृष्टि ज्ञानी, सुखी धर्मात्मा है। जो यथार्थ समझ के बाद उस समझ के बल से आंशिक राग को दूर करके

www.vitragvani.com

स्वरूप की एकाग्रता को क्रमशः साधता है, वह श्रावक है। जो विशेष राग को दूर करके, सर्वसङ्ग का परित्याग करके स्वरूप की रमणता में बारम्बार लीन होता है, वह मुनि-साधु है और जो सम्पूर्ण स्वरूप की स्थिरता करके, सम्पूर्ण राग को दूर करके शुद्धदशा को प्रगट करते हैं, वे सर्वज्ञदेव-केवली भगवान हैं। उनमें से जो शरीरसहित दशा में विद्यमान हैं, वे अरहन्तदेव हैं, जो शरीररहित हैं, वे सिद्ध भगवान हैं।

अरहन्त भगवान ने दिव्यध्वनि में जो वस्तुस्वरूप दिखाया है, उसे 'श्रुत' (शास्त्र) कहते हैं। इनमें से अरहन्त और सिद्ध, देव हैं; सत्श्रुत, शास्त्र हैं और साधक-सन्त-मुनि, गुरु हैं। जो इन सच्चे देव-शास्त्र-गुरु को यथार्थतया पहचानता है, उसकी गृहीतमिथ्यात्वरूपी महाभूल दूर हो जाती है। यदि देव-शास्त्र-गुरु के स्वरूप को जानकर अपने आत्मस्वरूप का निर्णय करे तो अनन्त संसार का कारणमहापापरूप अगृहीतमिथ्यात्व दूर हो जाये और सम्यग्दर्शनरूपी अपूर्व आत्मधर्म प्रगट हो।

सच्चे देव के स्वरूप में मोक्षतत्त्व का समावेश होता है, सन्त-मुनि के स्वरूप में संवर और निर्जरा तत्त्व का समावेश होता है। जैसा सच्चे देव का स्वरूप है, वैसा ही शुद्ध जीवतत्त्व का स्वरूप है। कुगुरु, कुदेव, कुधर्म में अजीव, आस्रव तथा बन्धतत्त्व का समावेश होता है। अरहन्त और सिद्ध में मोक्षतत्त्व का समावेश होता है। अरहन्त-सिद्ध के समान शुद्धस्वरूप जीव का स्वभाव है और स्वभाव ही धर्म है। इस प्रकार सच्चे देव, गुरु, धर्म के स्वरूप को भलीभाँति जान लेने पर उसमें सात तत्त्वों के स्वरूप का ज्ञान भी आ जाता है।

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com

जिज्ञासुओं का कर्तव्य :—

उपरोक्त तत्त्वस्वरूप को प्रथम जानकर गृहीतमिथ्यात्व का (व्यवहार मिथ्यापन का) पाप दूर करे और अभूतपूर्व निश्चय आत्मज्ञान से आत्मा के लक्ष्य से ज्ञान करके यह निर्णय करे तो अगृहीतमिथ्यात्व का सर्वोपरि पाप दूर हो जाये, यही अपूर्व सम्यग्दर्शनरूपी धर्म है; इसलिए जिज्ञासु जीवों को प्रथम भूमिका से ही यथार्थ समझ के द्वारा गृहीत और अगृहीतमिथ्यात्व को नाश करके का निरन्तर प्रयत्न करना चाहिए और उसका नाश सच्चे ज्ञान के द्वारा ही होता है, इसलिए निरन्तर सच्चे ज्ञान का अभ्यास करना चाहिए।

कौन प्रशंसनीय है ?

''इस जगत में जो आत्मा निर्मल सम्यग्दर्शन में अपनी बुद्धि निश्चल रखता है वह, कदाचित् पूर्व पापकर्म के उदय से दु:खी भी हो और अकेला भी हो, तथापि वास्तव में प्रशंसनीय है; और इससे विपरीत, जो जीव अत्यन्त आनन्द के देनेवाले —ऐसे सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय से बाह्य है और मिथ्यामार्ग में स्थित है — ऐसे मिथ्यादृष्टि मनुष्य भले ही अनेक हों और वर्तमान में शुभकर्म के उदय से प्रसन्न हों, तथापि वे प्रशंसनीय नहीं हैं; इसलिए भव्यजीवों को सम्यग्दर्शन धारण करने का निरन्तर प्रयत्न करना चाहिए।''

—पद्मनन्दि-देशव्रतोद्योतन अ० 2

सम्यग्दर्शन का स्वरूप और वह कैसे प्रगटे ?

सम्यग्दर्शन स्वयं आत्मा के श्रद्धागुण की निर्विकारी पर्याय है। अखण्ड आत्मा के लक्ष्य से सम्यग्दर्शन प्रगट होता है। सम्यग्दर्शन को किसी विकल्प का अवलम्बन नहीं है, किन्तु निर्विकल्पस्वभाव के अवलम्बन से सम्यग्दर्शन प्रगट होता है। यह सम्यग्दर्शन ही आत्मा के सर्व सुख का कारण है। 'मैं ज्ञानस्वरूप आत्मा हूँ, बन्ध रहित हूँ' —ऐसा विकल्प करना, वह भी शुभराग है, उस शुभराग का अवलम्बन भी सम्यग्दर्शन के नहीं है, उस शुभ विकल्प का उल्लंघन करने पर सम्यग्दर्शन प्रगट होता है। सम्यग्दर्शन स्वयं राग और विकल्परहित निर्मल भाव है, उसे किसीविकार का अवलम्बन नहीं है, किन्तु सम्पूर्ण आत्मा का अवलम्बन है, वह सम्पूर्ण आत्मा को स्वीकार करता है।

एकबार विकल्परहित होकर अखण्ड ज्ञायकस्वभाव को लक्ष्य में लिया, वहाँ सम्यक् प्रतीति हुई। अखण्ड स्वभाव का लक्ष्य ही स्वरूप की सिद्धि के लिए कार्यकारी है। अखण्ड सत्यस्वरूप को जाने बिना, श्रद्धा किये बिना 'मैं ज्ञानस्वरूप आत्मा हूँ, अबद्धस्पष्ट हूँ' इत्यादि विकल्प भी स्वरूप की शुद्धि के लिये कार्यकारी नहीं हैं। एकबार अखण्ड ज्ञायकस्वभाव का लक्ष्य करने के बाद जो वृत्तियाँ उठती हैं, वे वृत्तियाँ अस्थिरता का कार्य करती हैं; परन्तु वे स्वरूप को रोकने के लिए समर्थ नहीं हैं; क्योंकि श्रद्धा में तो वृत्ति-विकल्परहित स्वरूप है; इसलिए जो वृत्ति उठती है, वह श्रद्धा को

नहीं बदल सकती। जो विकल्प में ही अटक जाता है, वह मिथ्यादृष्टि है, विकल्परहित होकर अभेद का अनुभव करना सो सम्यग्दर्शन है और यही समयसार है। यही बात निम्नलिखित गाथा में कही है —

कम्मं बद्धमबद्धं जीवे एवं तु जाण णयपक्खं।
पक्खातिक्कंतो पुण भण्णदि जो सो समयसारे॥ 142॥

समयसार

हिन्दी पद्यानुवाद

'आत्मा कर्म, से बद्ध है या अबद्ध' इस प्रकार दो भेदों के विचार में लगना, सो नय का पक्ष है। 'मैं आत्मा हूँ, पर से भिन्न हूँ', इस प्रकार का विकल्प भी राग है। इस राग की वृत्ति का— नय के पक्षों का उल्लंघन करे तो सम्यग्दर्शन प्रगट हो।

'मैं बँधा हुआ हूँ अथवा मैं बन्धरहित मुक्त हूं', इस प्रकार की विचार श्रेणी का उल्लंघन करके जो आत्मा का अनुभव करता है, सो सम्यग्दृष्टि है और वही समयसार अर्थात् शुद्धात्मा है।

मैं अबन्ध हूँ, बन्ध मेरा स्वरूप नहीं है; इस प्रकार भङ्ग की विचारश्रेणी के कार्य में जो लगता है, वह अज्ञानी है और उस भङ्ग के विचार को उल्लंघन करके अभङ्गस्वरूप का स्पर्श करना (-अनुभव करना), सो प्रथम आत्मधर्म अर्थात् सम्यग्दर्शन है। 'मैं पराश्रयरहित अबन्ध शुद्ध हूँ', ऐसे निश्चय के पक्ष का जो विकल्प है, सो राग है और उस राग में जो अटक जाता है, (राग को ही सम्यग्दर्शन मान लेता है, किन्तु राग रहित स्वरूप का अनुभव नहीं करता) वह मिथ्यादृष्टि है।

www.vitragvani.com

भेद का विकल्प उठता तो है, तथापि उससे सम्यग्दर्शन नहीं होता

अनादि काल से आत्मस्वरूप का अनुभव नहीं है, परिचय नहीं है; इसलिए आत्मानुभव करने से पूर्व तत्सम्बन्धी विकल्प उठे बिना नहीं रहते। अनादि काल से आत्मा का अनुभव नहीं है; इसलिये वृत्तियों का उफान होता है कि — मैं आत्मा, कर्म से सम्बन्ध से युक्त हूँ अथवा कर्म के सम्बन्ध से रहित हूँ — इस प्रकार दो नयों के दो विकल्प उठते हैं, परन्तु 'कर्म के सम्बन्ध से युक्त हूँ अथवा कर्म के सम्बन्ध से रहित हूँ अर्थात बद्ध हूँ या अबद्ध हूँ', ऐसे दो प्रकार के भेद का भी एक स्वरूप में कहाँ अवकाश है? स्वरूप तो नयपक्ष की अपेक्षाओं से परे है। एक प्रकार के स्वरूप में दो प्रकार की अपेक्षायें नहीं हैं। मैं **शुभाशुभभाव से रहित हूँ, इस प्रकार के विचार में लगना भी एक पक्ष है, इससे भी उसपार स्वरूप है; स्वरूप तो पक्षातिक्रान्त है, वही सम्यग्दर्शन का विषय है, अर्थात् उसी के लक्ष्य से सम्यग्दर्शन प्रगट होता है; इसके अतिरिक्त सम्यग्दर्शन प्रगट करने का दूसरा कोई उपाय नहीं है।**

'सम्यग्दर्शन का स्वरूप क्या है? देह की किसी क्रिया से सम्यग्दर्शन नहीं होता, जड़कर्मों से नहीं होता, अशुभराग अथवा शुभराग के लक्ष्य से भी सम्यग्दर्शन नहीं होता और मैं पुण्य-पाप के परिणामों से रहित ज्ञायकस्वरूप हूँ' — ऐसा विचार भी स्वरूप का अनुभव कराने के लिये समर्थ नहीं है। 'मैं ज्ञायक हूँ', इस प्रकार के विचार में जो अटका सो वह भेद के विचार में अटक गया है, उसे भी सम्यग्दर्शन नहीं होता। स्वरूप तो ज्ञाता-दृष्टा है, उसका अनुभव ही

www.vitragvani.com

सम्यग्दर्शन है। भेद के विचार में अटक जाना, सम्यग्दर्शन का स्वरूप नहीं है।

जो वस्तु है, वह अपने-आप परिपूर्ण स्वभाव से भरी हुई है। आत्मा का स्वभाव, पर की अपेक्षा से रहित एकरूप है। कर्मों के सम्बन्ध से युक्त हूँ अथवा कर्मों के सम्बन्ध से रहित हूँ; इस प्रकार की अपेक्षाओं से उस स्वभाव का लक्ष्य नहीं होता। यद्यपि आत्मस्वभाव तो अबन्ध ही है, परन्तु 'मैं अबन्ध हूँ', इस प्रकार के विकल्प को भी छोड़कर निर्विकल्प ज्ञात-दृष्टा निरपेक्ष स्वभाव का लक्ष्य करते ही सम्यग्दर्शन प्रगट होता है।

हे प्रभु! तेरी प्रभुता की महिमा अन्तरङ्ग में परिपूर्ण है। अनादि काल से उसकी सम्यक् प्रतीति के बिना उसका अनुभव नहीं होता। अनादि काल से परलक्ष्य किया है, किन्तु स्वभाव का लक्ष्य नहीं किया है। शरीरादि में तेरा सुख नहीं है, शुभराग मे तेरा सुख नहीं है और 'शुभराग रहित मेरा स्वरूप है', इस प्रकार के भेद-विचार में भी तेरा सुख नहीं है; इसलिए उस **भेद के विचार में अटक जाना भी अज्ञानी का कार्य है और उस नयपक्ष के भेद का लक्ष्य छोड़कर, अभेद ज्ञातास्वभाव का लक्ष्य करना, वह सम्यग्दर्शन है और उसी में सुख है। अभेदस्वभाव का लक्ष्य कहो, ज्ञातास्वभाव का अनुभव कहो, सुख कहो, धर्म कहो अथवा सम्यग्दर्शन कहो —वह सब यही है।**

विकल्प रखकर स्वरूप का अनुभव नहीं हो सकता :—

अखण्डानन्द अभेद आत्मा का लक्ष्य, नय के द्वारा नहीं होता। कोई किसी महल में जाने के लिये चाहे जितनी तेजी से मोटर दौड़ाये, किन्तु वह महल के दरवाजे तक ही जाएगी, मोटर के

साथ महल के अन्दर कमरे में नहीं घुसा जा सकता। मोटर चाहे जहाँ तक भीतर ले जाए, किन्तु अन्त में तो मोटर से उतरकर स्वयं ही भीतर जाना पड़ता है; इसी प्रकार नयपक्ष के विकल्पोंवाली मोटर चाहे जितनी दौड़ाये 'मैं ज्ञायक हूँ, अभेद हूँ, शुद्ध हूँ, —ऐसे विकल्प करे तो भी स्वरूप के आँगन तक ही जाया जा सकता है, किन्तु स्वरूपानुभव करते समय तो वे सब विकल्प छोड़ देने ही पड़ते हैं। विकल्प रखकर स्वरूपानुभव नहीं हो सकता। नयपक्ष का ज्ञान, उस स्वरूप के आँगन में आने के लिये आवश्यक है'।

'मैं स्वाधीन ज्ञानस्वरूपी आत्मा हूँ, कर्म जड़ हैं, जड़कर्म मेरे स्वरूप को नहीं रोक सकते, मैं विकार करूँ तो कर्मों को निमित्त कहा जा सकता है, किन्तु कर्म मुझे विकार नहीं कराते क्योंकि दोनों द्रव्य भिन्न हैं, वे कोई एक-दूसरे का कुछ नहीं करते; मैं जड़ का कुछ नहीं करता और जड़ मेरा कुछ नहीं करता। जो राग-द्वेष होता है, उसे कर्म नहीं कराता तथा वह परवस्तु में नहीं होता; किन्तु मेरी अवस्था में होता है। वह राग-द्वेष मेरा स्वभाव नहीं है। निश्चय से मेरा स्वभाव रागरहित ज्ञानस्वरूप है'; इस प्रकार सभी पहलुओं का (नयों का) ज्ञान पहले करना चाहिए, किन्तु जब तक इतना करता है, तब तक भी भेद का लक्ष्य है।

भेद के लक्ष्य से अभेद आत्मस्वरूप का अनुभव नहीं हो सकता, तथापि पहले उन भेदों को जानना चाहिए, जब इतना जान ले, तब समझना चाहिए कि वह स्वरूप के आँगन तक आया है। बाद में जब अभेद का लक्ष्य करता है, तब भेद का लक्ष्य छूट जाता है और स्वरूप का अनुभव होता है, अर्थात् अपूर्व सम्यग्दर्शन प्रगट होता है। इस प्रकार यद्यपि स्वरूपोन्मुख होने से पूर्व नयपक्ष

के विचार होते तो हैं परन्तु वे नयपक्ष के कोई भी विचार, स्वरूपानुभव में सहायक नहीं होते।

सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान का सम्बन्ध किसके साथ है ? :—

सम्यग्दर्शन, निर्विकल्प सामान्यगुण है, उसका मात्र निश्चय अखण्ड स्वभाव के साथ ही सम्बन्ध है, अखण्ड द्रव्य जो भङ्ग-भेदरहित है, वही सम्यग्दर्शन को मान्य है। सम्यग्दर्शन पर्याय को स्वीकार नहीं करता, किन्तु सम्यग्दर्शन के साथ जो सम्यग्ज्ञान रहता है, उसका सम्बन्ध निश्चय-व्यवहार दोनों के साथ है, अर्थात् निश्चय -अखण्ड स्वभाव को तथा व्यवहार में पर्याय के जो भङ्ग-भेद होते हैं, उन सबको सम्यग्ज्ञान जान लेता है। सम्यग्दर्शन एक निर्मल पर्याय है, किन्तु सम्यग्दर्शन स्वयं अपने को यह नहीं जानता कि मैं एक निर्मल पर्याय हूँ। सम्यग्दर्शन का एक ही विषय अखण्डद्रव्य है; पर्याय, सम्यग्दर्शन का विषय नहीं है।

प्रश्न — सम्यग्दर्शन का विषय अखण्ड है और वह पर्याय को स्वीकार नहीं करता, तब फिर सम्यग्दर्शन के समय पर्याय कहाँ चली गयी? सम्यग्दर्शन स्वयं पर्याय है, क्या पर्याय, द्रव्य से भिन्न हो गयी?

उत्तर — सम्यग्दर्शन का विषय तो अखण्डद्रव्य ही है। सम्यग्दर्शन के विषय में द्रव्य-गुण-पर्याय का भेद नहीं है। द्रव्य-गुण से अभिन्न वस्तु ही सम्यग्दर्शन को मान्य है। अभेद वस्तु का लक्ष्य करने पर जो निर्मल पर्याय प्रगट होती है, वह सामान्य वस्तु के साथ अभेद हो जाती है। सम्यग्दर्शनरूप जो पर्याय है, उसे भी

सम्यग्दर्शन स्वीकार नहीं करता; एक समय में अभेद परिपूर्ण द्रव्य ही सम्यग्दर्शन को मान्य है। मात्र आत्मा को सम्यग्दर्शन तो प्रतीति मे लेता है, किन्तु सम्यग्दर्शन के साथ प्रगट होनेवाला सम्यग्ज्ञान, सामान्य-विशेष सबको जानता है; सम्यग्दर्शनपर्याय को और निमित्त को भी जानता है, सम्यग्दर्शन को भी जाननेवाला सम्यग्ज्ञान ही है।

श्रद्धा और ज्ञान कब सम्यक् हुए ? :—

उदय, उपशम, क्षयोपशम अथवा क्षायिकभाव इत्यादि कोई भी सम्यग्दर्शन का विषय नहीं है, क्योंकि वे सब पर्यायें हैं। सम्यग्दर्शन का विषय, परिपूर्ण द्रव्य है। पर्याय को सम्यग्दर्शन स्वीकार नहीं करता। मात्र वस्तु का जब लक्ष्य किया, तब श्रद्धा सम्यक् हुई, साथ ही साथ सम्यग्ज्ञान हुआ। ज्ञान सम्यक् कब हुआ ? ज्ञान का स्वभाव सामान्य-विशेष सबको जानना है; जब ज्ञान ने सम्पूर्ण द्रव्य को, प्रगट पर्याय को और विकार को ज्यों का त्यों जानकर इस प्रकार का विवेक किया कि 'जो परिपूर्ण स्वभाव है सो हैं हूँ और जो विकार है सो मैं नहीं हूँ', तब वह सम्यक् हुआ। सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शनरूप प्रगट पर्याय को और और सम्यग्दर्शन की विषयभूत परिपूर्ण वस्तु को तथा अवस्था की कमी को जैसा है, वैसा जानता है।

ज्ञान में अवस्था की स्वीकृति है। इस प्रकार सम्यग्दर्शन तो एक निश्चय को ही (अभेदस्वरूप को ही) स्वीकार करता है और सम्यग्दर्शन का अविनाभावी (साथ ही रहनेवाला) सम्यग्ज्ञान, निश्चय और व्यवहार दोनों को बराबर जानकर विवेक करता है। यदि निश्चय-व्यवहार दोनों को न जाने तो ज्ञान प्रमाण (सम्यक्) नहीं हो सकता। यदि व्यवहार को लक्ष्य करे तो दृष्टि खोटी (विपरीत) ठहरती है और जो व्यवहार को जाने ही नहीं तो ज्ञान मिथ्या ठहरता

है। ज्ञान, निश्चय-व्यवहार का विवेक करता है, इसलिए वह सम्यक् है (समीचीन है) और दृष्टि, व्यवहार के लक्ष्य को छोड़कर निश्चय को स्वीकार करे तो सम्यक् है।

सम्यग्दर्शन का विषय क्या है? और मोक्ष का परमार्थ कारण कौन है? :—

सम्यग्दर्शन के विषय में मोक्षपर्याय और द्रव्य, इसमें भेद नहीं है; द्रव्य ही परिपूर्ण है, वह सम्यग्दर्शन को मान्य है। बन्ध-मोक्ष भी सम्यग्दर्शन को मान्य नहीं; बन्ध-मोक्ष की पर्याय, साधकदशा का भङ्ग-भेद, इन सभी को सम्यग्ज्ञान जानता है।

सम्यग्दर्शन का विषय परिपूर्ण द्रव्य है, वही मोक्ष का परमार्थकारण है। पञ्च महाव्रतादि को अथवा विकल्प को मोक्ष का कारण कहना, वह स्थूल व्यवहार है और सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप साधक अवस्था को मोक्ष का कारण कहना भी व्यवहार है, क्योंकि उस साधक अवस्था का भी जब अभाव होता है, तब मोक्षदशा प्रगट होती है अर्थात् वह अभावरूप कारण है; इसलिए व्यवहार है।

त्रिकाल अखण्ड वस्तु है, मोक्ष का निश्चय कारण है, किन्तु परमार्थ से तो वस्तु में कारण-कार्य का भेद भी नहीं है, कार्य-कारण का भेद भी व्यवहार है। एक अखण्ड वस्तु में काय-कारण के भेद के विचार से विकल्प होता है; इसलिए वह भी व्यवहार है, तथापि व्यवहार में भी कार्य-कारण के भेद हैं अवश्य। यदि कार्य-कारण भेद सर्वथा न हों तो मोक्षदशा को प्रगट करने के लिये भी नहीं कहा जा सकता, इसलिए अवस्था में साधक-साध्य का भेद

www.vitragvani.com

है, परन्तु अभेद के लक्ष्य के समय व्यवहार का लक्ष्य नहीं होता, क्योंकि व्यवहार के लक्ष्य में भेद होता है और भेद के लक्ष्य में परमार्थ-अभेदस्वरूप लक्ष्य में नहीं आता, इसलिए सम्यग्दर्शन के लक्ष्य में अभेद ही होता है, एकरूप अभेद वस्तु ही सम्यग्दर्शन का विषय है।

सम्यग्दर्शन ही शान्ति का उपाय है :—

अनादि से आत्मा के अखण्ड रस को सम्यग्दर्शनपूर्वक नहीं जाना, इसलिए पर मैं और विकल्प में जीव, रस को मान रहा है, परन्तु मैं अखण्ड एकरूप स्वभाव हूँ, उसी में मेरा रस है; पर में कहीं भी मेरा रस नहीं है; इस प्रकार स्वभावदृष्टि के बल से एकबार सबको नीरस बना दो। जो शुभ विकल्प उठते हैं, वे भी मेरी शान्ति के साधक नहीं हैं, मेरी शान्ति मेरे स्वरूप में है; इस प्रकार स्वरूप के रसानुभव में समस्त संसार को नीरस बना दे तो तुझे सहजानन्द-स्वरूप के अमृतरस की अपूर्व शान्ति का अनुभव प्रगट होगा, उसका उपाय सम्यग्दर्शन ही है।

संसार का अभाव सम्यग्दर्शन से ही होता है :—

अनन्त काल से अनन्त जीव संसार में परिभ्रमण कर रहे हैं और अनन्त काल में अनन्त जीव सम्यग्दर्शन के द्वारा पूर्ण स्वरूप की प्रतीति करके मुक्ति को प्राप्त हुए हैं। इस जीव ने संसारपक्ष तो अनादि से ग्रहण किया है, परन्तु सिद्ध का पक्ष कभी ग्रहण नहीं किया। अब सिद्ध का पक्ष करके अपने सिद्धस्वरूप को जानकर, संसार का अभाव करने का अवसर आया है और उसका उपाय एकमात्र सम्यग्दर्शन ही है।

धर्म-साधन

धर्म के लिए प्रधानतया दो वस्तुओं की आवश्यकता है। 1.-क्षेत्र-विशुद्धि, 2. यथार्थ बीज

क्षेत्र-विशुद्धि — संसार के अशुभ निमित्तों के प्रति जो आसक्ति है, उसमें मन्दता; ब्रह्मचर्य का रङ्ग; कषाय की मन्दता; देव, शास्त्र, गुरु के प्रति भक्ति तथा सत् की रुचि आदि का होना, क्षेत्र-विशुद्धि है। वह प्रथम होती ही है।

किन्तु केवल क्षेत्र-विशुद्धि से ही धर्म नहीं होता। क्षेत्र-विशुद्धि तो प्रत्येक जीव ने अनेकबार की है, क्षेत्र-विशुद्धि (यदि भानसहित हो) तो बाह्य साधन है, व्यवहार साधन है।

पहले क्षेत्र-विशुद्धि के बिना कभी भी धर्म नहीं हो सकता; किन्तु क्षेत्र-विशुद्धि के होने पर भी, यदि यथार्थ बीज न हो तो भी धर्म नहीं हो सकता।

यथार्थ बीज — मेरा स्वभाव निरपेक्ष, बन्ध-मोक्ष के भेद से रहित, स्वतन्त्र, परनिमित्त के आश्रय से रहित है। स्वाश्रय स्वभाव के बल पर ही मेरी शुद्धता प्रगट होती है; इस प्रकार अखण्ड निरपेक्ष स्वभाव की निश्चयश्रद्धा का होना, वह यथार्थ बीज है। वही अन्तर साधन अर्थात् निश्चय साधन है। जीव ने कभी अनादि ाल में स्वभाव की निश्चय श्रद्धा नहीं की है। उस श्रद्धा के बिना अनेकबार बाह्य साधन किये, फिर भी धर्म प्राप्त नहीं हुआ।

www.vitragvani.com

इसलिए धर्म में मुख्य साधन है यथार्थ श्रद्धा; और जहाँ यथार्थ श्रद्धा होती है, वहाँ बाह्य-साधन होते हैं। बिना यथार्थ श्रद्धा के बाह्य साधन से कभी धर्म नहीं होता।

इसलिए प्रत्येक जीव का प्रथम कर्तव्य आत्मस्वरूप की यथार्थ श्रद्धा करना है। अनन्त काल में दुर्लभ मनुष्यपर्याय और फिर उसमें उत्तम जैनधर्म तथा सत्-समागम का योग मिलने पर भी, यदि स्वभाव के बल से सत् की श्रद्धा नहीं की तो फिर चौरासी के जन्म -मरण में ऐसी उत्तम मनुष्यपर्याय मिलना दुर्लभ है।

आचार्य महाराज कहते हैं कि एकबार स्वाश्रय की श्रद्धा करके इतना तो कह कि मेरे स्वभाव को 'पर का आश्रय नहीं,' बस, इस प्रकार स्वाश्रय की श्रद्धा करने से तेरी मुक्ति निश्चित है। सभी आत्मा प्रभु हैं। जिसने अपनी प्रभुता को मान लिया, वह प्रभु हो गया।

इस प्रकार प्रत्येक जीव का सर्वप्रथम कर्तव्य सत्समागम द्वारा स्वभाव की यथार्थ श्रद्धा (सम्यग्दर्शन) करना है। निश्चय से यही धर्म (मुक्ति) का प्रथम साधन है।

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

निश्चयश्रद्धा-ज्ञान कैसे प्रगट हो ?

अनेक जीव, दयारूप परिणामों वाले होते हैं, तथापि वे शास्त्रों का सच्चा अर्थ नहीं समझ सकते; इसलिए दयारूप परिणाम, शास्त्रों के समझने में कारण नहीं हैं। इसी प्रकार मौन धारण करें, सत्य बोलें और ब्रह्मचर्य आदि के परिणाम करें, फिर भी शास्त्र का आशय नहीं समझ सकते, इसलिए यहाँ ऐसा बताया है कि शुद्धचैतन्य-स्वभाव का आश्रय ही सम्यग्ज्ञान का उपाय है; कोई भी मन्द-कषायरूप परिणाम, सम्यग्ज्ञान का उपाय नहीं है।

इस समय शुभपरिणाम करने से पश्चात् सम्यग्ज्ञान का उपाय हो जायेगा, यह मान्यता मिथ्या है। अनन्त बार शुभपरिणाम करके स्वर्ग में जानेवाले जीव भी शास्त्रों के तात्पर्य को नहीं समझ पाये तथा वर्तमान में भी ऐसे अनेक जीव दिखायी देते हैं जोकि वर्षों से शुभपरिणाम, मन्दकषाय तथा व्रत-प्रतिमा आदि करने पर भी शास्त्र के सच्चे अर्थ को नहीं जानते, अर्थात् उनके ज्ञान की व्यवहारशुद्धि भी नहीं है; अभी ज्ञान की व्यवहारशुद्धि के बिना जो चारित्र की व्यवहार शुद्धि करना चाहते हैं, वे जीव, ज्ञान के पुरुषार्थ को नहीं समझते।

ऐसे ही दयादि के भावरूप मन्द-कषाय से भी व्यवहारशुद्धि भी नहीं होती और ज्ञान की व्यवहारशुद्धि से आत्मज्ञान नहीं होता। आत्मा के आश्रय से ही सम्यग्ज्ञान होता है, यही धर्म है। इस धर्म की प्रतीति के बिना तथा वास्तविक व्यवहारज्ञान न होने से जब

तक शास्त्र के सच्चे अर्थ को न समझ ले, तब तक जीव के सम्यग्ज्ञान नहीं हो सकता। दयादिरूप मन्द-कषाय के परिणामों से व्यवहारज्ञान की भी शुद्धि नहीं होती।

बाह्य-क्रियाओं पर परिणामों का आधार नहीं है। कोई द्रव्यलिङ्गी मुनियों के साथ रहता हो और किसी के बाह्यक्रिया बराबर होती हो, तथापि एक नववें ग्रैवेयक में जाता है और दूसरा पहले स्वर्ग में, क्योंकि परिणामों में कषाय की मन्दता, बाह्य-क्रिया से नहीं होती।

अब, अन्तरङ्ग में जो शुभपरिणाम करता है, उससे व्यवहारज्ञान की शुद्धि नहीं होती, किन्तु वह यथार्थ ज्ञान के अभ्यास से ही होती है। ज्ञान की व्यवहारशुद्धि से भी आत्मस्वभाव का सम्यग्ज्ञान नहीं होता, किन्तु अपने परमात्मस्वभाव का रागरहित रूप से अनुभव करे, तभी सम्यग्ज्ञान होता है। सम्यग्ज्ञान में पराश्रय नहीं, स्वभाव का ही आश्रय है।

वस्तुस्वभाव ही स्वतन्त्र और परिपूर्ण है, उसे किसी के आश्रय की आवश्यकता नहीं है। स्वभाव के आश्रय से ही सम्यग्दर्शन होता है। नववें ग्रैवेयक में जानेवाले जीव के देव-शास्त्र-गुरु की यथार्थ श्रद्धा, ग्यारह अङ्ग का ज्ञान और पञ्च महाव्रतों का पालन —ऐसे परिणाम होने पर भी, चैतन्यस्वभाव की श्रद्धा करने के लिये वे परिणाम काम में नहीं आते। स्वभाव के लक्ष्यपूर्वक मन्दकषाय हो तो वहाँ मन्दकषाय की मुख्यता नहीं रही, किन्तु शुद्धस्वभाव के लक्ष्य की ही मुख्यता है। स्वभाव की श्रद्धा को व्यवहाररत्नत्रय की सहायता नहीं होती।

कषाय की मन्दतारूप आचरण के द्वारा श्रद्धा-ज्ञान का व्यवहार

www.vitragvani.com

नहीं सुधरता। शास्त्र में जड़-चैतन्य की स्वाधीनता, उपादान-निमित्त की स्वतन्त्रता बतलायी है; जो यह नहीं समझता, उसके ज्ञान का व्यवहार भी नहीं सुधरा है। चैतन्यस्वभाव का ज्ञान तो व्यवहार से भी पार है। आत्मज्ञान, वह परमार्थज्ञान है और शास्त्र के आशय का यथार्थ ज्ञान, वह ज्ञान का व्यवहार है। जिसके ज्ञान का व्यवहार भी ठीक नहीं है, उसके परमार्थज्ञान कैसा ?

बाह्यक्रिया तो ज्ञान का कारण नहीं है, किन्तु जो अन्तरङ्ग में व्यवहार आचरण के मन्दकषायरूप परिणाम होते हैं, वे परिणाम भी शास्त्रज्ञान का कारण नहीं होते और स्वभाव का ज्ञान तो शास्त्रज्ञान से भी पार है। शास्त्रज्ञान के राग के अवलम्बन को दूर करके, जब परमात्मस्वभाव का अनुभव करता है, उस समय सम्यक्श्रद्धा होती है। जिस समय श्रद्धा में राग का नाश करके, निज परमात्मस्वभाव को अपना जाना, उस समय जीव को परमात्मा ही उपादेय है। आत्मा तो त्रिकाल परमात्मा है, किन्तु जब राग के आलम्बनरहित होकर उसकी प्रतीति करता है, तब वह उपादेयरूप होता है, वह राग के द्वारा नहीं जाना जाता।

कितनी भक्ति से आत्मा समझ में आता है ? भक्ति से आत्मा नहीं समझा जा सकता। कितने उपवासों से आत्मा समझ में आयेगा ? उपवास के शुभपरिणामों से आत्मा समझ में नहीं आता। कोई भी शुभपरिणाम, सम्यग्ज्ञान की रीति नहीं है, किन्तु जब स्वभाव के लक्ष्य से यथार्थ शास्त्र का अर्थ समझता है, तब ज्ञान का व्यवहार सुधरता है; पहले ज्ञान के आचरण सुधरे बिना चारित्र के आचरण नहीं सुधरते। यदि सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शन की रीति को ही नहीं जाने तो वह कहाँ से होगा ? अनेक जीव आचरण के

www.vitragvani.com

परिणामों को सुधारकर उसे ज्ञान का उपाय मानते हैं, वे जीव, सम्यग्ज्ञान के उपाय को नहीं समझे हैं। व्यवहार का निषेध करके परमार्थस्वभाव को समझे बिना व्यवहार का भी सच्चा ज्ञान नहीं हो सकता।

कषाय की मन्दता के द्वारा मिथ्यात्व की मन्दता होती है, उसे व्यवहार सम्यग्दर्शन नहीं कहते, किन्तु सच्ची समझ की ओर के प्रयत्न से ही व्यवहार-सम्यक्त्व होता है, किन्तु यह व्यवहार -सम्यक्त्व भी निश्चय सम्यग्दर्शन का कारण नहीं है। यदि देव -शास्त्र-गुरु के लक्ष्य में ही रुक जाये तो सम्यग्दर्शन नहीं होगा। जिस समय चिन्मात्रस्वभाव के आश्रय से श्रद्धा-ज्ञान करता है, उस समय ही सम्यक्श्रद्धा-ज्ञान प्रगट होता है। चैतन्य की श्रद्धा चैतन्य के द्वारा ही होती है; राग के द्वारा या पर के द्वारा नहीं होती।

बाह्य-क्रियाओं के आश्रय से कषाय की मन्दता नहीं होती और कषाय की मन्दता से पर्याय की स्वतन्त्रता की श्रद्धा नहीं होती।

दयादि के परिणामों का पुरुषार्थ तो करते हैं, किन्तु वर्तमान पर्याय स्वतन्त्र है —ऐसी व्यवहारश्रद्धा का उपाय उससे भिन्न प्रकार का है। परजीव के कारण या परद्रव्यों के कारण मेरे दयादिरूप परिणाम हुए हैं अथवा कर्म के कारण रागादि हुए - ऐसी मान्यतापूर्वक कषाय की मन्दता करे, किन्तु उस मन्दकषाय में व्यवहारश्रद्धा करने की शक्ति नहीं है तो फिर उससे सम्यग्दर्शन तो हो ही कैसे सकता है?

पर के कारण मेरे परिणाम नहीं होते; मैं अपने से ही कषाय की

www.vitragvani.com

मन्दता करता हूँ। पर के कारण या कर्म के कारण मेरी पर्याय में रागादि नहीं होते-ऐसी पर्याय की स्वतन्त्रता की श्रद्धा, वह व्यवहार श्रद्धा है। मिथ्यात्व के रस को मन्द करके पर्याय की स्वतन्त्रता की श्रद्धा करने की जिसकी शक्ति नहीं है, उस जीव के सम्यग्दर्शन नहीं होता। यदि इस समय पर्याय की स्वतन्त्रता माने तो मिथ्यात्व मन्द होता है और उसको व्यवहार-सम्यक्त्व कहते हैं। मात्र कषाय की मन्दता के द्वारा मिथ्यात्व की मन्दता हो, उसे व्यवहार-सम्यक्त्व नहीं कहते, क्योंकि श्रद्धा और चारित्र की पर्याय भिन्न-भिन्न है।

जो जीव, जड़ की क्रिया अथवा कर्म के कारण आत्मा के परिणाम मानते हैं, उन्होंने परिणामों की स्वतन्त्रता भी नहीं मानी है। यदि वे शुभभाव करें तो भी उनके मिथ्यात्व की मन्दता यथार्थ रीति से नहीं होती और वे द्रव्यलिङ्गी से भी छोटे हैं। जिनके अशुभपरिणाम होते हैं, ऐसे जीवों की अभी बात नहीं है, किन्तु यहाँ तो मन्दकषायवाले जीवों की बात है। जो जीव अपने परिणामों की स्वतन्त्रता को नहीं जानते, उनके मन्दकषाय होने पर भी, व्यवहारश्रद्धा तक नहीं होती।

जो जीव, पर्याय की स्वतन्त्रता मानते हुए भी, पर्यायबुद्धि में अटके हैं, वे जीव भी मिथ्यादृष्टि हैं।

जो अंश स्वतन्त्र हैं, ऐसी व्यवहारश्रद्धा करने की शक्ति कषाय की मन्दता में नहीं है। मैं अपने परिणामों में अटका हूँ, इसी से विकार होता है — ऐसी अंश की स्वतन्त्रता माने तो स्वयं उसका निषेध करे, किन्तु यदि ऐसा माने कि पर विकार कराता है, तो स्वयं कैसे उसका निषेध कर सकता है? **निमित्त या संयोग से मेरे**

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com

परिणाम नहीं होते - इस प्रकार अंश की स्वतन्त्रता स्वीकार करके त्रिकाल स्वभाव में उस अंश का निषेध करना ही निश्चय श्रद्धा/सम्यग्दर्शन है।

कषाय की मन्दता वह उस समय की पर्याय का स्वतन्त्र कार्य है, तथापि जो जीव, देव-शास्त्र-गुरु से लाभ और कर्म से हानि मानते हैं, उनके व्यवहारश्रद्धा भी नहीं है, तब वे अंश का निषेध करके त्रिकाली स्वभाव की श्रद्धा क्यों करेंगे? कषाय की मन्दता तो अभव्य भी अनन्त बार करते हैं। पर्याय स्वतन्त्र है - ऐसी अंश की स्वतन्त्रता को स्वीकार किये बिना मिथ्यात्व का रस भी यथार्थरूप से मन्द नहीं होता।

प्रश्न — कषाय की मन्दता या मिथ्यात्व-रस की मन्दता -इन दोनों में से कोई भी मोक्षमार्गरूप नहीं है, तो उनमें क्या अन्तर है?

उत्तर — यहाँ दोनों के पुरुषार्थ का अन्तर बतलाना है; किन्तु पर्याय की स्वतन्त्रता स्वीकार करने से कहीं मोक्षमार्ग नहीं हो जाता। पर्याय की स्वतन्त्रता भी अनन्त बार मानी, तथापि सम्यग्दर्शन नहीं हुआ, किन्तु यहाँ व्यवहार से उन दोनों में जो अन्तर है, वह बतलाना है।

कषाय की मन्दता करने से कहीं व्यवहारश्रद्धा नहीं होती, क्योंकि व्यवहारश्रद्धा का पुरुषार्थ उससे भिन्न है। यद्यपि है तो दोनों पुण्य और दोनों मिथ्यात्व; किन्तु मिथ्यात्व के रस की अपेक्षा से उनमें अन्तर है।

जिस प्रकार कुगुरु-कुदेव-कुशास्त्र की श्रद्धा और आत्मज्ञान

बिना सुदेवादि की श्रद्धा दोनों मिथ्यात्व हैं, तथापि कुदेवादि की श्रद्धा में तीव्र मिथ्यात्व है और सुदेवादि की श्रद्धा में मन्द; इसी प्रकार यहाँ भी समझना चाहिए। दो जीव, शुभभाव करते हैं, उनमें से एक अपनी पर्याय को स्वतन्त्र नहीं मानता तथा दूसरा, शास्त्रादि के ज्ञान से पर्याय की स्वतन्त्रता मानता है, उनमें पहले जीव को व्यवहारज्ञान भी यथार्थ नहीं है, दूसरे जीव को व्यवहारज्ञान है। इस अपेक्षा से दोनों के पुरुषार्थ में अन्तर समझना चाहिए; परमार्थ से दोनों समान हैं।

पहले पर्याय को स्वतन्त्र समझे बिना कौन त्रिकाली स्वभाव की ओर उन्मुख होगा? व्यवहारश्रद्धा, मोक्षमार्ग नहीं है, किन्तु पर्याय की स्वतन्त्रता का ज्ञान, अपने शुद्ध चैतन्यस्वभाव की ओर उन्मुख होने के लिये प्रयोजनभूत है। जो वर्तमान पर्याय की स्वतन्त्रता को नहीं मानता, वह सर्व विभावों से रहित चैतन्य को कैसे मानेगा? जो राग की स्वतन्त्रता नहीं मानता, वह रागरहित स्वभाव को भी नहीं मानेगा।

यहाँ पर यह बताया है कि मात्र कषाय की मन्दता में अनेक जीव लग जाते हैं, किन्तु उन्हें व्यवहारश्रद्धा तक नहीं होती, उनके मिथ्यात्वरस की यथार्थ मन्दता नहीं होती। जो जीव, पर्याय की स्वतन्त्रता मानते हैं, उनके कषाय की मन्दता तो सहज ही होती है; किन्तु वह मोक्षमार्ग नहीं है। जब अपने स्वभाव को स्व से परिपूर्ण और सर्वविभावों से रहित माने तथा पर्याय के लक्ष्य को गौण करके ध्रुव चैतन्यस्वभाव का आश्रय ले, उस समय स्वभाव की श्रद्धा से ही सम्यग्दर्शन होता है।

आजकल के कुछ त्यागी-व्रतधारियों की व्यवहारश्रद्धा भी

www.vitragvani.com

सच्ची नहीं है। जो यह नहीं जानते कि अपने परिणाम स्वतन्त्र हैं, उनके तो दर्शनशुद्धि का व्यवहार भी यथार्थ नहीं है; मिथ्यात्व की मन्दता भी वास्तविक नहीं है। वस्तुस्वरूप ही ऐसा है, वह किसी की अपेक्षा नहीं रखता। त्यागादि के शुभपरिणामों द्वारा वस्तुस्वरूप की साधना नहीं हो सकती।

त्रैकालिक स्वभाव स्वतन्त्र है। उसका प्रत्येक अंश स्वतन्त्र है। मेरे त्रिकालस्वभाव में रागादि परिणाम नहीं हैं; इस प्रकार स्वभावदृष्टि करके पर्यायबुद्धि को छोड़ दे, तभी सम्यग्दर्शन होता है और मोक्षमार्ग भी तभी होता है। द्रव्यलिङ्गी जीव, पर्याय को तो स्वतन्त्र मानते हैं; किन्तु पर्यायबुद्धि को नहीं छोड़ते, त्रिकाली स्वभाव का आश्रय नहीं करते, इसी से उनके मिथ्यात्व रहता है। वे जीव, शास्त्र में लिखा हुआ अधिक मानते हैं, किन्तु स्व में स्थिर नहीं होते; परलक्ष्य से पर्याय की स्वतन्त्रता मानते हैं, किन्तु यथार्थतया स्वभाव में रागादि भी नहीं है — ऐसी श्रद्धा के बिना परमार्थ से अंश की स्वतन्त्रता की मान्यता भी नहीं कही जाती।

'कर्म विकार कराते हैं अथवा निमित्ताधीन होकर विकार करना पड़ता है'—इत्यादि प्रकार से जिन्होंने पर्याय को पराधीन माना है, उन जीवों ने तो उपादान-निमित्त को ही एकमेक माना है। निमित्त के कारण अपनी पर्याय न माने, किन्तु ऐसा माने कि वह स्वतन्त्र है; तथापि पर्याय में जो विकार होता है, उसे स्वरूप मानकर अटक जाये तो यह भी मिथ्यात्व है।

जो यह मानते हैं कि परद्रव्यों की क्रिया से अपने परिणाम होते हैं, उनके मन्दकषाय होने पर भी, मिथ्यात्व कर रस यथार्थतया मन्द नहीं पड़ता तथा शास्त्रज्ञान भी सच्चा नहीं होता।

www.vitragvani.com

मेरी पर्याय, परद्रव्य से नहीं होती; किन्तु स्वतन्त्र मुझसे ही होती है — इस प्रकार पर्याय की स्वतन्त्रता को माने, तब मिथ्यात्व का रस मन्द होता है और सच्चा शास्त्रज्ञान भी होता है, उसे व्यवहारश्रद्धा-ज्ञान कहते हैं, वहाँ कषाय की मन्दता होती है; किन्तु अभी पर्यायदृष्टि है, इसलिए सम्यग्दर्शन नहीं होता।

जो त्रैकालिक चैतन्यस्वभाव है, वह अंशमात्र (पर्याय जितना) नहीं है; चैतन्य तो स्वभाव से परिपूर्ण और विभाव से रहित है - ऐसी श्रद्धा ही सम्यग्दर्शन है, वही अपूर्व पुरुषार्थ एवं मोक्षमार्ग है। मन्दकषाय का पुरुषार्थ अपूर्व नहीं है, वह तो जीव ने अनन्त बार किया है; इसलिए उसे सीखना नहीं पड़ता, क्योंकि वह कोई नवीन नहीं है, किन्तु जीव ने सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान का उपाय कभी भी नहीं किया; इसलिए यही अपूर्व है और वही कल्याण का कारण है।

जीवों ने श्रद्धा और ज्ञान का व्यवहार तो अनन्त बार सुधारा है, तथापि निश्चयश्रद्धा-ज्ञान के अभाव के कारण उनका हित नहीं हुआ। अधिकांश लोग, धर्म के नाम पर बाह्य-क्रियाकाण्ड में ही अटक गये हैं, उनके तो व्यवहार श्रद्धा-ज्ञान भी यथार्थ नहीं होता; इसलिए यहाँ यथार्थ समझाया है कि व्रत, प्रतिमा अथवा दया, दानादि के शुभपरिणामों से व्यवहारश्रद्धा-ज्ञान नहीं होते, वे उसके उपाय नहीं हैं। व्यवहारश्रद्धा-ज्ञान कैसे होते हैं तथा सम्यग्दर्शन -सम्यग्ज्ञान कैसे प्रगट होते हैं? वह यहाँ पर समझाया है।

सम्यक्त्व की महिमा

श्रावक क्या करे ?

हे श्रावक ! संसार के दु:खों को क्षय करने के लिये परमा शुद्ध सम्यक्त्व को धारण करके और उसे मेरुपर्वतसमान निष्कम्प रखकर उसी को ध्यान में ध्याते रहो !......... *(—मोक्षपाहुड-८६)*

सम्यक्त्व से ही सिद्धि

अधिक क्या कहा जाये ? भूतकाल में जो महात्मा सिद्ध हुए हैं और भविष्यकाल में जो होंगे, वह सब इस सम्यक्त्व का ही माहात्म्य है —ऐसा जानो। *(—मोक्षपाहुड-८८)*

शुद्ध सम्यग्दृष्टि को धन्य है!

सिद्धिकर्ता - ऐसे सम्यक्त्व को जिसने स्वप्न में भी मलिन नहीं किया है, उस पुरुष को धन्य है, वह सुकृतार्थ है, वही वीर है और वही पण्डित है। *(—मोक्षपाहुड-८९)*

सम्यक्त्व के प्रताप से पवित्रता

श्री गणधरदेवों ने सम्यग्दर्शन-सम्पन्न चाण्डाल को भी देवसमान कहा है। भस्म में छुपी हुई अग्नि की चिनगारी की भाँति वह आत्मा, चाण्डाल देह में विद्यमान होने पर भी, सम्यग्दर्शन के प्रताप से वह पवित्र हो गया है, इससे वह देव है।

(—रत्नकरण्डश्रावकाचार-२८)

www.vitragvani.com

जीव को कल्याणकारी कौन ?

तीन काल और तीन लोक में प्राणियों को सम्यक्त्व के समान अन्य कोई श्रेयरुप नहीं है और मिथ्यादर्शन के समान अन्य कोई अहितरूप नहीं है। *(—रत्नकरण्डश्रावकाचार-३४)*

सर्वगुणों की शोभा सम्यग्दर्शन से है

जिस प्रकार नगर की शोभा दरवाजों से है, मुख की शोभा आँखों से है और वृक्ष की स्थिरता मूल से है; उसी प्रकार ज्ञान, चारित्र, तप और वीर्य की शोभा सम्यग्दर्शन से है।

(—भगवती आराधना, पृष्ठ-७४०)

शान्तभाव, ज्ञान, चारित्र और तप - ये सब यदि सम्यग्दर्शन - रहित हों तो पुरुष को पत्थर की भाँति बोझसमान हैं; यदि उनके साथ सम्यग्दर्शन हो तो वे महामणिसमान पूज्य हैं।

(—आत्मानुशासन-१५)

लक्ष चौरासी योनि में, भटका काल अनन्त।
पर सम्यक्त्व तू नहिं लहा, सो जानो निर्भान्त॥

(—योगसार-२५)

यह जीव अनादि काल से चौरासी लाख योनियों में भटक रहा है, परन्तु वह कभी सम्यक्त्व को प्राप्त नहीं हुआ - ऐसा हे जीव! तू निःसन्देह जान!

चार गति दुःख से डरे, तो तज सब परभाव।
शुद्धात्म चिन्तन करि, लो शिव सुख का भाव॥

(—योगसार-५)

हे जीव! यदि तू चार गति के भ्रमण से डरता हो तो परभावों का

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com

त्याग कर, और निर्मल आत्मा का ध्यान कर, जिससे तुझे शिवसुख की प्राप्ति हो।

निज रूप के जो अज्ञ जन, करे पुण्य बस पुण्य।
तदपि भ्रमत संसार में, शिव सुख से हो शून्य॥

(—योगसार-१५)

हे जीव! यदि तू आत्मा को न जाने और मात्र पुण्य-पुण्य ही करता रहेगा तो भी तू सिद्धिसुख को प्राप्त नहीं कर सकेगा; किन्तु पुनः-पुनः संसार में परिभ्रमण करेगा।

निज दर्शन ही श्रेष्ठ है, अन्य न किञ्चित् मान।
हे योगी! शिव हेतु अब, निश्चय तू यह जान॥

(—योगसार-१६)

हे योगी! एक परम आत्मदर्शन ही मोक्ष का कारण है, इसके अतिरिक्त अन्य कोई भी मोक्ष का कारण नहीं है - ऐसा तू निश्चय से समझ।

गृहकार्य करते हुए, हेयाहेय का ज्ञान।
ध्यावे सदा जिनेश पद, शीघ्र लहे निर्वाण॥

(—योगसार-१८)

गृह-व्यवहार में रहने पर भी, जो भव्य जीव, हेय-उपादेय को समझता है और जिन भगवान को निरन्तर ध्याता है, वह शीघ्र निर्वाण को प्राप्त होता है।

जिनवर अरु शुद्धातम में, भेद न किञ्चित् जान।
मोक्षार्थ हे योगिजन! निश्चय से तू यह मान॥

(—योगसार-२०)

www.vitragvani.com

मोक्ष प्राप्त करने के लिए, हे योगी! शुद्धात्मा और जिन भगवान में किञ्चित् भी भेद न समझो -इस प्रकार निश्चय से मानो।

जब तक एक न जानता, परम पुनीत स्वभाव।
व्रत-तप सब अज्ञानी के, शिव हेतु न कहाय॥

(—योगसार-२९)

जब तक एक परम शुद्ध पवित्रभाव का ज्ञान नहीं होता, तब तक मूढ़ लोगों को जो व्रत, तप, संयम और मूलगुण हैं, वे मोक्ष के कारण नहीं कहलाते।

धन्य अहो! भगवन्त बुध, जो त्यागे परभाव।
लोकालोक प्रकाश कर, जाने विमल स्वभाव॥
विरला जाने तत्त्व को, श्रवण करे अरु कोई।
विरला ध्यावे तत्त्व को, विरला धारे कोई॥

(—योगसार ६४, ६६)

अहो! उन भगवान ज्ञानियों को धन्य है कि जो परभाव का त्याग करते हैं और लोकालोक-प्रकाशक-ऐसे आत्मा को जानते हैं। विरले ज्ञानीजन ही तत्त्व को जानते हैं, विरले जीव ही तत्त्व का श्रवण करते हैं, विरले जीव ही तत्त्व का ध्यान करते हैं और विरले जीव ही तत्त्व को अन्तर में धारण करते हैं।

सम्यग्दृष्टि जीव का, दुर्गति गमन न होय।
यद्यपि जाय तो दोष नहिं, पूर्व कर्म क्षय होय॥

(—योगसार-८८)

सम्यग्दृष्टि जीव, दुर्गति में नहीं जाते। (पूर्वबद्ध आयु के कारण) कदाचित् जायें; तथापि वह उनके सम्यक्त्व का दोष नहीं है, परन्तु उलटा पूर्वकर्मों का क्षय ही करते हैं।

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

रमें जो आत्मस्वरूप में, तजकर सब व्यवहार।
सम्यग्दृष्टि जीव वह, शीघ्र होय भवपार॥

(—योगसार-८९)

जो सर्व व्यवहार को छोड़कर, आत्मस्वरूप में रमणता करते हैं, वे सम्यग्दृष्टि जीव हैं और वे शीघ्र ही संसार-सागर से पार हो जाते हैं।

सिद्ध हुये अरु होंयगे, हैं अब भी भगवन्त।
आतम दर्शन से हि यह, जानो होय निःशङ्क॥

(—योगसार-१०७)

जो सिद्ध हो गये हैं, भविष्य में होंगे और वर्तमान में हो रहे हैं — वे सब निश्चय से आत्मदर्शन (सम्यग्दर्शन) द्वारा ही सिद्ध होते हैं — ऐसा निःशङ्कतया जानो।

श्री जिनेन्द्र देव-कथित मुक्तिमार्ग

सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्र-इन तीन स्वरूप मोक्षमार्ग है; उसी से संवर-निर्जरारूप क्रिया होती है।

(—तत्त्वानुशासन गाथा ८, २४)

सर्व दुःखों की परम-औषधि

जो प्राणी कषाय के आताप से तप्त हैं, इन्द्रियविषयरूपी योग से मूर्च्छित हैं और इष्ट-वियोग तथा अनिष्ट-संयोग से खेद-खिन्न हैं - उन सबके लिये सम्यक्त्व परम हितकारी औषधि है।

(—सारसमुच्चय-३८)

सम्यक्त्वी सर्वत्र सुखी

सम्यग्दर्शनसहित जीव का नरकवास भी श्रेष्ठ है, परन्तु

सम्यग्दर्शनरहित जीव का स्वर्ग में रहना भी शोभा नहीं देता, क्योंकि आत्मस्वभाव बिना स्वर्ग में भी वह दुःखी है। जहाँ आत्मज्ञान है, वहीं सच्चा सुख है। *(—सारसमुच्चय -३९)*

निर्वाण और परिभ्रमण

जो जीव, सम्यग्दर्शन से युक्त है, उस जीव को निश्चित ही निर्वाण का संगम होता है और मिथ्यादृष्टि जीव को सदैव संसार में परिभ्रमण होता है। *(—सारसमुच्चय -४१)*

कौन भवदुःख का नाश करता है ?

सम्यक्त्वभाव की शुद्धि द्वारा जो जीव, विषयों के सङ्ग से रहित है और कषायों का विजयी है, वही जीव, भवभय के दुःखों को नष्ट कर देता है। *(—सारसमुच्चय -५०)*

तीन लोक का सार

केवल एक आत्मा ही सम्यग्दर्शन है, इसके अतिरिक्त अन्य सब व्यवहार है; इसलिये हे योगी! एक आत्मा ही ध्यान करनेयोग्य है, वही तीन लोक में सारभूत है। *(—परमात्मप्रकाश-१-१६)*

सम्यक्त्व की दुर्लभता

काल अनादि है, जीव भी अनादि है और भव-समुद्र भी अनादि है, परन्तु अनादि काल से भव-समुद्र में गोते खाते हुए, इस जीव ने दो वस्तुएँ कभी प्राप्त नहीं की - एक तो श्री जिनवरस्वामी और दूसरा सम्यक्त्व। *(—परमात्मप्रकाश-२-१४३)*

ज्ञान-चारित्र की शोभा सम्यक्त्व से ही है

विशेष ज्ञान या चारित्र न हो, तथापि यदि अकेला सम्यग्दर्शन

www.vitragvani.com

ही हो तो भी वह प्रशंसनीय है, परन्तु मिथ्यादर्शनरूपी विष से दूषित हुआ ज्ञान या चारित्र प्रशंसनीय नहीं है।

(—ज्ञानार्णव अ. ६, गाथा-५५)

भवक्लेश हलका करने की औषधि

सूत्रज्ञ आचार्यदेवों ने कहा है कि अति अल्प यम-नियम-तपादि हों, तथापि यदि वे सम्यग्दर्शनसहित हों तो भव-समुद्र के क्लेश का भार हलका करने के लिये वह औषधि है।

(—ज्ञानार्णव अ. ६, गाथा-५६)

सम्यग्दृष्टि मुक्त है

श्री आचार्यदेव कहते हैं - जिसे दर्शन की विशुद्धि हो गयी है, वह पवित्र आत्मा मुक्त ही है - ऐसा हम मानते हैं; क्योंकि दर्शनशुद्धि को ही मोक्ष का मुख्य कारण कहा गया है।

(—ज्ञानार्णव अ. ६, गाथा-५७)

सम्यग्दर्शन के बिना मुक्ति नहीं है

जो ज्ञान और चारित्र के पालन में प्रसिद्ध हुए हैं, ऐसे जीव भी इस जगत में सम्यग्दर्शन के बिना मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकते।

(—ज्ञानार्णव अ. ६, गाथा-५८)

भेदविज्ञान से ही सिद्धि

यह अपना शुद्ध चैतन्यस्वभाव, भेदज्ञान के बिना कभी कहीं कोई भी तपस्वी या शास्त्रज्ञ प्राप्त नहीं कर सके हैं। भेदज्ञान से ही शुद्ध चैतन्यस्वभाव की प्राप्ति होती है। *(—तत्त्वज्ञानतरंगिणी-८-११)*

भेदविज्ञान से कर्म-क्षय

जिस प्रकार अग्नि, घास के ढ़ेर को क्षणमात्र में सुलगा देती है;

उसी प्रकार भेदविज्ञानी महात्मा, चैतन्यस्वरूप के प्रतिघातक ऐसे कर्मों के समूह को क्षणमात्र में नष्ट कर डालते हैं।

(—तत्त्वज्ञानतरंगिणी-८-१२)

मोक्ष का कारण-भेदविज्ञान

संवर तथा निर्जरा साक्षात् अपने आत्मा के ज्ञान से होते हैं और आत्मज्ञान, भेदज्ञान से होता है; इसलिए मोक्षार्थी को वह भेदज्ञान की भावना करने योग्य है। *(—तत्त्वज्ञानतरंगिणी-८-१४)*

सम्यग्दर्शन

स्वकीय शुद्ध चिद्रूप में रुचि, वह निश्चय से सम्यग्दर्शन है- ऐसा तत्त्वज्ञानियों ने कहा है। यह सम्यग्दर्शन, कर्मोंरूपी ईंधन सुलगाने के लिये अग्नि-समान है। *(—तत्त्वज्ञानतरंगिणी-१२-८)*

सम्यक्त्व का प्रभाव

(पशु और मानव)

नरत्वेऽपि पशुयन्ते मिथ्यात्वग्रस्तचेतः स।
पशुत्वेऽपि नरायन्ते सम्यक्त्वव्यक्तचेतनाः॥

(—सागारधर्मामृत-गाथा ४)

जिसका चित्त, मिथ्यात्व से व्याप्त है - ऐसा मिथ्यादृष्टि जीव, मनुष्यत्व होने पर भी पशुसमान अविवेकी आचरण करता होने से पशुसमान है और सम्यक्त्व द्वारा जिसकी चैतन्य-सम्पत्ति व्यक्त हो गयी है, ऐसा सम्यग्दृष्टि जीव, पशुत्व होने पर भी मनुष्यसमान विवेकी आचरण करता होने से मनुष्य है।

भावार्थ — तत्त्वों के विपरीतश्रद्धानरूप मिथ्यात्वसहित जीव भले ही बाह्य-शरीर से मनुष्य हो, तथापि अन्तर में वह हित

-अहित के विवेक से रहित होने के कारण भाव से तो पशु है और जिसे तत्त्वार्थश्रद्धानरूप सम्यक्तव द्वारा चैतन्य की स्वानुभूति सम्पत्ति प्रगट हो गयी है, ऐसा जीव भले ही बाह्य-शरीर से पशु हो, तथापि अन्तर में हित-अहित का विचार करने में चतुर होने से मनुष्यसमान है।

देखो, सम्यक्त्व के सद्भाव से पशु भी मानव कहलाते हैं और उसके अभाव से मानव भी पशु कहलाते हैं - ऐसा सम्यक्त्व का प्रभाव है। यद्यपि समस्त जीवों की अपेक्षा से मनुष्य सबसे अधिक विचारवान माना जाता है, परन्तु उसका ज्ञान भी यदि मिथ्यात्वसहित हो तो वह हित-अहित का विचार नहीं कर सकता; इसलिए मिथ्यात्व के प्रभाव से वह मनुष्य भी विवेकरहित पशुसमान हो जाता है, तब फिर दूसरे प्राणियो की तो बात ही क्या की जाये?

पशु मुख्यत: तो हित-अहित के विवेकरहित ही होते हैं, परन्तु कदाचित् किसी पशु का आत्मा भी यदि सम्यक्त्वसहित हो तो उसका ज्ञान, हेय-उपादेय तत्त्वों का ज्ञाता हो जाता है, तब फिर जो सम्यक्त्वसहित मनुष्य हो तो उसकी महिमा की तो बात ही क्या की जाये? **—ऐसा महिमावन्त सम्यग्दर्शन आत्मा का स्वभाव है।**

परम पुरुषपद, वह मोक्ष है। ऐसे परम पुरुषपद की प्राप्ति के उपाय में जिसका आत्मा विचर रहा है, वही वास्तव में पुरुष है। सम्यग्दृष्टि पशु का आत्मा, परम पुरुषपदरुप मोक्ष के मार्ग में स्थित होने से वह पुरुष है और मिथ्यादृष्टि मानव का आत्मा परम पुरुषपद के मार्ग में स्थित न होने से वह पुरुष नहीं, किन्तु पशु है।